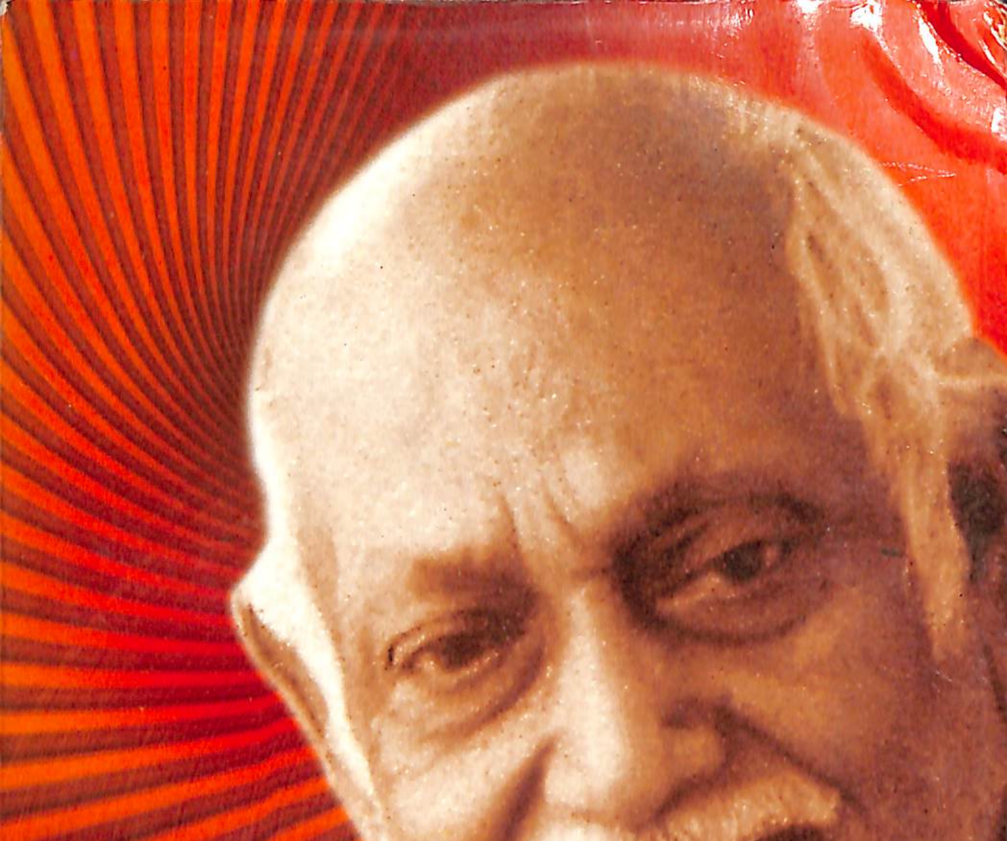

सनातन-साधना की गुप्तधारा

म. म. पं. गोपीनाथ कविराज

सनातन-साधना की गुप्तधारा

म० म० पं गोपीनाथ कविराज

संकलन
श्री जगदीश्वर पाल

अनुवाद
विश्वनाथ मुखर्जी

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

SANĀTANA SĀDHANĀ
KĪ
GUPTA DHĀRĀ

by

M.M. Pt. Gopinath Kaviraj

ISBN : 978-81-7124-610-6

तृतीय संस्करण : 2008 ई०

मूल्य : एक सौ बीस रुपये (Rs. 120.00)

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन
चौक, वाराणसी-221 001
फोन व फैक्स : (0542) 2413741, 2413082
E-mail : vvp@vsnl.com ● sales@vvpbooks.com
Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक
वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०
चौक, वाराणसी-221 001

प्राक्कथन

पंडित गोपीनाथ कविराज इस युग के अलौकिक प्रतिभाशाली मनीषी थे । उनका अध्ययन जितना विस्तृत था, उतनी उनकी मेधा-शक्ति प्रबल थी । जीवन के अन्तिम दिनों तक वे अध्ययन करते रहे और अपनी ज्ञान राशियाँ जिज्ञासुओं में वितरण करते रहे ।

अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त कराने के लिए उनके निकट बड़े-बड़े योगी, महापुरुष, साधक, ज्ञानी, विद्वान से लेकर सामान्य जन तक आते थे । वेद, वेदान्त, सांख्य, उपनिषद्, दर्शन, अध्यात्म, योग, पुराण आदि ग्रंथों का उद्धरण देकर वे जिज्ञासुओं की जिज्ञासा शान्त करते थे । योगियों को पातंजल योग, गोरखपंथी योग, बौद्धों का हीनयानी, महायानी योग, पाशुपत योग, शैव योग, तांत्रिक योग के बारे में कहा करते थे और साधारण जन को गुरु के महत्व की व्याख्या करते हुए कहते थे— "अचर का मतलब अचित्, चर का मतलब चित् एवं विष्णु का मतलब परमेश्वर या ईश्वर एवं तत्पद का अर्थ ब्रह्मस्वरूप है । श्रीगुरु इन चारों तत्त्वों से उच्चतर तत्त्व हैं ।" 'नास्ति तत्त्वं गुरोः परम' इस प्रसिद्ध वाक्य में भी गुरुभाव की श्रेष्ठता सूचित करती है ।

परम श्रद्धेय कविराजजी का यह ग्रंथ उनके अन्य ग्रंथों से भिन्न है । वस्तुतः इस ग्रंथ में जिज्ञासुओं द्वारा पूछे गये महत्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर व्याख्या के साथ दिये गये हैं । अन्य ग्रंथों में प्रतिपाद्य विषयों पर व्यापक रूप से चर्चा है, फिर भी जिज्ञासुओं के मन में अपनी निजी जिज्ञासाएँ रहती हैं, उनका निरसन कविराज ने पत्रों के माध्यम से तथा मौखिक रूप से किया है । इस संकलन में उन्हीं पत्रों तथा उत्तरों का संग्रह किया गया है । जिन लोगों को उनके निकट बैठकर इन प्रवचनों को सुनने का अवसर मिला है, उन्हें उसका आस्वाद मिला है और वे तृप्त हुए हैं ।

इस संकलन में श्रद्धेय कविराजजी ने नादानुसंधान के सम्बन्ध में जैसी चर्चा की है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । इसी प्रकार जप-विज्ञान, गुरुशक्ति, चित्शक्ति, चिदाकाश, समाधि आदि विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रकट किये हैं तो ब्रह्मदर्शन, आत्मदर्शन, भंगवत् दर्शन की व्याख्या की है ।

कविराजजी की प्रतिभा पर विस्मय इसलिए होता है कि तंत्र, अध्यात्म, योग दर्शन के एक विद्वान ने विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य ग्रंथ की जिस ढंग से आलोचना की है, वह अद्भुत है । रवीन्द्र-साहित्य के आलोचकों की कमी नहीं है, 'वलाका' ग्रंथ में कवि की कैसी भावना थी और किस दृष्टि से इसकी रचना हुई है, इसका सर्वप्रथम उद्घाटन श्रद्धेय कविराज ने किया है । लेख के प्रारंभ में जिस

भाषा का प्रयोग किया गया है, जैसी शैली है, वह अनेक साहित्यकारों की कलम से प्रकट नहीं होती । साहित्य की यह छटा केवल रवि बाबू की रचनाओं में दिखाई देती है । यद्यपि कविराजजी ने अन्त में इस आलोचना को अध्यात्म का रूप दिया है, फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रचना अपूर्व है ।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में सर्वापेक्षा उत्साही आदरणीय श्री जगदीश्वर पाल हैं जिनकी सहायता के बिना यह संकलन तैयार न होता । इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं । मुझे विश्वास है अध्यात्म, तंत्र, योग, समाधि, विभूति आदि के बारे में जिन लोगों को उत्सुकता रहती है, उन्हें इस ग्रंथ से सहायता प्राप्त होगी ।

विश्वनाथ मुखर्जी

विषय-सूची

नाद १
नाद-विन्दु ५
नाद-ध्वनि (१) ६
नाद-ध्वनि (२) १०
महानाद १४
काल और क्षण १६
जप (१) २०
जप (२) २२
जप-रहस्य (१) २४
जप-रहस्य (२) २७
कृत्रिम-अकृत्रिम वैन्दव देह २६
त्याग और भोग ३१
परमतत्त्व की अनुभूति ३३
भगवत्-प्राप्ति ३७
प्रकृति-धर्म ३८
हृदयाकाश ४१
ब्रह्मभाव ४३
ब्रह्म-दर्शन ४५
पुरुषोत्तम भाव ४७
भाव ४८
भोग्य वस्तु ५१
शब्द ब्रह्म ५४
नित्यलीला ५६
मानस-वृन्दावन ६०
काल तत्त्व ६१
चिदाकाश ६२
परमपद ६६
कर्त्ता और कर्म ६७
आत्मदर्शन ६८
चार प्रश्नों के उत्तर ७१
चित्शक्ति ७३
सद्‌गुरु ७४
गुरु-महात्म्य ७५
विन्दु-दर्शन का रहस्य ७७

साधना ८०
विन्दु ८०
पूर्णमिदं ८१
द्रष्टा-रूप ८४
आत्मदर्शन ८६
चैतन्यावस्था ८८
विरह ९१
पराशक्ति ९२
चित्तशुद्धि ९९
आत्मज्ञान १००
प्रकाश और ज्योति १०२
स्तम्भवृत्ति १०५
वाच्य और वाचक १०८
कर्मकाण्ड ११०
सविकल्प-निर्विकल्प १११
आत्मोन्नति ११२
जन्म-जन्मान्तर ११२
अमर देह ११६
जीवोद्धार ११८
प्रेम १२२
संभोगकाय १२३
सात प्रश्नों के उत्तर १२४
योगी की परीक्षा १२६
इष्टदेवी के रूप १३६
ज्ञान और अज्ञान १३८
समाधि १४१
अध्यात्म का विकास १४५
गायत्री १४७
तीन जन्मों का विचार १५०
आत्मा का पूर्ण जागरण और उसकी परिणति १५२
आध्यात्मिक उत्कर्ष का क्रम-विकास १६४
जीव का आविर्भाव और पूर्णत्व लाभ—एक दृष्टि १६७
मानस-पूजा १८०
रवीन्द्रनाथ की वलाका १८८
सनातन-साधना की गुप्तधारा १९८
फुटकर २०१

■

नाद

नाद का कुछ-कुछ आभास मिल रहा है, पर यह आभास मात्र है, वास्तविक नाद प्रस्फुटित नहीं हुआ है । नाद के प्रवाह से विशुद्ध सृष्टि की सूचना प्राप्त होती है । विशुद्ध सृष्टि का सहारा लेकर ही आध्यात्मिक साधना सफलता प्राप्त करती है । अगर मलिन-सत्ता शुद्ध है तो शुद्ध-सत्ता में जब चैतन्य की उज्वल ज्योति को प्रतिफलित होते देखा जाता है तब महाचैतन्य की ओर स्वाभाविक आकर्षण उपलब्ध होता है । महाचैतन्य की अतीत स्थिति भी है ।

लेकिन इस पर अभी विचार करने की आवश्यकता नहीं है । इस वक्त तो नाद का संधान चाहिए । नाद अविच्छिन्न है, उसका विराम नहीं है, इसीलिए बीच-बीच में योगसूत्र टूट जाता है ।

मन विक्षिप्त रहने तक नाद नहीं मिलता, एकाग्र होने पर भी नाद नहीं मिलता । विक्षिप्त से एकाग्र भूमि में क्रमशः संचरण ही नाद-साधना है । नाद तरंग के रूप में प्रवाहित होता है—चिदाकाश अथवा कुण्डलिनी से इसका प्रवाह उत्थित होता है। कुण्डलिनी ही विन्दुस्वरूपा महामाया है । भगवान् की कृपा-शक्ति अर्थात् चित्शक्ति महामाया में पतित होने पर महामाया विक्षुब्ध होकर नादरूप में परिणत हो जाती है । नाद की अभिव्यक्ति का मूल, चिदाकाश में चित्शक्ति का आघात है । इसे महाकृपा के नाम से समझना चाहिए । किन्तु नाद के अभिव्यक्त होने पर भी जबतक उसमें मन युक्त न हो तबतक वह श्रुतिगोचर नहीं होता । क्रियाकौशल या प्रबल इच्छा-शक्ति के द्वारा मन को अगर अन्तर्मुख कर लिया जाय तो नाद का श्रवण होता है । तब नाद ही क्रमशः मन को आकर्षित करता रहता है । जिस अनुपात के हिसाब से नाद में आकृष्ट होता रहता है, उसी अनुपात में मन एकाग्रता प्राप्त करता है । चिदाकाश से नाद की उत्पत्ति होती है और चिदाकाश में ही लीन हो जाता है । वापस लौटते वक्त मन को खींच ले जाता है । विन्दु ही चिदाकाश है । मन जब वहाँ पहुँच जाता है तब उसकी चंचलता नहीं रहती— विन्दु में स्थिति प्राप्त कर लेता है । यही है— एकाग्रता । इस अवस्था में मन का लय नहीं होता— यह चैतन्यावस्था है । इसे प्रज्ञा कहा गया है । यही मन की जाग्रतावस्था है ।

नाद का आश्रय पाये बिना मन विन्दु में स्थिति प्राप्त नहीं कर पाता । करने पर भी वह स्थिति चैतन्य रूप न होकर सुषुप्ति का नामान्तर हो जाता है, मन को विन्दुरूपी केन्द्र स्थान में जाने के लिए एक रास्ते को पकड़कर जाना पड़ता है— यही है नाड़ीपथ । विन्दु से असंख्य रश्मियाँ निकल रही हैं, इनमें से जिसका मन के साथ संयोग हो जाता है, वही मन का स्वकीय मार्ग है । इस मार्ग के सहारे मन

उजान में बहता रहता है, शब्द की निवृत्ति धारा के सहारे विन्दु की ओर बढ़ता रहता है ।

व्यक्ति विशेष का मन नाद का आश्रय लिये बिना चेतन रूप से विन्दु में अवस्थान कर सकता है । किन्तु ऐसे व्यक्ति अत्यन्त विरल हैं । इसका कारण यह है कि चित्शक्ति प्रत्यक्ष रूप से माया में पतित नहीं होती । महामाया से प्रतिफलित होकर माया में ही पतित हो जाती है । उस वक्त माया में क्षोभ उत्पन्न होता है । महाकाश से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह भेदज्ञान का कारण और बन्धन है । यही विकल्प जाल है । मातृका चित्ररूप में यह वर्णमाला अनन्त विकल्पमयी वृत्तियों का आकार धारण कर जीव को बद्ध करता रहता है । इस मायाजाल से मुक्ति पाने के लिए शुद्ध नादमय शब्द का सहारा लेना पड़ता है । नादमय शब्द ही मंत्र है । यही अभेदज्ञान उत्पन्न करके अशुद्ध वर्णात्मक शब्दों के जाल को तोड़ देता है ।

इससे स्पष्ट है कि चैतन्य का अवलम्बन बिना किये मन को निरोध करने की चेष्टा तमोभाव और जड़त्व का आवाहन करना मात्र है ।

नाद का विस्तार कितना व्यापक है, इसे समझने का प्रयत्न न करें—करने पर भी नहीं जाना जा सकता । क्योंकि जिस जगह आपके मन के साथ नाद का योग है, उसे आप नाद की सीमा समझें । यहीं से प्रत्यावर्तन या वापस लौटने की बारी है । प्रत्येक को इस नियम की जानकारी रहनी चाहिए । जो नाद सृष्टि की धारा में बहिर्मुख होकर प्रवहनशील है, वह अज्ञात होने के कारण सृष्टि की मूल अज्ञानधारा है । इसीलिए सृष्टि की धारा अज्ञान की धारा है । उस वक्त मन घोर निद्रा में स्वप्न देखता रहता है । किन्तु जब इस धारा के साथ मन युक्त हो जाता है तब अज्ञानधारा ज्ञान-प्रवाह में पर्यवसित हो जाती है । उस समय उस स्थान से ज्ञान की धारा नाद रूप में चलती रहती है और क्रमशः क्षीण होते-होते विन्दु को स्पर्श करती हुई अशब्द के रूप में परिणत हो जाती है । यही है चैतन्य का उन्मेष । वस्तुतः वह अशब्द अवस्था नहीं है, किन्तु मन के एकाग्र हो जाने के कारण अर्थात् प्रज्ञा के उदय होने पर वह अशब्द रूप में साधारण ज्ञान में प्रतिभात होता है । वास्तव में इसे महाशब्द भी कहा जा सकता है ।

जिस प्रकार चित्शक्ति जबतक विन्दु से नहीं मिलती तबतक नाद की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार जबतक नाद विन्दु में प्रत्याहृत नहीं होता तबतक चित्शक्ति नहीं मिलती । विन्दु में मन प्रतिष्ठित होने के साथ-साथ विन्दु का क्षोभ समाप्त हो जाता है तब मन चित्शक्ति में स्थिति प्राप्त करता है । चित्शक्ति ही चित्कला या कला है । मन कलात्मक होकर कलातीत आत्मस्वरूप में बिना भेद के अवस्थान करता है । नाद-विन्दु-कला का यही रहस्य है ।

मन ही साधना का यंत्र रूप है । इसके द्वारा इष्ट सिद्धि करनी पड़ती है । जबतक ऐसा नहीं होता, जबतक जीव स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर लेता तबतक इसकी आवश्यकता है । कर्म, ज्ञान, भक्ति—प्रत्येक कार्य में मन की आवश्यकता है ।

पहले से ही मन का निरोध नहीं करना चाहिए । करने पर उससे सुफल प्रसव नहीं होगा ।

फलतः कृत्रिम उपाय से मन को लीन करने पर क्षतिग्रस्त होना पड़ता है । मन का परिहार करने का प्रयत्न करते हुए अगर शुद्ध कर लिया जाय तो समझ में आ जाता है कि साधक के आध्यात्मिक जीवन में मन किस तरह से सहायता कर सकता है । अवशीभूत, मलिन मन ही साधक का रिपु है, स्वायत्त और निर्मल मन उसका परम मित्र स्वरूप है ।

मन सदा चंचल, सदा अस्थिर, सदा भ्रमणशील रहता है । इसका कारण यह है कि मन सर्वदा एक अभाव अनुभव करता है; एक अस्पष्ट, पर विपुल अतृप्ति उसे शान्त नहीं रहने देती । मन चाहता है ज्ञान, ऐश्वर्य और आनन्द—यही मन का काम्य है । इसे न पाने की वजह से मन निरन्तर हाहाकार करता है । मन की भूख को निवृत्त कर देने पर मन की चंचलता हमेशा के लिए शान्त हो जायगी ।

मन जो चाहता है, वह है कहाँ ? उसका स्वरूप कैसा है ? कैसे वह उपलब्ध हो सकेगा ? इन प्रश्नों का उत्तर यों है—मन आत्मा को चाहता है, आत्मा ही मन का मित्र है, यथार्थ ऐश्वर्य, परमानन्द, उसका सर्वस्व । उसे खोकर मन पुनः उसे पाने के लिए ज्ञात और अज्ञात रूप में विरहानल में जल रहा है । एकमात्र उसी को मन खोज रहा है—संसार की सभी वस्तुओं के कण-कण में उसे पाने का प्रयत्न कर रहा है । लेकिन कोई फल नहीं मिल रहा है । जबकि वह वस्तु उसके बहुत पास है । मन आत्मा को ही चाहता है और आत्मा मन के बिल्कुल पास है, फिर भी मन उसे पहचान नहीं पा रहा है । उसका प्रधान कारण यह है कि मन बहिर्मुख होने के कारण आत्मा की ओर से विमुख है ।

फलतः मन को अन्तर्मुख करना ही साधना का उद्देश्य है ।

जिस बहिर्मुखी शक्ति के प्रवाह में पतित होकर मन बाहर की ओर गतिशील है, वह प्रकृति की शक्ति है । दूसरी ओर जिस अन्तर्मुखी शक्ति के प्रवाह से पतित होने पर मन अन्तर्मुख हो सकता है, वह भी प्रकृति की शक्ति है । दोनों शक्तियाँ मूलतः एक ही शक्ति हैं । यही है—शब्दशक्ति ।

शब्द की शक्ति से मन बहिर्मुख होने के कारण अव्यवधान में विद्यमान अपने प्रभु के बारे में वह विस्मृत हो गया है । बाद में इसी शब्दशक्ति का सहारा लेकर मन पुनः अन्तर्मुख होकर आत्मलाभ करेगा और तब परम आनन्द तथा शान्ति प्राप्त करेगा ।

यहाँ प्रश्न उठता है कि शब्द का स्वरूप एक होते हुए उसकी शक्ति भिन्न-भिन्न क्यों होती है ? शब्द स्वरूपतः एक जरूर है, किन्तु उसका मौलिक रूप माया के आवरण में लगभग तिरोहित है । शब्द चैतन्यस्वरूप है, अखण्ड निनाद के रूप में उसका आत्मप्रकाश होता है । विशुद्ध व्योमतत्त्व में स्वभावतः ऐसा हो जाता है । किन्तु माया के स्पर्श से व्योम के कलंकित होने पर उसमें क्षोभ के कारण वायु का

उद्भव होता है । वायु वक्र गति विशिष्ट है । तब उक्त वक्र और कुटिल गति के प्रभाव से सरल निनाद खण्ड-खण्ड होकर विभिन्न वर्णों में अभिव्यक्त होता है । यही वर्णमाला वायु की लीला है—इसी में से विशुद्ध चैतन्य प्रवाह के द्वारा नाना वृत्तियों का उद्गम होता है । ये सब मन को आबद्ध करते हैं तथा विक्षिप्त करते हैं । मन आत्म-विस्मृत होकर इन असंख्य प्रकार के विक्षेपों से क्रीड़ा पुत्तलिका रूप में परिणत हो जाता है; फिर उसकी आत्मवशता नहीं रहती । अगर पुनः शुद्ध चैतन्य प्रवाह में प्रवाहित किया जा सके तो उसकी आत्मस्मृति प्रकट हो सकती है—वह सुप्ति से जाग्रत हो जायगा । शुद्ध नादधारा ही निर्मल चैतन्य के देहाश्रित प्रकाश है । विशुद्ध व्योम में यह प्रवाह निरन्तर चल रहा है । इसलिए यह अवलम्बन की वस्तु है । अशुद्ध शब्दधारा के भी अन्तराल में यह विशुद्ध धारा है । एक बार शुद्ध नाद का आश्रय पाने तथा उसे बराबर पकड़े रहने पर मन की मलिनता दूर हो जाती है । उस वक्त फिर वर्णमाला द्वारा विरचित उक्त विकल्प के जाल में उलझता नहीं । सर्वदा विकल्पहीन शुद्ध चैतन्य की धारा में प्रवाहित होता रहता है ।

इसीलिए मन को हृदय में लेकर उक्त शुद्ध प्रकृति स्रोत में डाल देना चाहिए । शब्द—ज्योतिः—रूप, यही स्वाभाविक क्रम है । नाद साधना के अखण्ड अभ्यास के फलस्वरूप अनुभूति की एक ऐसी अवस्था आती है जब समझ में आता है कि उक्त नाद या शब्द अपने हृदय में आबद्ध नहीं है, वह स्वीय हृदय से आरम्भ होकर सम्पूर्ण जगत् के क्षुद्रतम से लेकर वृहत्तम तक प्रत्येक वस्तु में, समभाव में व्याप्त है । यह केवल विचारमूलक बोध नहीं है—इसे प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया जा सकता है । यही नाद सिद्धि के लक्षण हैं । इसके बाद इस नाद में डुबकी लगाने पर अन्तःस्थ विशाल ज्योतिः का अनुभव होता है । नाद को आयत्त किये बिना इस महाज्योति में प्रवेश नहीं किया जा सकता । जबकि हम सब, जगत् की सभी वस्तुएँ, इस सर्वव्यापक महाज्योति में ही रहते हैं, फिर भी हम लोगों का चित्त बाह्यप्रवण होने के कारण नाद का संधान न पाने तथा शब्दभेद करने का कौशल की जानकारी न होने से इसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर पाते ।

ये दोनों उपलब्धियाँ ध्यान के विशेष परिपक्व फल हैं । वास्तव में शब्द और ज्योति ब्रह्म के द्विविध स्वरूप हैं । साधना के द्वारा जीव के हृदय में इसकी अभिव्यक्ति होती है ।

उक्त ज्योति अरूप है । उसमें किसी प्रकार का रूप दिखाई नहीं देता । वह निज बोधरूप चैतन्य है । मन अपनी कल्पना के अनुसार उक्त महानाद या महाज्योति से रूप का निर्माण करता है । दिव्य रूप का आविर्भाव ज्योति से ही होता है तथा अदिव्य मानवीय या जागतिक वस्तु का आविर्भाव शब्द से होता है । शब्द ब्रह्म में डुबकी लगाने को साधारणतः समाधि कहते हैं । परब्रह्म या ब्रह्मज्योति में डुबकी लगाने को निर्विकल्प समाधि कहा जाता है । मगर प्रचलित समाधि से यह अलग है । मन को चेतन या जगाकर न रख सकने पर रूप का आविर्भाव सम्भव नहीं

होता । रूप तो चिन्मय है यह कहना व्यर्थ है । जबकि दिव्य और अदिव्य भेद हैं ।

इस प्रकार साधना पूर्ण होने से सृष्टिं पर अधिकार होता है । तब उन तीनों में से किसी एक पर अधिकार जमाकर डुबकी लगाने से, भगवद् अनुग्रह से धीरे-धीरे सत्य के अनुभव-द्वार खुल जाते हैं ।

अब नाद, विन्दु और कला के बारे में कुछ बातें । नाद-साधना ही शब्द-साधना है । विन्दु ही ज्योति है । कला चिद्रूपा शक्ति है, जो पूर्व वर्णित रूप का स्थानापन्न है, अतएव कलासिद्धि ही रूपसिद्धि है ।

इसके पश्चात् कलातीत ही वास्तविक सत्य है । वही अशब्द, अरूप, निष्कल और निरंजन है ।

नाद-विन्दु

विन्दु से नाद उत्थित होता है और प्रत्यावर्तन क्रम से विन्दु में ही नाद का लय होता है । यही स्वाभाविक क्रम है । इस क्रम का सहारा लेकर महायोगी-गण अपने लक्ष्य का अनुसरण करते हुए, अपने-अपने धाम अथवा परमपद में अपनी-अपनी स्थिति का निरूपण करते हैं । विन्दु में चित्शक्ति की चोट जबतक नहीं पड़ती तबतक विन्दु कम्पित नहीं होता और बिना विन्दु के कम्पित हुए शब्द का उदय होना असम्भव है । अखण्ड द्रष्टा की दृष्टि के सामने जो स्वच्छ परमाकाश विद्यमान है जब उक्त दृष्टि क्रियात्मक होकर आकाश को स्पर्श करती है तब उसके योग से आकाश स्पन्दित हो उठता है । आकाश का स्पन्दन और नाद का उत्थान एक ही बात है । यही उत्थित नाद ही अभिव्यक्त चैतन्य और द्रष्टा की दृष्टि जिस सक्रिय रूप से आकाश में पतित होता है, वही अव्यक्त चैतन्य है । अव्यक्त चैतन्य के दो भाग हैं, एक सक्रिय or Dynamic (अथवा गतिमान) और दूसरा निष्क्रिय or Static (अथवा स्थिर) । इन दोनों भागों के अन्तराल में महाइच्छा की सत्ता विद्यमान है । इच्छा के प्रभाव से निष्क्रिय शक्ति क्रिया-रूप धारण करती है । जबतक शक्ति क्रिया-रूप में आत्मप्रकाश नहीं करती तबतक बाह्यसत्ता पर उसका प्रभाव अनुभव नहीं होता ।

विन्दु क्षुब्ध होकर नाद की अभिव्यक्ति होती है, यह पहले कह चुका हूँ । यह नाद सृष्टि के अन्तर्गत है जबकि सृष्टि का आदिभूत महानाद है । यही ज्योति स्वरूप में प्रकाशमान होकर पूर्व वर्णित विक्षोभ के क्रमिक विवर्तन के साथ-साथ, एक के बाद एक विभिन्न स्तरों का विकास करती है । किन्तु क्रियारूपी शक्ति जो विन्दु में पतित होकर विन्दु को स्पन्दित करती है, कुछ लोग उसे भी नाद-रूप में ग्रहण करते हैं । महानाद से अलग कर उसे समझने के लिए उसे परनाद भी कहा जा सकता है । वह अव्यक्त चैतन्य स्वरूप है । महानाद जगत् सृष्टि और आदि

मूलभूत है । किन्तु परनाद सृष्टि के आदिरूप में वर्णित होने योग्य नहीं है । वह अनादि चैतन्य प्रवाह है ।

विन्दु जब विभक्त होकर ऊर्ध्वविन्दु एवं अधोविन्दु के रूप में परिणत होता है तब वही नादरूपी अविच्छिन्न स्रोत ही दोनों के बीच योजक सूत्ररूप में वर्तमान रहता है । अधोविन्दु से जो धारा निकलती है, वह ऊर्ध्वविन्दु में जाकर समाप्त होती है और वहाँ से जो धारा निकलती है, वह अधोविन्दु में जाकर समाप्त होती है । अधोमुखी धारा और ऊर्ध्वमुखी धारा दोनों स्वरूपतः एक ही शक्ति की धाराएँ हैं । फिर भी दोनों में पार्थक्य है । अधोधारा में चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती जब कि यह धारा भी चैतन्यशक्ति की धारा है । इसी धारा का सहारा लेकर सृष्टि में अनन्त शक्ति के स्तर, लोक-लोकान्तर और देह विशिष्ट-जीवराशि अविराम-प्रवाह से निरन्तर आविर्भूत हो रहे हैं । अधोविन्दु को भेदकर जब इस धारा का आभास बाहर निकलता है तभी सांसारिक प्रपंच प्रकट होते हैं । इसे अज्ञान की धारा कहा जा सकता है, किन्तु ऊर्ध्वमुखी वाली जो धारा है, वह अज्ञान की धारा नहीं है । वह ज्ञान की धारा है । यद्यपि चैतन्यरूपा शक्ति दोनों एक और अभिन्न हैं तथापि ज्ञान की धारा का सहारा न लेकर ऊर्ध्वविन्दु को पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता । जिस प्रकार अधोविन्दु से धारा का विकिरण है जिसके कारण सांसारिक प्रपंचों का उद्भव होता है, उसी प्रकार ऊर्ध्वविन्दु से भी एक धारा निकलती है जिसके कारण परमधाम का स्फुरण होता है । वास्तव में परमधाम तथा संसार एक ही अखण्ड-पदार्थ हैं । विन्दु के विभाग के साथ ही साथ दोनों के बीच व्यवधान की भी सृष्टि हुई है । इस व्यवधान के तिरोधान के साथ-साथ ऊर्ध्वविन्दु और अधोविन्दु एक में मिलकर एक अखण्ड विन्दुरूप में स्थित होता है अर्थात् विसर्गरूपी विन्दु द्वय महाविन्दुरूपी अद्वैत विन्दु में पर्यवसित होता है । तब अखण्ड परमतत्व में अधिष्ठित तत्त्वातीत आत्मप्रकाश करते हैं । फिलहाल अधोविन्दु को मूलधारस्थ त्रिकोण के मध्यविन्दु तथा ऊर्ध्वविन्दु को सहस्रदल कमल स्थित त्रिकोण की कर्णिकारूपी मध्यविन्दु के नाम से समझना होगा । फलस्वरूप मूलाधार से उठकर नादस्रोतः स्वभावतः सहस्रार में विलीन होता है—इसमें कोई सन्देह नहीं । मूलाधार वाला विन्दु अपने को विभक्त कर खण्डरूप में पाँच पृथक विन्दुओं की सृष्टि करता है । ये पाँचों विन्दु सृष्टिपथ में पाँच चक्रों का केन्द्रस्वरूप होता है । इन पाँचों का केन्द्र के साथ शास्त्रीय पंचभूत एवं पंचगुणों से घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसके अलावा संस्कार की मात्रा और ज्ञानादि शक्ति के विकास के तारतम्यानुसार भी ५० विन्दुओं के आपेक्षिक परत्व एवं अपरत्व निरूपित होता है । अतएव कोई विशिष्ट साधक अपनी आध्यात्मिक शक्ति के जरिये अपने अनुरूप विन्दु या केन्द्र से नाद के उत्थान का अनुभव करेंगे । अधःस्थित चक्र तथा केन्द्र उनके लिए कार्यशील नहीं है, वास्तव में ये सब शून्य रूप में परिणत हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक विन्दु ही आधार विन्दु है । उस स्थान पर जो नादरूपी-चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है, वह निराधार चैतन्य नहीं है अर्थात् वह सविकल्प ज्ञान का ही प्रकार-भेद है । आज्ञाचक्र के नीचेवाले पाँचों चक्र ही पूर्वोक्त पंच विन्दुओं के प्रसार-क्षेत्र हैं । आज्ञाचक्र के साथ पूर्वोक्त

पाँचों चक्रों में से प्रत्येक का पृथक-पृथक सम्बन्ध है । उसी प्रकार आज्ञाचक्र स्थित विन्दु एवं पूर्वोक्त पंच विन्दुओं के प्रत्येक विन्दु परस्पर संश्लिष्ट हैं । पाँचों चक्रों की सभी क्रियाओं की प्रत्येक क्रिया आज्ञाचक्र में मिलती है । अतएव एक हिसाब से आज्ञाचक्र स्थित विन्दु को मुख्य विन्दु कहा जा सकता है । पर यह निश्चित है कि पंचभूत शुद्धि के अलावा चित्तशुद्धि नहीं होती और चित्तशुद्धि हुए बिना पंचभूतों की शुद्धि नहीं होती । अनुष्ठान के समय यदि प्रधान भाव में रहे तो चरम अवस्था में सम्यक भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि युगपत् सम्पन्न होती है । अतएव षड्चक्रों के छः विन्दु वास्तव में सहस्रारगामिनी महानदी के छः पृथक घाट हैं । किस घाट से किसके लिए ऊर्ध्वस्रोत का सहारा लेना सहज है, यह व्यक्तिगत योग्यता और अधिकार पर निर्भर करता है ।

यहाँ मुख्य चिन्तनीय विषय यह है कि जिस धारा को अवतरणकाल में ज्ञानहीन, जड़शक्ति धारा के रूप में वर्णन किया जाता है, वही उत्थानकाल में चैतन्य की धारा के रूप में गृहीत होने योग्य क्यों होता है ? इस प्रश्न का मुख्य समाधान है—मनःसंयोग । अज्ञात ढंग से शब्द की जो धारा बहती आ रही है, उसके साथ मन को युक्त कर लेने पर वह धारा ज्ञान का गोचर हो जाती है । केवल यही नहीं, वह ज्ञान या चैतन्य की धारा के रूप में परिणत होकर पुनः ऊर्ध्वमुखी होने को बाध्य होती है । यह जो मन का संयोग है, यह कहाँ अर्थात् किस घाट पर सम्पन्न होगा, यह मन की आपेक्षिक स्थिति पर निर्भर करता है । जिसका मन अत्यन्त अधिक स्थूल, संस्कार-सम्पन्न एवं अधोदेश में है, उसे अधोदेश में ही मिल जाता है और उसी स्थान पर ही मन के साथ धारा का संयोग हो जाता है । इसके बाद धारा ऊर्ध्वगामी होती है, साथ-साथ मन के युक्त रहने के कारण ही ऊर्ध्वगामी होती है । किन्तु जिनका मन जन्मान्तरीण साधनाभ्यास के फलस्वरूप अथवा भगवत्-कृपा से या महापुरुष के अनुग्रह से, अपेक्षाकृत शुद्ध एवं ऊर्ध्वस्तर में स्थित है, उनके लिए उस धारा के साथ संयोग कुछ हद तक ऊर्ध्वप्रदेश में ही हो जाता है । आमतौर पर यही साधारण नियम है । अतएव साधारण अवस्था में सबसे नीचेवाले केन्द्र में अगर मन का संयोग होता है तो वह स्वाभाविक है, पर सभी का ऐसा होगा, ऐसी बात नहीं है । कारण, सभी का मन एक ही घाट पर स्थित नहीं है ।

यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि जब सभी के मन चंचल एवं एकाग्र या स्थिर हैं, मन के अलावा स्रोत के साथ योग होना सम्भव नहीं है तब मन की इस आपेक्षिक स्थिति की सार्थकता क्या है ? इसका उत्तर यों है कि मन चंचल होने पर भी जब वह चंचलता दूर हो जाती है तब सभी के मन की स्थिति समरूप में हो जाती है, यह सच है; किन्तु यह एक जगह नहीं होती । संस्कार या वासना की शुद्धि के प्रभाव से मन की स्थिति क्रमशः ऊर्ध्वप्रदेश की ओर होती रहती है । चंचल मन के स्थिर होने पर मन की शुद्धता के तारतम्य के अनुसार शून्यप्रदेश मन स्थिति प्राप्त करता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि स्थिति स्थान से ही उसकी

ऊर्ध्वमुखी गति आरम्भ होती है अर्थात् नाद स्रोत के साथ मन का मिलन सिद्ध होता है ।

मन की स्थिति केवल हृदय में होती है । हृदय शून्यप्रदेश का नाम है, जहाँ वायु की क्रिया नहीं है और मनोवहा-प्राणवहा नाड़ी का कोई सम्बन्ध नहीं है । इस विराट शून्यप्रदेश में किसी प्रकार का तारतम्य न रहने पर भी सूक्ष्म तारतम्य रहता है । इसका जो केन्द्रस्थान है, वही महाशून्य है । उसमें वासना या संस्कार सूक्ष्मरूप में भी कार्य नहीं करता । इसके अलावा समग्र शून्यप्रदेश मध्यविन्दु से व्यवधान की मात्रा के अनुसार कम या अधिक सूक्ष्म संस्कार विशिष्ट हैं । जिसका मन जितना शुद्ध है अर्थात् संस्कार मुक्त है, वह मन की स्थिरता के समय उस शून्यप्रदेश के अनुरूप स्थान में स्थिति प्राप्त करता है । महाशून्य में स्थिति महायोगी के अलावा अन्य किसी के लिए सम्भव नहीं है । नाद का ऊर्ध्वमुखी प्रवाह उसी विशिष्ट शून्यप्रदेश से उत्पन्न होता है । महानाद का प्रवाह महाशून्य से उत्पन्न होता है । यहाँ जो कुछ कहा गया, उससे यह समझ लेना चाहिए कि मूलधारादि किसी भी घाट पर क्यों न रहे, वास्तव में वह रहती है हृदयात्मक शून्यप्रदेश के विशेष स्थल पर । यद्यपि उस प्रकार का अधिकारी होने पर केन्द्र या महाशून्य में मन की स्थिति नहीं हो सकती, ऐसी बात नहीं है । इसीलिए शास्त्र में कहा गया है—

हृच्चक्रादुत्थिता सूक्ष्माशशिस्फटिकसंनिभा ।
लेंखाकारा नादरूपा प्रशान्ता चक्रपंक्तिगा ।
स्वा़दशान्ते निरुद्धा सा सौषुम्ने त्रिपथान्तरे ।
तत्र हृच्चक्रमापूर्य जपेन्मन्त्रं ज्वलत्प्रभम् ।

शक्ति की धारा जहाँ से उत्पन्न होती है, पुनः वहीं जाकर लीन हो जाती है । यह स्वभाव का नियम है । किन्तु मन के साथ मिलन न होने पर यह प्रत्यावर्तन अलक्ष्य मार्ग में सम्पन्न हो जाता है । सृष्टि और तदनन्तर संहार अज्ञान के राज्य में बार-बार आवर्तित हो रहे हैं । किन्तु ज्ञान का उदय होने पर यह सृष्टि-संहार चक्र से अतीत होकर साक्षी स्वरूप स्थापित हुआ जा सकता है किन्तु वह चैतन्य की उपलब्धि बिना हो नहीं सकती । अर्थात् शक्तिधारा के साथ मन के मिलने के साथ ही साथ उक्त धारा उजान में बहने लगती है । नादरूप में उस धारा की उपलब्धि होती है । नादावस्था की प्राप्ति का मतलब है विन्दु भाव की पूर्व सूचना । विन्दु का विक्षिप्त अंश ही नाद है । फलतः जब यह विक्षिप्त अंशरूपी नाद ऊर्ध्व आकर्षण के प्रभाव से क्रमशः घनीभूत होकर अर्थात् एकाग्रता के पूर्ण विकास में, विन्दुरूप धारण करता है तभी चैतन्य या उपलब्धि केन्द्र प्राप्त होकर प्रतिष्ठित हो जाता है । यही आत्मज्ञान का नामान्तर है । नाद का जैसा तारतम्य है फिर भी महानादरूप में सभी एक हैं, वैसे ही आत्मज्ञान का भी तारतम्य है—तथापि सभी तारतम्यों में भी स्वयंप्रकाश शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि एक और अभिन्न है । इसीलिए महाशून्य से महाज्ञान का मार्ग प्राप्त किया जा सकता है एवं महानाद ही इसी मार्ग में ऊर्ध्वगति की सूचना देता है ।

नाद-ध्वनि (१)

क्या आप नाद-ध्वनि सुनते हैं ? यदि कोई प्रतिबन्धक न रहे तो वह ध्वनि आपको क्रमशः उठा ले जायगी और सत्यवस्तु का बोध करायेगा । नाद से जबतक महानाद तक नहीं पहुँचा जाता तबतक गुरु-दर्शन नहीं होता । नाद से क्रमशः ऊर्ध्वगति का अवलम्बन करते हुए, विभिन्न स्तर समूहों का भेद करते-करते नाद के मूल प्रस्रवण क्षेत्र में महानाद से साक्षात्कार होता है । नाद के अलावा मन को शुद्ध करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है । असंख्य कर्म-संस्कार और वासना शुद्ध मन से लिपटे मन को आवर्जनायुक्त बनाये हुए है । मन के स्थूलत्व का यही कारण है । इस स्थूलता के कारण मन इन्द्रियों के आकर्षण से आकृष्ट होकर निरन्तर बहिर्मुख की ओर दौड़ता है और विषय ग्रहण के लिए प्रवृत्त होता है । नाद के प्रभाव से मन की आवर्जना क्रमशः दूर होते रहने पर मन धीरे-धीरे सूक्ष्म अवस्था प्राप्त करता है और उसी के अनुरूप मन की अन्तर्मुखी गति भी सिद्ध होती है । मन की निर्मलता सम्यक् रूप से सिद्ध होने पर मन को इन्द्रियाँ आकर्षण करके बाहर नहीं निकाल पातीं । वास्तव में उस समय मन इन्द्रियों के अधीन नहीं रहता । मन की जो स्थितिभूमि है, वहाँ इन्द्रियस्रोतः प्रविष्ट हो नहीं पाते । लिहाजा मन की उस अवस्था में रूप-रस, शब्द-स्पर्श-गंधमय बाह्य जगत् मन को विचलित नहीं कर पाते—यही मन की स्थिरता है । इस अवस्था में प्रतिष्ठित होने पर ऊर्ध्व आकर्षण के प्रभाव से मन क्रमशः ऊर्ध्व की ओर उन्नत होता है । मन की ऊर्ध्वगति के अनुपात से चैतन्यशक्ति का विकास क्रमशः सम्पन्न होता है । पहले शोधन, इसके बाद बोधन—यही नियम है । मन शुद्ध होकर क्रमशः प्रबुद्ध होता रहता है । अन्तर्मुखी गति के द्वारा मन इन्द्रियों के संस्पर्श से छुटकारा पा जाता है और अचल अवस्था में स्थित हो जाता है ।

ऊर्ध्वमुखी गति के द्वारा स्थिर मन क्रमशः चैतन्यशक्तिरूप में परिणत होता रहता है । जिस स्थान पर ऊर्ध्वगति का अवसान है, वहीं मन निवृत्त होकर एकमात्र चैतन्यशक्ति में ही विराजमान हो जाता है । यही मन की उन्मनी अवस्था है । इसी जगह से भगवद्दर्शन के मार्ग का पता लगता है । मनोराज्य में अवस्थान करते हुए यथार्थ भगवद्दर्शन सम्भव नहीं है । अगर नाद-ध्वनि बराबर श्रवण होती रहे और वह यदि अखण्डित रूप से चलती रहे तो उससे मन की अन्तर्मुखी और ऊर्ध्वमुखी दोनों गतियाँ सिद्ध होंगी, फिर चरम अवस्था में आत्मा में ही परमात्मा का साक्षात्कार प्रकट हो जायगा । विन्दु अर्थात् महामाया स्पन्दित होकर नादरूप में परिणत हो जायगी । महामाया कुण्डलिनी शक्ति का ही नामान्तर है । द्वैतवादी लोग इसे चिदाकाश कहते हैं । चित्शक्ति के संघर्ष से चिदाकाश स्पन्दित होकर जब चैतन्यरूप शब्द अथवा नाद में परिणत होता है तब सद्गुरु की अनुग्रह शक्ति की किरणें विकीर्ण होने लगती हैं । कारण, नादरूपी चैतन्य ज्योति का आश्रय लेकर जीव को परमपद में पहुँचना होगा । नादानुसंधान को लय का प्रधान उपाय के रूप में मानते हुए शास्त्रकारों ने वर्णन किया है । उसका यही तात्पर्य है । जबतक

नाद स्वतः सिद्ध भाव से स्फुरित नहीं होता तबतक मन को संलग्न करने का कोई आधार नहीं मिलता । किन्तु जिनके नाद खुल गये हैं, उनके लिए मन का संस्कार करने के लिए अलग से प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होती । जिस प्रकार गंगोत्री से गंगा अवतीर्ण होकर समुद्र की ओर बढ़ती है, ठीक उसी प्रकार विन्दु से नाद उत्थित होकर महाज्योति की ओर निरन्तर प्रवाहित होता रहता है । नादाभ्यास ही वस्तुतः कर्म है । यही क्रमशः ज्ञान में पर्यवसित होता है । कारण, प्रवृत्ति मुख में जो ध्वनि है, निवृत्ति मुख में वही ज्ञान है । जिस चिदाकाश से नादरूप में ध्वनि उत्पन्न हो रही है मनःसंयोग के साथ-साथ जब वही ध्वनि प्रतिनिवृत्त होकर पुनः अपने उत्पत्ति स्थान चिदाकाश में उपनीत होगी तब फिर ध्वनि श्रुत नहीं होगी और न मन की सत्ता का अनुभव होगा । यही है—आत्मज्ञान विकास का संधि क्षण । वास्तव में तब शब्द नहीं रहता, ऐसा नहीं है । किन्तु मन की गति निरुद्ध होने के कारण यह निरुद्ध हो जाता है । इसीलिए चैतन्य के क्षेत्र में आत्मस्वरूप प्रकट हो जाता है । कारण, शब्द से ही जगत् की सृष्टि हुई है । जब शब्द का गतिरोध हो जाता है तब जगत्-दर्शन नहीं रहता, इसलिए नित्य सिद्ध एकमात्र आत्मस्वरूप ही स्वप्रकाश में विराजमान रहता है ।

नाद-ध्वनि (२)

नाम (जप) करते-करते ध्वनि अथवा नाद का विकास होता है, इसे अनुभव किया जाता है । मूल में नाद एक होने पर भी इसमें अनन्त प्रकार की सूक्ष्म विचित्रताएँ हैं । जिस प्रकार एक ही तरह के प्रकाश में अनन्त प्रकार के रूप प्रकट होते हैं, उसी प्रकार एक ही महानाद में अनन्त प्रकार के खण्ड शब्द निहित रहते हैं । महानाद का सहारा लेकर समग्र सृष्टि प्रकाश पा रही है, केवल हमारा जगत् ही नहीं, लोक-लोकान्तर समन्वित अनन्त-जगत् भी उसी एक महानाद में ही प्रकाशमान होता है । इसके एक-एक अंश को एक-एक खण्ड नाद कहा जा सकता है । देह के सहारे असंख्य चक्र आवर्तित हो रहे हैं । वस्तुतः सभी चक्रों के आवर्तन से ही देह चैतन्यमय के रूप में प्रतीत होता है । क्षुद्र, वृहद् कितने चक्र हैं, सभी अपने-अपने वेग से आवर्तन कर रहे हैं । इन सभी छोटे-बड़े चक्रों के चक्कर काटने के फलस्वरूप हमारे चित्त में नाना प्रकार की वृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं । वस्तुतः ये सभी वृत्तियाँ अथवा मानसिक भावपुंज सभी चक्रों के आवर्तन के फलस्वरूप अनुभव के अलावा अन्य कुछ नहीं हैं । यही हमारी जागतिक अभिज्ञता है । इन सब आवर्तनों से अनवरत तरंगात्मक शब्द उत्थित हो रहे हैं । जिस प्रकार एक मशीन में छोटे-बड़े नाना प्रकार के पहिये अनवरत घूमते रहने पर आवाजें होती हैं, यह भी कुछ हद तक उसी तरह का है । ये सभी शब्द ध्वन्यात्मक हैं । प्रति यंत्र के शब्द भिन्न हैं, किन्तु यंत्र बहुसंख्यक होने के कारण सभी की ध्वनियाँ एक साथ सुनाई देती हैं । इन सभी ध्वनियों को बहिर्मुखी मन अनुभव नहीं कर पाता । अर्थात् इन सबको ध्वनिरूप में अनुभव न कर मानसिक वृत्तिरूप में अनुभव करता है । वस्तुतः

यह सब ध्वनियाँ हैं जिनके लक्ष्य अन्तर्मुख हो गये हैं, वे अपने चित्त की जल्पना-कल्पना सब कुछ शब्दरूप में अनुभव करते रहते हैं । यही है—अशुद्ध शब्दों का खेल । इस ध्वनि में जगत् डूबा हुआ है जबकि वह समझ नहीं पा रहा है । योगी का एकमात्र लक्ष्य है—इस ध्वनि का अतिक्रम करके ऊर्ध्व में उत्थित होना ।

गुरु प्रदत्त नाम या मंत्र यथाविधि अभ्यास कर लेने पर उससे भी ध्वनि प्राप्त होती है । यह ध्वनि विशुद्ध है । इस अशुद्ध ध्वनि को शुद्ध करके वह अपने स्वरूप में परिणत करती है । अशुद्ध ध्वनि में ध्वनि अंश की अपेक्षा वर्णांश की प्रधानता रहने के कारण उसमें विकल्प का उदय होता है । यह वर्ण भाग क्रमशः गलकर सम्पूर्ण रूप से ध्वनि में परिणत हो जाने के बाद, वही ध्वनि पूर्वोक्त विशुद्ध ध्वनि में विलीन हो जाने पर एकमात्र ध्वनि विराजती है । यही चैतन्य-शक्ति की लीला है । नाम या मंत्र-जप से इस विशुद्ध ध्वनि का विकास होता है ।

ध्वनि मूल वस्तु नहीं है, वह ज्योति के बहिर्मुखी क्रियाजनित अनुभूति मात्र है । अर्थात् ज्योति अपने आप में विश्रान्त न होकर बाहर की ओर उन्मेष प्राप्त कर लेने पर ज्योति के चारों ओर अखण्ड ध्वनि मण्डल सृष्ट होता रहता है । यही ध्वनि मण्डल बहिरुन्मेष या बाह्य भाव की अधिकता के कारण अशुद्ध ध्वनि में परिणत होकर वायु के सहयोग से वर्णमाला के रूप में प्रकाशित होती है । अन्तर्मुखी गति से जप और ध्यान के फलस्वरूप यह वर्णमाला गलकर अशुद्ध ध्वनि भाव परिहार पूर्वक शुद्ध ध्वनि के रूप में परिणत हो जाती है । शुद्ध ध्वनि श्रवण करते-करते चित्त जब अन्तर्मुखी होता है तब ध्वनि से ज्योति का विकास होना प्रारम्भ हो जाता है । चरमावस्था में ज्योति रह जाती है, फिर ध्वनि सुनाई नहीं देती । उस समय स्पष्ट समझ में आता है कि ज्योति के बाहर का ध्वन्यात्मक शब्द एवं ध्वनि के बाहर वर्णात्मक शब्द है । इस वर्ण समष्टि को लेकर बद्धजीव के भाव और भाषा की रचना हुई है ।

आँखें बन्द कर लेने पर अंधकार दिखाई देता है जो अविद्या का स्वरूप है । यह आँखें बन्द कर लेने पर जैसा रहता है, उसी प्रकार बन्द न करने पर भी रहता है । मगर लक्ष्य बहिर्मुख रहने पर बाहरी प्रकाश प्रकट होने के कारण उक्त व्यापक अंधकार दिखाई नहीं देता, पर वह दूर नहीं होता । उसे दूर करने का एकमात्र उपाय है, शुद्ध शब्द के प्रभाव से ज्योति का विकास करना । ज्योति का विकास और स्थिति होने पर पूर्वोक्त अंधकार हमेशा के लिए तिरोहित हो जाता है । ज्योति में स्थिति प्राप्त कर लेने तथा अभिभूत न होने पर ज्योति में रूप का आविर्भाव स्पष्ट रूप से देखने में आता है । इस ज्योति के साथ रूप का सम्बन्ध दो प्रकार से उपलब्ध होता है । पहला तो यह समझ में आता है कि मानो ज्योति ही भिन्न-भिन्न स्थानों में घनीभूत होकर ज्योतिर्मय दृश्य रूप में परिणत हुई है । जिस प्रकार समुद्र का जल स्थान-स्थान पर जमकर बरफ का पहाड़ बन जाता है, ठीक यही रूप यहाँ भी होता है । इसके बाद एक रूप और आता है तब समझ में आता है कि ज्योति घनीभूत होकर रूप नहीं बनी है, किन्तु रूप से ही चारों ओर ज्योति विकीर्ण हो रही है । यही उच्च अवस्था है । ज्योति में इच्छा की लीला के अनुसार इस रूप

का विकास संभव होता है । जिस साधक की इच्छाशक्ति ज्योति में प्रवेश कर अस्तमित हो जाती है, वह उस महाज्योति में डूब जाता है, फिर उठ नहीं पाता । उसकी अपनी सत्ता अलग से अनुभूत न होने के कारण उसके उठने की संभावना नहीं रहती । पर सद्गुरु या भगवान् उसे उस महाज्योति के कारागार से उद्धार कर अपने चरणों में ला सकते हैं । पहले जिस अवस्था का उल्लेख किया गया है, उसकी भी परावस्था है । उस समय रूप केवल रूप ही रहता है । उसमें आलोक विकीर्ण नहीं होता । उसे देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती । वह रूप स्वयं प्रकाश है । वहाँ शब्द प्रवेश नहीं कर पाता, ज्योति भी प्रवेश नहीं कर पाती । यही है अपने धाम का क्षीण आभास । संक्षेप में चर्चा की गयी ।

यह सही है कि नाम से शब्द जागता है, यह भी सही है कि काम से भी जागता है । कारण, शब्द चैतन्य है । तीव्र आघात पाने पर वह प्रकट हो जाता है । वास्तव में वह सर्वदा जाग्रत रहता है । जिसके चित्त में ध्वनि नित्य जाग्रत रूप में मौजूद नहीं है, उसके लिए काम के प्रभाव से उक्त ध्वनि का पता पाना संभव नहीं है । केवल काम ही क्यों, तीव्र क्रोध अथवा उस प्रकार के अन्य कोई उग्र वृत्ति के प्रभाव से ध्वनि जाग सकती है जिससे क्षोभ की सृष्टि होती है, उससे उक्त जाग्रत नाद साधक के अन्तर में अपने को प्रकट करता है । वास्तव में इस विचित्र कारण से अर्थात् कामादि के प्रभाव से ध्वनि का उन्मेष अन्तःप्रकृति और बहिःप्रकृति संघर्षण का निर्देशन मात्र है । जिनकी अन्तःप्रकृति बहिरुन्मुखी है, वे इस प्रकार की ध्वनि उस अवस्था में प्राप्त नहीं कर सकते । दूसरी ओर जिनकी बहिःप्रकृति अन्तरुन्मुखी है, वे भी उस प्रकार की ध्वनि प्राप्त नहीं करते ।

बहिःप्रकृति अन्तर्मुखी होने तथा उसी के अनुरूप रहने पर जो ध्वनि प्राप्त होती है, वह स्वाभाविक क्रम से मूल स्थान पर पहुँचा देती है । ध्वनि ध्वनि में भेद है, यह सत्य है । वस्तुतः प्रत्येक स्तर की ध्वनि अलग-अलग होती है ।

+ + + +

चाहे प्राणायाम की सहायता से हो या मंत्र की सहायता से, इन दोनों उपायों से ही नाद उत्थित हो सकता है । नाद चाहे जिस रूप में उत्थित हो, उसके मूल आविर्भाव की प्रक्रिया एक ही है । विन्दुरूपिणी महामाया साक्षात् रूप से शुद्ध जगत् एवं परम्परा में अशुद्ध जगत् के उपादानों के कारण है । जब परमेश्वर की स्वरूप-भूता चित्शक्ति इस विन्दु को आघात करती है तब विन्दु क्षुब्ध होकर नादरूप में प्रसारित हो जाता है । विन्दु के बिना क्षुब्ध हुए नाद का आविर्भाव हो नहीं सकता और महाशक्ति का स्वातंत्र्यमूलक आघात के बिना विन्दु का क्षोभ संपादित नहीं होता । विन्दु क्षुब्ध होकर जिस प्रकार एक ओर शाब्दी सृष्टि रूप में आविर्भूत होता है, उसी प्रकार दूसरी ओर आर्थी सृष्टि रूप में आविर्भूत होता है । मंत्र, मंत्रेश्वर, मंत्रमहेश्वर तथा अन्य सभी शुद्ध जगत् के अधिवासी वर्ग के देह और कर्ता, इस क्षुब्ध विन्दु से सृष्टि के प्राक्काल में जन्म लेते हैं । शब्द के साथ अर्थ के वाच्य

वाचक का सम्बन्ध रहने पर भी दोनों के मूल में विन्दु के अलावा अन्य कुछ नहीं रहता । संक्षेप में कहा जा सकता है कि छत्तीस तत्त्व एवं तत्त्वमय विश्व मूलतः विन्दु के अलावा अन्य कुछ नहीं है । इसी विन्दु का दूसरा नाम है—कुण्डलिनी शक्ति । व्यष्टिरूप मानवदेह में जीव-कुण्डलिनी रूप में एवं समष्टि रूप या महासमष्टि रूप ब्रह्माण्ड या विश्वदेह के जगत् कुण्डलिनी रूप में, यह शक्ति विराजमान है । सुतरां कुण्डलिनी से नाद का आविर्भाव होता है । मातृगर्भ में जब जीवदेह का निर्माण होता है एवं विश्व मातृका के गर्भ में जब आदि सृष्टि का उद्भव होता है तब दोनों की कुण्डलिनी-क्रिया चालू रहती है । यह सृष्टि की ओर की बात है । किन्तु साधक जब नाद को अभिव्यक्त करने की इच्छा करता है तब उसे संहार अथवा प्रत्यावर्तन मार्ग में करना पड़ता है । इसलिए वास्तविक सिद्धान्त यह है कि यद्यपि हम व्यवहारिक भाषा में कहते हैं कि नाद को अभिव्यक्त करना होगा, तथापि यह सत्य है कि वास्तव में महाप्रलय न होने तक नाद चिर अभिव्यक्त रह जाता है—नाद को अभिव्यक्त नहीं करना पड़ता । अगर नाद अव्यक्त रहता तो सृष्टि नहीं रह सकती थी, क्योंकि वह नाद पर ही प्रतिष्ठित है । व्यष्टि और समष्टि दोनों एक ही बात है । अतएव नाद को अभिव्यक्त करने का अर्थ है—इस अभिव्यक्त नाद की उपलब्धि गोचर करना । प्राणायाम के द्वारा कुंभक के प्रभाव से श्वास-प्रश्वास की गतिच्छेद होने पर सुषुम्ना के मार्ग से सूक्ष्म वायु की गति अव्याहत रूप से चलने लगती है । उस वक्त मन इड़ा-पिंगला-मार्ग परिहार कर जिस अनुपात से सुषुम्ना-मार्ग में प्रविष्ट होता है, उसी अनुपात से सुषुम्नास्थ नादध्वनि सुन पाता है । सुषुम्ना का शून्य मार्ग, शून्य ही आकाश, नाद ही उसका धर्म है, इसलिए जबतक आकाश या व्योमपथ में प्रवेश नहीं होता तबतक नाद-श्रवण कैसे हो सकता है ? कुंभक के द्वारा ही इस व्योमपथ में प्रवेश किया जा सकता है । इसीलिए प्रवेश के साथ-साथ मन के योग रहने पर निबंधन नाद की उपलब्धि होती है । वास्तव में मंत्र नादमरा है । कारण, पहले ही कहा जा चुका है कि विन्दु क्षुब्ध होकर ही मंत्र का स्वरूप लेता है । मंत्र का देह वैन्दव है, इसमें संदेह नहीं । मगर हमारे अचैतन्य के कारण इस नादरूपी मंत्र में नाना प्रकार के आवरण आ गये हैं । जपादि एवं अन्य प्रकार के प्रभाव से इस आगन्तुक को अपसारित करने पर मंत्र की नादमयता अनुभूत होती है । आकाश में सूर्य के उदय होने पर भी मेघाच्छन्न होने के कारण जिस प्रकार उसकी उपलब्धि गोचर नहीं होती, ठीक उसी प्रकार मंत्र के नादमय होने पर भी आवरण के कारण नादमयता अनुभूत नहीं होती । जिसे मंत्र-चैतन्य कहा जाता है, वही मंत्र की नादमयता का अनुभव है । वास्तव में मंत्र नित्यचेतन है, फिर भी जबतक आवरण अपसारित नहीं होता तबतक उसे चेतन के रूप में उपलब्ध नहीं किया जा सकता ।

अतएव मंत्र के जागने पर सुषुम्ना-मार्ग में नाद ध्वनिरूप में है, पता चल जाता है । कुंभक के कारण मन जब सुषुम्ना में प्रवेश करता है तब उस प्रकार की नादध्वनि पायी जाती है । चाहे जिस प्रकार हो, सालम्ब भाव से किंचित निरालम्ब भाव का आना प्रारम्भ होते ही नाद का आविर्भाव होता है । नाद के विकास के

बिना आकाशमार्ग में संचार या खेचरत्व सिद्ध नहीं हो सकता । शून्य, महाशून्य, अतिशून्य आदि शून्यों के उपाधिक भेद हैं । उसी प्रकार नाद की अभिव्यक्ति में क्रम हैं कारण, नाद से महानाद तक बिना गये नित्यगुरु का पता नहीं चलता ।

पूर्वोक्त विवरण से समझ में आता है कि किसी भी उपाय से सुषुम्ना के मार्ग में आने पर श्रुतिगोचर होता है । सामान्य दृष्टि से उपलब्धि के प्रकार-भेद के कारण नाद का भेद सिद्ध नहीं होता । सुतरां प्राणायाम के फलस्वरूप नाद का अनुभव एवं मंत्र जप के कारण नाद का अनुभव—इन दोनों में कोई पार्थक्य नहीं है । यह सामान्य अनुभव है, पर विशेष अनुभव भी है । कारण, मृत्तिका द्वारा निर्मित सभी मृण्मयी वस्तु सजातीय होने पर भी जिस प्रकार एक मृण्मयी वस्तु के साथ अन्य एक मृण्मयी वस्तु का सजातीय भेद है, ठीक उसी प्रकार विन्दु—क्षोभजन्य सभी नाद ही सजातीय होने पर भी एक नाद के साथ अन्य नादों में पार्थक्य है । सामान्यांशों में अभेद एवं विशेषांश भेद यही दोनों में इतर विशेष है ।

महानाद

नाद से महानाद में प्रवेश के लिए अभी सिद्ध नहीं हो सके हो । वर्णनात्मक शब्द वर्णभाव परिहार कर ध्वनि रूप में परिणत होते ही नाद की उपलब्धि होती है । नाद की उपलब्धि होने के साथ-साथ मन क्रमशः सूक्ष्म और शुद्ध होने लगता है । किन्तु खण्डमन महामन में परिणत नहीं होता । इसलिए नाद से महानाद में प्रवेश करना आवश्यक है । महानाद का उन्मेष अनुभव न होने पर गुरु या चैतन्य का संधान कैसे प्राप्त होगा ? जिसे उन्मनी भाव सोचा जाता है, वह ठीक उन्मनी भाव नहीं है । उन्मना शक्ति के आविर्भाव का समय अभी नहीं आया है, ऐसा मेरा विश्वास है । खण्डमन के बदले अखण्डमन का परिचय पाकर उसका विश्लेषण पूर्वक अन्तिम विवेक मार्ग की सहायता से विशुद्धतम कैवल्यावस्था का आभास प्राप्त होता है । इसके बाद परम पुरुष के विशेष अनुग्रह से उसी मनोभूमि के अतीत केवल आत्मसत्ता में, जिसमें जड़त्व का संस्पर्श मात्र नहीं रहता, उन्मनी-शक्ति का विकास होता रहता है । उन्मनी-शक्ति का आविर्भाव होने पर जिसे अब तक मन की लीला समझा जाता रहा, वही चिदानन्दमयी पराशक्ति की आत्मलीला है, समझ में आ जाता है । सर्वत्र आत्मदर्शन सिद्ध हो जाता है । सब कुछ आत्मशक्ति का स्फुरण है, यह पहचान में आ जाता है । जड़त्व, अज्ञान और काल का विभ्रम हमेशा के लिए तिरोहित हो जाता है ।

अधोदृष्टि समदृष्टि रूप में परिणत न होने तक जड़त्व से मुक्ति नहीं होती और न समना-शक्ति के ऊर्ध्व में जाया जा सकता है । तदनन्तर ऊर्ध्वशक्ति की क्रिया न होने तक उन्मनी-शक्ति की लीला का अनुभव करने का कोई उपाय नहीं है । अभिमानशील जीव किसी कौशल से उस अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाता । ऊर्ध्व लक्ष्य होने पर यथा समय उसे मजबूर होकर आना पड़ेगा । जो सत्य है, उसे

मांगना नहीं पड़ता । योग्यता अर्जित होने तथा कालपूर्ण होने पर बिना माँगे प्राप्त किया जा सकता है ।

आप ने लिखा है कि आप मन की अन्तर्मुखी और ऊर्ध्वमुखी गति अनुभव करते हैं । यह सत्य है, पर यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि जबतक मन की अन्तर्मुखी गति सम्यक् ढंग से सिद्ध न हो जाय तबतक ऊर्ध्वमुखी गति की पूर्णता प्राप्त करना असंभव है । अन्तर्मुखी गति का उद्देश्य है विचलित मन को एकाग्र करके मन की स्वभूमि में उसे प्रतिष्ठित करना । मन की आत्मप्रतिष्ठा सिद्ध होने पर ऊर्ध्वशक्ति स्वभावतः अवत्तीर्ण होकर उक्त स्थिर मन में पतित होता है । फलस्वरूप स्थिरीकृत मन ऊर्ध्वमुख की ओर आकृष्ट होकर उत्थित होता रहता है । मन की एकाग्रता सम्पूर्ण रूप से सम्पन्न न होने तक समझना चाहिए कि मन का कोई अंश अभी तक बाहर पड़ा हुआ है । अभी तक सकल मन संहत होकर हृदय में प्रवेश नहीं कर सका है । चूँकि क्रिया चल रही है, इसलिए अन्तर्मुखी गति ने विराम नहीं ली है । जब अन्तर्मुखी की गति सम्पूर्ण होगी तब बाह्य आकर्षण, अधःआकर्षण या माध्य आकर्षण एवं संसर्ग का प्रभाव, किसी के मन पर अपना दबाव नहीं डाल सकेगा । उक्त अवस्था न होने तक ऊर्ध्वशक्ति की अवतरण क्रिया चेतन भाव से अनुभव नहीं की जा सकती । यद्यपि क्रिया चलती रहती है, इसकी वजह से मन की ऊर्ध्वगति निष्पन्न होती रहती है, किन्तु यह कुछ हद तक अजानकारी में हो जाती है, सम्पूर्ण चैतन्य के साथ वह सम्पन्न नहीं होती । मेरे विचार से शायद इसीलिए चित्त का अन्तःप्रवाह काफी सिद्ध होने पर भी अभी तक चित्त का स्वरूप प्रतिष्ठित नहीं हुआ है । इसीलिए करुणामयी गुरुशक्ति का अवतरण सज्ञान में धारण कर नहीं पा रही है । जीव का अपना कर्त्तव्य समाहित हो जाता है तब उसे कृपा के लिए बैठे रहना नहीं पड़ता । कृपा यथा समय आ जाती है । आह्वान करके उसे बुलाना नहीं पड़ता । अग्नि का सहारा लेने पर ताप या दाहक-शक्ति के लिए प्रार्थना न करने पर भी प्राप्त होती है । ठीक उसी प्रकार महालक्ष्य की ओर चित्त के निविष्ट हो जाने पर झरने के जल की तरह कृपा का अवतरण होता रहता है । किन्तु ठीक-ठीक तैयार न रहने के कारण वह धारणा के योग्य नहीं होता । भगवान् के सभी विधान मंगलमय होते हैं । सुतरां सत्पथ में प्रवेश कर क्या हो रहा है पता लगाने का प्रयत्न न करके सरल विश्वास से तीव्र व्याकुलता के साथ यथाशक्ति अपना कर्त्तव्यपालन करना चाहिए । विश्वास की मात्रा जिस अनुपात से प्रबल होती हैं, उसी अनुपात से पुरुषाकार की सार्थकता घटती जाती है । शिशु की तरह अटल विश्वास प्रतिष्ठित होने पर कृत्रिम-साधना की आवश्यकता नहीं होती । उस वक्त जीव स्वभाव की गोद में स्थापित होकर स्वप्रेरित भाव से स्वभाव के खेल में मगन हो जाता है । अपने को पृथक रूप से इच्छा या चेष्टा करने की जरूरत नहीं होती । नित्य करुणामयी माँ संतान की सारी जिम्मेदारी स्वयं ग्रहण कर लेती है । उस समय शिशु जिस प्रकार एकटक माँ के मुँह की ओर देखता रहता है, उसी प्रकार साधक भी बाह्य साधन-विहीन होकर एकटक मातृ-चरणों में दृष्टि निबद्ध किये रहता है। वह दूसरा कुछ नहीं जानता, जानने की प्रवृत्ति उसमें नहीं होती एवं जानने की आवश्यकता भी नहीं है—यही कृतकृत्य होने का पूर्वाभास है ।

काल और क्षण

काल और क्षण के तत्त्वों के बारे में दो-चार बातें संक्षेप में बता रहा हूँ । इन बातों को अच्छी तरह समझ लेने पर इस दुर्भेद्य रहस्य पर प्रकाश पड़ सकता है तथा मार्ग ढूँढ़ लेने में सहायता मिलेगी ।

काल के बारे में एक साधारण ज्ञान सभी लोगों को है । फिलहाल इस आधार पर इसकी चर्चा की जा सकती है । जब विभिन्न घटनाएँ संगठित होती हैं, उनमें कौन पूर्ववर्ती है और कौन परवर्ती, इस प्रकार पौर्वापौर्य की जो प्रतीति उत्पन्न होती है, उससे काल की धारणा साधारण लोगों के मन में उत्पन्न होती है । घटनावलियों में यह जो पौर्वापौर्य है इसे क्रम कहते हैं । क्रम काल का धर्म है, यह सहज ही समझ में आ जाता है । किसी भी मानव-देह के विकास-मार्ग में जन्म से लेकर—बाल्य, पोगंड, किशोर, यौवन, प्रौढ़, वार्धक्य एवं स्थविरता कई क्रमबद्ध अवस्थाएँ हैं । एक ही शरीर एक के बाद एक इन सभी अवस्थाओं को प्राप्त होकर उसे अतिक्रम करता हुआ चल रहा है । इसीलिए कहा जाता है कि शरीर काल के अधीन है । अनित्य वस्तुओं को सृष्टि से विकास तक इसी प्रकार एक क्रम में देखा जाता है इसीलिए उसे परिवर्तनशील अथवा परिणामी के नाम से वर्णन किया जाता है । यही काल की अधीनता है । नित्य वस्तु में काल का कोई प्रभाव मौजूद नहीं रहता, क्योंकि जो नित्य है वह एक तरह से हमेशा प्रकाशवान रहता है । कभी भी उसमें भावान्तर नहीं होता । क, ख, ग इन्हें अगर नित्य मान लिया जाय तो यह समझ लेना होगा कि 'क' हमेशा 'क' ही है, 'ख' हमेशा 'ख' ही है, तथा 'ग' हमेशा 'ग' ही है । 'क' कभी 'ख' रूप में, किंवा 'ख' कभी 'ग' रूप में परिणत नहीं होता । यहाँ यह मान लेना पड़ेगा कि क, ख, ग काल के अधीन नहीं है; क्योंकि इनमें परस्पर कालगत क्रमिक किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है ।

हम लोगों का सुपरिचित उदाहरण श्रीकृष्ण की नित्य लीला का प्रकट स्वरूप है । श्रीकृष्ण की बाल-लीला में श्रीकृष्ण के बाल-भाव प्रकाशमान है । यही नित्य है । दूसरी ओर अपनी किशोर-लीला में वे नित्य किशोर हैं अर्थात् जो नित्य बालक हैं, वे ही नित्य किशोर हैं । उनका बाल्य-भाव जिस प्रकार नित्य है, उसी प्रकार उनका किशोर भाव भी नित्य है । लौकिक देह जिस प्रकार बाल भाव से किशोर भाव में परिणत होती है, उसी प्रकार अलौकिक श्रीकृष्ण देह बाल भाव से किशोर भाव में परिणत नहीं होती, कारण, उनका बाल देह एवं किशोर देह दोनों ही युगपत् वर्तमान है और नित्य है । श्रीकृष्ण का बाल देह पूर्वकालीन एवं उनका किशोर देह परवर्ती काल का है, यह बात नहीं कही जा सकती । गोपाल रूपी बालक कृष्ण सहस्र कल्प अतीत हो जाने पर भी बालक ही रहेंगे, किशोर या युवक नहीं होंगे । इसी प्रकार अन्य भावों को समझना पड़ेगा ।

ऊपर जो कुछ कहा गया, उससे स्पष्ट है कि नित्य वस्तु काल के अधीन नहीं है एवं भिन्न-भिन्न वस्तु में कालगत कोई सम्बन्ध नहीं है । पर लीला करते समय किसी प्रकार का सम्बन्ध सृष्टि कर तदनुसार वैचित्र्य का आस्वादन चल सकता है ।

रहस्य की बात यह है कि ज्ञान-दृष्टि से अनित्य भी मूलतः नित्य का ही कालिक प्रकाश है । इसलिए जिसे हम लोग जागतिक घटना कहते हैं अथवा अनित्य घटना कहते हैं, उसके मूल में भी नित्य सत्ता है । जागतिक दृष्टि से हम लोग जिसे पूर्व और दूसरा कहते हुए वर्णन करते हैं, वह जागतिक दृष्टि से अपरिवर्तनीय होने पर भी वास्तव में आपेक्षिक है । जिनकी शुद्ध दृष्टि खुल गयी है, उनके लिए वह अपरिवर्तनीय नहीं है । देशगत परत्व एवं अपरत्वों के उदाहरण से यह स्पष्ट समझ में आ जायगा । क, ख, ग इस तरह उपविष्ट हैं कि 'क' के पश्चिम में 'ख' तथा 'ख' के पश्चिम में 'ग' है, कहा जा सकता है । यहाँ 'क' 'ख' के पूर्व में है सन्देह नहीं । किन्तु 'क' अगर अपना स्थान परिवर्तन करके 'ग' के स्थान पर बैठ जाय तो 'क' को भी 'ख' के पश्चिम में है, कहा जायगा । उसी प्रकार 'ग' अगर स्वस्थान छोड़कर 'क' के स्थान पर बैठ जाता है तो 'ग' को 'ख' का पूर्ववर्ती कहा जायगा । इसी प्रकार 'ख' का स्वस्थान त्याग एवं स्थानान्तर ग्रहण के फलस्वरूप व्यतिक्रम हो जायगा । अतएव 'क', 'ख' और 'ग' इन तीनों को यदि स्थिर मान लिया जाय और अगर इन लोगों का स्वस्थान त्याग सम्भव न हो तो इन लोगों का देशगत जो सम्बन्ध है, वही रहेगा । किन्तु एक के स्थिर भाव के परिवर्तन में यदि गतिमत्ता स्वीकार कर ली जाय तो सम्बन्ध में भी परिवर्तन होगा । पर सभी अगर समरूप में, समवेग से आपस में व्यवधान रखते हुए गतिशील हों तो इस गतिशीलता के बावजूद सम्बन्ध में परिवर्तन नहीं होगा ।

देशगत सम्बन्ध की इस विशेषता को जन साधारण नहीं समझ सकेंगे । किन्तु काल के बारे में इस तरह की गतिमत्ता की सम्भावना साधारण लोगों में विद्यमान नहीं है, क्योंकि साधारण लोग अपनी परिस्थिति का परिहार करते हुए (पूर्णतः या अंशतः) स्थित्यन्तर ग्रहण नहीं कर पाते । केवल योगियों के लिए यह संभव है । पर लौकिक उदाहरण के द्वारा यह भी स्पष्टीकृत होगा । कलकत्ते में जब सूर्योदय होता है, उसके काफी पहले सूर्योदय हो जाता है, पर काशी में तबतक सूर्योदय नहीं होता । अतएव कलकत्ता निवासियों के लिए जो सूर्योदय काल है, वह ब्रह्मवासियों के लिए पूर्वाह्न और काशीवासियों के निकट रात का अन्तिम भाग है । देश के साथ रिश्ता तोड़कर जागतिक काल में आनन्द नहीं लिया जा सकता । उदयकाल कहने पर किसी न किसी देश को ग्रहण करते हुए उदयकाल कहना पड़ेगा । मध्याह्न आदि काल के बारे में यही नियम है । देश-सम्बन्ध वर्जित उदयकाल सम्भव नहीं है । जागतिक देश गतिशील होने के कारण उसका उदयकाल स्थायी नहीं होता । किन्तु नित्य धाम में वास्तविक गति न रहने की वजह से वहाँ का प्रत्येक काल ही नित्य है अर्थात् ऐसे नित्य देश हैं जहाँ स्थिर होने के कारण वहाँ का उदयकाल भी नित्य है । अर्थात् वहाँ से सर्वदा नवोदित भाव देखने में आता है । वहाँ से सूर्य की ऊर्ध्वगति और पूर्वाह्न-मध्याह्न आदि काल कभी भी प्रतीतिगोचर नहीं होते । इसी प्रकार ऐसे भी देश हैं जहाँ सर्वदा मध्याह्न है, पूर्वाह्न नहीं है, अपराह्न नहीं है, रात्रि नहीं है । नित्य देश अनन्त हैं । देश भेद के अनुसार प्रत्येक काल ही नित्य है । किन्तु अनित्य जगत् में गतिशीलता होने के

कारण व्यावहारिक रूप में हम किसी काल को नहीं पाते । किन्तु देश की गतिशीलता के अनुरूप गतिशीलता को अपने ऊपर आरोपित कर सकने पर नित्य काल का आभास इस जगत् में बैठे-बैठे प्राप्त किया जा सकता है । नित्य काल को निर्विशेष मत सोचियेगा । कारण, निर्विशेष काल उदयकाल, मध्याह्नकाल, अपराह्नकाल में इस प्रकार के भेद नहीं रहते । मैं यहाँ सविशेष काल की चर्चा कर रहा हूँ । सविशेष काल भी नित्य है । इसके रहस्य को एकमात्र योगी ही भेद कर सकते हैं । इस रहस्य को भेद न कर पाने पर नित्य लीला की अनुभूति सम्भव नहीं होती । कारण, कूटस्थ में लीला नहीं है । निर्विशेष सत्ता में लीला नहीं है । शक्तिहीन स्वरूप में लीला नहीं है । इस लीला का आविष्कार ही योग की महिमा है ।

सूर्य के उदयकाल में 'क' नामक द्रष्टा कलकत्ते में मौजूद है । उसके निकट वह प्रातःकाल है । छः घण्टे बाद कलकत्तावाले 'क' के लिए मध्याह्नकाल होगा । किन्तु उस वक्त योरोप के पश्चिमी भाग में प्रातःकाल होगा । किन्तु 'क' अगर अपनी योगशक्ति के प्रभाव से गतिशील होकर मनोवेग से अर्थात् बिजली की अपेक्षा तीव्रतर वेग से योरोप के पश्चिमी प्रान्त में मौजूद हो जाय तब वह सूर्योदय देख सकेगा और तब उसके लिए वह समय प्रातःकाल होगा । कलकत्ते में रहते हुए वह अपनी दृष्टि को संचालित नहीं कर सकता, इसलिए वह मध्याह्नकाल अनुभव करता है और प्रातःकाल का नहीं कर पाता । पृथ्वी या सूर्य के अनुरूप गति अपने में विकसित होने पर किसी भी विशिष्ट काल को लौकिक परिवर्तित अवस्था में रहते हुए उसे सर्वदा अनुभव किया जा सकता है ।

यहाँ मैंने अनुरूप गतिशीलता के द्वारा सविशेष काल की नित्यता को समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु इसके भीतर और भी सूक्ष्म रहस्य हैं । 'क' अपनी योगशक्ति के द्वारा योरोप के पश्चिमी हिस्से में बिजली के वेग की तरह उपस्थित होगा, यह मैंने बताया, किन्तु जगत् व्यापी सत्ता के साथ अगर 'क' अपने को युक्त कर सके तो उसे योरोप क्यों जाना पड़ेगा ? कारण, व्यापक सत्ता वहाँ पर भी है । चूँकि 'क' उस व्यापक सत्ता के साथ युक्त है, इसलिए उसकी इच्छा अन्य स्थानों तथा पश्चिमी योरोप में स्फुरित हो सकती है । अगर ऐसा हो जाय तो 'क' प्रातःकाल का अनुभव करेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं, बल्कि उसे योरोप भी नहीं जाना पड़ेगा । इस तरह अखण्ड व्यापक सत्ता के सहारे सभी प्रकार के सविशेष काल का आस्वादन किया जा सकता है । व्यापक सत्ता का विशेष अंश के साथ द्रष्टा विन्दु का योगस्थापन ही किसी एक विशिष्ट काल की अनुभूति का फल है ।

अतीत, अनागत और वर्तमान इन त्रिकालों के साथ सामान्यतः सभी लोग परिचित हैं, किन्तु एक अनन्त वर्तमान रूप महाकाल में ही है—अतीत और अनागत अव्यक्त रूप में है । वर्तमान का प्रकाश जब आवरण शून्य हो जाने पर सर्वदेश युगपत् अभिन्न रूप में स्फुरित होता है, इस वजह से तब अतीत और भी अनागत नहीं रहता । एकमात्र महावर्तमान ही विद्यमान रहता है । यही महावर्तमान योगी के लक्षण हैं । इसी को संधिक्षण कहते हैं । भूत-भविष्य के संधिस्थल में उसकी

उपलब्धि होती है । योगी के अलावा कोई भी भूत और भविष्य से अलग कर इस अन्तरालवर्ती क्षण को ग्रहण नहीं कर सकता । वास्तव में ग्रहण सभी करते हैं, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण लक्ष्य नहीं कर पाते ।

+ \+ \+ \+

जागतिक सृष्टि की प्रक्रिया के मूल में जैसे काल है, ठीक उसी प्रकार हमारे ज्ञान के मूल में काल है । कालगत समसूत्रता न रहने पर द्रष्टा दृश्य को देख नहीं सकेगा तथा भोक्ता भी भोग्य भोग नहीं कर सकेगा । काल तो आपेक्षिक है, इसे समझने में अधिक सूक्ष्म चिन्ता की आवश्यकता नहीं होती । दरअसल द्रष्टा और दृश्य—एक ही आपेक्षिक काल में मौजूद रहें तो दर्शन का विषय निष्पन्न हो सकता है । द्रष्टा शुद्ध अवस्था में सर्वदा वर्तमान काल स्थिति करते हैं । दृश्य के वर्तमान रहने अर्थात् अभिव्यक्त रहने पर तथा द्रष्टारूपी विन्दु के साथ सम्बन्ध होने से दर्शन-क्रिया के सम्पन्न होने में सन्देह नहीं रहता । दृश्य वर्तमान रहने पर नित्य वर्तमान द्रष्टारूपी विन्दु के साथ उसकी समसूत्रता स्वाभाविक है । तादृश्य समसूत्रता के रहने पर भी सीमाबद्ध द्रष्टा के लिए दृश्य दर्शन नहीं भी हो सकता है । इसीलिए द्रष्टारूपी विन्दु के साथ सम्बन्ध अनिवार्य है, वर्ना द्रष्टा के दृष्टिगोचर होते हुए भी पूर्वोक्त दृश्य दिखाई नहीं देते, अर्थात् दृष्टि के सामने महासामान्य रूप में दृश्य वर्तमान रहते हैं, उसका विशिष्ट रूप स्फुरित नहीं होता । द्रष्टा और दृश्य के बीच अगर काल का पार्थक्य रहे तो वह दृश्य द्रष्टा के निकट अदृष्ट रह जाता है । किन्तु किसी प्रकार से हो, उस दृश्य की सत्ता को आभास रूप में द्रष्टा की दृष्टि के समीप ले आने पर—दृश्य वर्तमान है इसलिए दृष्टिगोचर होता है । दृश्य वस्तुतः द्रष्टा के निकट नहीं आता, केवल आभास आता है । यों कह सकते हैं कि अगर उसकी दृक्शक्ति को आभास रूप में दृश्य के निकट प्रेषित कर सकें तो द्रष्टा की आभासदृष्टि में आलोकित होकर द्रष्टा के सामने दृश्य का स्फुरण होता है । द्रष्टा द्रष्टा ही रहता है तथा उनकी दृक्शक्ति भी वर्तमान का त्याग नहीं करती, फिर भी विक्षेप वृत्ति की सहायता से दृक्शक्ति का आभास संचारित हो सकता है । इन दोनों प्रकार के आभासों के संचार की जड़ में ऐसी शक्ति की क्रिया है जो न केवल द्रष्टा है, बल्कि दोनों दृश्यों का अधिष्ठाता भी है ।

इस बारे में सूक्ष्म आलोचना करने के पहले देश के साथ काल के सम्बन्ध की चर्चा करना आवश्यक है । हम प्रचलित प्रथा के अनुसार सत्य, द्वापर, त्रेता और कलि इन चार युगों का निर्देश करते रहते हैं, यह काल की अवरोहिणी धारा का निर्देशन है । विपरीत क्रम में आरोहिणी धारा समझना चाहिए । मान लीजिए कि इस अवरोध क्रम को समझने के लिए मात्रागत भेद का अनुसरण करते हुए १६, १५, १४, १३ आदि क्रम से हम संख्या का विनाश कर रहे हैं । ऐसी हालत में समझ लेना चाहिए कि सत्ययुग के आदि विन्दु में षोड़श मात्रा का पूर्ण प्रकाश था । इस प्रकाश के १६ से १३ तक की मात्रा को सत्ययुग की सीमा मान लेना पड़ेगा । यद्यपि यह उदाहरण के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए कह रहा हूँ । इसी १२ मात्रा से ६ म मात्रा के अणु तक त्रेता मानना पड़ेगा । ८ म मात्रा से

५ म के निम्नतम अणु तक द्वापर और ४ र्थ से शून्य की पूर्वावस्था तक कलि का पदवाच्य है । यह जो काल का स्रोत है, यह १६ से अर्थात् पूर्ण से एक होकर शून्य की ओर निरन्तर दौड़ रहा है । मगर काल आपेक्षिक है, यह पहले ही कहा जा चुका है । इसलिए विशिष्ट देशों के सम्बन्ध को छोड़कर इस काल-प्रवाह को समझा नहीं जा सकता । जैसे सूर्य उदयकाल से लेकर पुनरूदय काल तक आवर्तित हो रहा है, ऐसा मान लिया जाय, फिर भी सूर्य का उदयकाल या पूर्वाह्न आदि अन्य कोई भी कालविशिष्ट देश से सम्बन्ध है इसे मूल में ही समझना पड़ेगा । द्रष्टा निराधार नहीं है, वह जिस आधार या भूमिका के सहारे दृष्टिपात कर रहा है, उसके अनुसार ही उदयकाल या पूर्वाह्नकाल आदि व्यवहार सिद्ध होते हैं । कारण, अगर द्रष्टा एक भूमि में रहे तो उदयकाल है, वह अन्य भूमि में रहे तो वहाँ अस्तकाल होना विचित्र नहीं है । काल के स्रोत का रहस्य समझने के लिए विशिष्ट देशों का सम्बन्ध पहले से जान लेना आवश्यक है ।

पूर्वोक्त उदाहरण से समझ सकते हैं कि जब यहाँ संध्या है तब अन्यत्र प्रभातादि या अन्यकाल है । उसी प्रकार जब यहाँ कलियुग है तब अन्यत्र सत्य, त्रेता या द्वापर है अर्थात् अन्य कोई युग है अतएव कलि कहने पर सर्वत्र समरूप में कलि का प्रभाव होगा, ऐसी बात नहीं है । किसी स्थान पर सत्ययुग, किसी स्थान पर त्रेतायुग और किसी स्थान पर द्वापरयुग चल रहा है । कलियुग में भी अवान्तर भेद है मानना पड़ेगा । इस विशाल जगत् में ऐसे स्थान हैं जहाँ अभी तक सत्य, त्रेता या द्वापरयुग चल रहा है अर्थात् एक ही समय में भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न युग मौजूद हैं । इसीलिए एक युग के लोग अन्य युग का पता नहीं पाते । इसीलिए पहले ही कहा था—द्रष्टा और दृश्य दोनों में कालगत समसूत्रता न रहने पर दर्शन नहीं होता ।

उपर्युक्त विवरण से सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए यह जान लेना पड़ेगा कि आधारगत भेद या वैचित्र्य केवल देश में ही निबद्ध नहीं है—यह प्रत्येक व्यक्ति में पर्यवसित है । कारण, प्रत्येक मनुष्य की देह ही उसकी कर्मभूमि है । एक ही स्थान में, एक ही देश में, नगर या गाँव में दो व्यक्ति ठीक एक ही काल में निवास नहीं करते । दोनों में कालगत वैषम्य रहता है । इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति रहस्यमय है । दोनों के परस्पर व्यवधान कालसाम्य प्रतिष्ठित न होने तक तिरोहित होना सम्भव नहीं है ।

जप (१)

यदि नाद, विन्दु और कला की जानकारी न हो तो जप-रहस्य समझा नहीं जा सकता ।

जप का उद्देश्य क्या है ? जप की विशेषता क्या है ? जप की सफलता किस पर निर्भर करती है ? इन सभी प्रश्नों का समाधान न कर पाने तक जप

शुद्ध नहीं होता । हम लोगों का चित्त सर्वदा नाना प्रकार के विकल्पों में आक्रान्त रहता है, इन आक्रमणों के कारण चित्त तरंगित होता रहता है । ये सभी विकल्प वासनात्मक हैं, इसमें सन्देह नहीं । किन्तु विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि वासना तो वायु की तरंग है । वायु की गति में वक्रता आने पर जो तरंगें उठती हैं, वही वासना है । उसे अणु कहते हैं । यह अशुद्ध शब्दात्मक है । हम लोग जिसे चित्तवृत्ति कहते हैं, उसके मूल में इस प्रकार के अणुओं के कम्पन मौजूद हैं—यही वासना का क्षोभ है । ४६ वायु ४६ प्रकार की गतियाँ हैं । इनके परस्पर मिश्रण से तथा उनके मिश्रण में असंख्य प्रकार की गतियाँ वायुमण्डल में प्रचलित हैं । ये सभी वास्तव में शब्द तरंगें हैं—मातृका की लहरें । जब किसी का चित्त इन लहरों से आक्रान्त होता है तब वह सदृश रूप में तरंगित हो उठता है । कौशल न जानने पर इससे कोई अपनी आत्मरक्षा नहीं कर पाता । फलस्वरूप आत्मा अपने स्वभाव सिद्ध द्रष्टभाव से स्खलित होकर चित्त के साथ तादात्म्य करती है और उस तरंग में तरंगित होती रहती है । आत्मा तरंग से अतीत होकर भी चित्त के साथ अविवेकवश चित्त के तरंग को अपने में आरोपित करती है । इसलिए सुख-दुःख रूपी विकार ग्रस्त होकर संसार-अनुभूति ग्रहण करने को बाध्य है ।

यह जो वायु-मण्डल के कम्पन हैं, ये सब वर्णमाला हैं । ये सब वर्ण उदित होकर परस्पर मिल रहे हैं और विभिन्न प्रकार के मिलन के फलस्वरूप चित्त में वृत्ति के रूप में अनुभूत हो रहे हैं । यही है—विक्षिप्तता ।

किन्तु इन तरंगों का मूल कहाँ है ? शुद्ध चिदाकाश में जो तरंगें होती हैं, वही नाद के हिल्लोल हैं । यह साक्षात् चित्शक्ति के अभिघात से सृष्टि में निरन्तर चल रहे हैं । इस सूक्ष्म नाद का सहारा लेकर मायातीत शुद्ध-जगत् प्रतिष्ठित है । इस शुद्ध आकाश में वायु की क्रिया नहीं है । वायु का स्वभाव है—तिर्यक गति—गति जहाँ वक्रताहीन है वहाँ वायु नहीं है, यह निश्चित है । पर गति है—इसे सरल गति कहते हैं । यह सरल गति अपने स्वभाव से च्युत न होकर भी वक्र गति का आकार धारण करती है । इसका कारण है—वायु का प्रभाव । अतएव चित्त को वक्र वायु के प्रभाव से मुक्त कराना ही उसकी विक्षिप्तता के परिहार का एकमात्र उपाय है । जप का उद्देश्य है वायु की वक्रता को दूर करना । जप का मंत्र नादात्मक होता है । फिलहाल वह किसी के निकट वर्णनात्मक रूप में प्रतिभात होने पर भी लम्बे समय तक जप करने के कारण मंत्र का वीर्य उत्पन्न होने के साथ ही उसे समझा जा सकता है । वास्तव में मंत्र जबतक नाद में परिणत नहीं हो जाता तबतक मंत्र चैतन्य प्राप्त नहीं करता—इसे समझ लेना चाहिए ।

मंत्र नाद में परिणत होने के समय पहले वह नाद से घिरकर चलता है । दो वर्णों के अन्तराल में नाद का प्रकाश होता है । तब क्रमशः वर्णगत वैशिष्ट्य नाद में लीन हो जाता है । तब लगता है जैसे एकमात्र नाद ही मौजूद है । वास्तव में वर्ण भी नित्य है । उसका ध्वंस नहीं होता । अगर वर्ण का ध्वंस होता तो नाद की अतीत भूमि में वर्ण को प्राप्त नहीं किया जा सकता था । किन्तु किया जा सकता है । कारण, अ-क-थ त्रिकोण रूपी महायंत्र में सभी वर्णों का युगपत्

समावेश है । इस स्थान पर प्रत्येक वर्ण की विशिष्टता अनुभूत होती है जबकि सभी वर्ण एक ही नाद स्वरूप है, एक वर्ण का दूसरे वर्ण से कोई भेद नहीं है, यह भी अनुभूत होता है । यदि वर्ण ध्वंसशील होते तो ब्रह्मज्योतिः कर नित्य सिद्ध साकार रूप का स्फुरण होना सम्भव नहीं होता ।

असल बात यह है—वर्णात्मक स्थूल शब्द के अन्तराल में नादात्मक चेतन शब्द को पहचान लेने पर वर्णगत सभी दोषों का उपसंहार हो जाता है । तब चैतन्य ही मुख्य होता है । एकाग्रता के यही लक्षण हैं । इस अवस्था में वक्र-वायु के तरंग नहीं रहते—केवल सरल गति रहती है । वही चैतन्य-शक्ति की लीला है जो महामाया का सहारा लेकर रहती है ।

अतएव जप करते-करते वर्ण शुद्धता प्राप्त कर नाद की अभिव्यंजना करता है ।

मंत्र के अन्तर्गत सभी वर्णों के मध्यस्थ जो व्यवधान है तथा आवर्तनकाल में भिन्न-भिन्न मंत्र शब्दों के मध्यस्थ में जो व्यवधान है—ये दोनों व्यवधान ही जप के प्रभाव से घटते जाते हैं । फलस्वरूप क्रम क्रमशः ह्रास होता रहता है । बहु के अन्तराल में कमी होने पर चरमावस्था में बहु एक में परिणत हो जाता है—तब क्रम नहीं रहता, काल नहीं रहता । वही चैतन्य का विकास है। कारण, चित्त का भिन्न-भिन्न अग्रभाग एक विन्दु में मिलने पर जो स्थिति होती है, वही एकाग्रता है । उस वक्त बहु नहीं है, इसलिए वर्ण नहीं है । जो है वह एक है—अखण्ड चैतन्यमय ध्वनि मात्र है ।

इसी प्रकार क्रमशः बहु को एक में प्रत्यावर्तन करना चाहिए । एक में जाने पर चैतन्य की स्फूर्ति मिलती है । वह स्थायी नहीं होता । इसके अलावा उसका भी विकास आवश्यक है । इसीलिए इसी एक को बहु के मध्यस्थ एक समझते हुए ग्रहण कर, उसी स्तर के बहु को पुनः उच्चस्तर एकता में पर्यवसित करना चाहिए । चरमावस्था में महाविन्दु तक पहुँचने पर कुछ भी करणीय नहीं रहता । तब आसन प्रतिष्ठित होता है । इष्टरूपी गुरु या गुरुरूपी इष्ट अथवा दोनों मिलकर युगपत् उसमें आसीन होते हैं ।

जप (२)

जप के बारे में कुछ लिखने के पहले उसके सम्बन्ध में दो-एक बातों की चर्चा करना आवश्यक है ।

जप और ध्यान इन दोनों के बारे में साधकों के अधिकार भेद के कारण मतभेद है । किसी के मत से जप के बाद ध्यान अनुष्ठेय है और किसी के मत से बिना ध्यान किये जप में प्रवृत्त होना उचित नहीं है । जप का उद्देश्य है आमंत्रण पूर्वक आकर्षण । अर्थात् इष्ट का चिन्तन । जप का विषय या नाम कुछ भी क्यों

न हो, वह सिद्ध शब्द के अन्तर्गत है, इसमें कोई सन्देह नहीं । नाम और नामी का सम्बन्ध अच्छेद है, इसीलिए प्राचीन ऋषियों ने शब्द और अर्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध को वाच्य और वाचक कहा है । नाम का आश्रय लेकर रहने पर नामी का आविर्भाव अवश्य होगा । नाम के बारे में जो कुछ कहा गया, बीज के बारे में भी वही एक ही तत्त्व है समझना पड़ेगा । नाम और बीज के पार्थक्य के बारे में यहाँ कुछ बतलाने की जरूरत नहीं है ।

नाम या बीज जो भी हो, दोनों ही शब्दात्मक हैं । यह शब्द कुण्डलिनी-शक्ति से उत्पन्न होता है । कुण्डलिनी-शक्ति चिदाकाश स्वरूप महामाया का नामान्तर है। जब सद्गुरु के कृपा कटाक्षवश अर्थात् चित्शक्ति के उन्मेषवश कुण्डलिनी क्षुब्ध होती है अर्थात् स्पन्दित होती है तब महानाद का आविर्भाव होता है । मंत्रादि शुद्ध शब्दमात्र ही महानाद के प्रकारभेद हैं अर्थात् एक महानाद ही है जो व्यक्तिगत संस्कार और वासनारूप उपाधि का तारतम्यवश विभिन्न मंत्र एवं नामरूप में आत्मप्रकाश करता है । यह शुद्ध शब्द कुण्डलिनी से उत्पन्न होता है, इसीलिए कुण्डलिनी-शक्ति को शुद्ध-सृष्टि की जननी कहा जाता है ।

कुण्डलिनी-शक्ति का एक नाम विन्दु है । यह जीवदेह के मूलाधार-चक्र अथवा उसके नीचे आधार कमल में अनादिकाल से सुषुप्त भाव में विराजमान है ।

इस सुषुप्ति में भी जीव को अनन्त प्रकार के स्वप्नदर्शन हो रहे हैं । यही जागतिक ज्ञान का स्वरूप है । कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर निद्रा भंग हो जाती है, इसलिए स्वप्नदर्शन नहीं होता । अर्थात् तब सत्य वस्तु से साक्षात्कार होता है या उपक्रम होता है और इसी अनुपात से मिथ्याज्ञान और मिथ्या-दर्शन क्रमशः तिरोहित होते रहते हैं । सत्य-दर्शन पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित होने पर मिथ्या-दर्शन और उसका कार्य हमेशा के लिए अस्तमित हो जाते हैं । इसे ज्ञानचक्षु का उन्मेष कहा जाता है । साधकगण जिस अवस्था को षट्चक्रभेद कहते हैं, वह वास्तव में ज्ञानचक्षु के उन्मीलन के अलावा अन्य कुछ नहीं है ।

जप का मुख्य उद्देश्य ज्ञानचक्षु का उन्मीलन है । जिस कुण्डलिनी-शक्ति की चर्चा आगे कर चुका हूँ, उसे उद्बुद्ध करना ही ज्ञान का विकास है । यह क्रमशः हो सकता है और तगड़ा उच्च अधिकारी होने पर क्षण भर में हो सकता है । जिन लोगों का अचानक यानी एक क्षण में ज्ञानचक्षु का स्फुरण होता है, उन लोगों की क्रम विकास अवस्था नहीं रहती या पता नहीं लगता । इन लोगों के बारे में न कहकर साधारण साधकों के सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ कहूँगा ।

भौंहों के मध्य विन्दु का स्थान है । चित्त एकाग्र होने पर इसकी रश्मियाँ चारों ओर से उपसंहित होकर विन्दु में वापस आ जाती हैं । जिस प्रकार सूर्यमण्डल से किरणें चारों ओर विकीर्ण होती हैं, उसी प्रकार चित्तविन्दु से उसकी रश्मिमाला बिखर जाती हैं । इसे विक्षिप्त-अवस्था कहते हैं । साधक साधना के जरिये गुरुकृपा से इन विक्षिप्त रश्मि समूह को वापस ले आता है और केन्द्र स्थान पर प्रतिष्ठित

करता है । इसी का दूसरा नाम एकाग्रता है । एकाग्रता के साथ-साथ ज्ञान की उज्ज्वल ज्योति प्रकट नहीं हो सकती ।

इस एकाग्रता की प्राप्ति साधारण साधकों के निकट क्रमशः सिद्ध होती है । इस क्रम का अनुसंधान करते हुए यथाविधि उसका अनुसरण करना ही योगी का कर्त्तव्य होना चाहिए । मूलाधार से आज्ञाचक्र तक जो छः चक्र हैं, वे यंत्र स्वरूप हैं । इन यंत्रों की बहिर्मुखी गति में जिस प्रकार सृष्टि का विकास होता है, उसी प्रकार अन्तर्मुखी गति में सृष्टि का उपशम होता है । निवृत्ति मार्ग का साधक सृष्टिमुख में न जाकर लय के पथ पर बढ़ जाता है । मूलाधार चक्र में चार पृथक-पृथक दल के रूप में चार रश्मियाँ या वर्ण विकीर्ण हैं । इन चक्रों का मध्य विन्दु चक्रेश्वर या चक्र की केन्द्रशक्ति का अधिष्ठान है, या यों कह सकते हैं कि मूलाधार चक्ररूप राज्य का राज्यसिंहासन ही वह मध्यविन्दु है । वे चारों वर्ण या रश्मियाँ इस राज्य को प्रकाशमान करते हैं । इनके बारे में अलग से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है । कारण, एक रश्मि संकुचित करने पर उसकी आश्रित अन्य सभी रश्मियाँ अर्थात् उपरश्मियाँ अपने आप संकुचित हो जाती हैं । जिस प्रकार मूलाधार चतुर्दल है, उसी प्रकार स्वाधिष्ठान षड़दल, मणिपुर दशदल, अनाहत द्वादशदल, विशुद्ध षोड़शदल और आज्ञाचक्र द्विदल है । दलसंख्या की समष्टि पचास हैं । इन पचास दलों में अकारादि वर्णमाला के पचास वर्ण हैं । यही अक्षमाला है—यही योगी की जपमाला भी है ।

जप-रहस्य (१)

वाचिक-जप से उपांशु-जप श्रेष्ठ है और उपांशु-जप से मानस-जप श्रेष्ठ है, यह बात शास्त्रों में सर्वत्र है । वाचिक-जप में बाह्य वायु का सम्बन्ध अधिक रहता है, पर उपांशु-जप में यह सम्बन्ध टूट जाता है, किन्तु कुछ-कुछ रह जाता है । वास्तविक मानस-जप में बाह्य जप का सम्बन्ध एक प्रकार से नहीं रहता, ऐसा कहा जा सकता है । बाह्य वायु के प्रभाव के कारण चित्त विक्षिप्त हो जाता है । फलस्वरूप जिस अनुपात से वह प्रभाव घटता जाता है, उसी अनुपात से विक्षिप्तता में कमी होती रहती है । वाचिक-जप की अपेक्षा मानसिक-जप में एकाग्रता की अधिक आवश्यकता होती है और इसीलिए जप का उत्कर्ष अधिक है, यह समझ में आ जाता है । वाचिक-जप श्वास-प्रश्वास की क्रिया स्वाभाविक रूप से चलती रहती है, किन्तु ठीक ढंग से यथाविधि जप होने पर श्वास-प्रश्वास की गति मन्द हों जाती है । श्वास की गति कम होने के साथ-साथ प्रयत्न न करने पर भी वाचिक-जप उपांशु-जप में परिणत हो जाता है । श्वास-प्रश्वास की गति एकान्त रूप से क्षीण होने पर बिना प्रयत्न के उपांशु-जप मानसिक-जप में परिणत हो जाता है । उस वक्त बाह्य वायु की क्रिया प्रायः स्तम्भित होती है अर्थात् इड़ा-पिंगला की क्रिया काफी शान्त हो जाती है ।

जप के प्रसंग में जो शक्ति अब तक इड़ा-पिंगला के पथ पर संचरण कर रही थी, वह तब सुषुम्ना में प्रविष्ट होती है । अतएव अब तक जो शब्द बाहर उच्चारित हो रहा था, सुषुम्ना में शक्ति के अन्तःप्रवेश के साथ-साथ अर्थात् मध्यमा में वायु के प्रवेश के फलस्वरूप वह भीतर ही भीतर उच्चारित होता रहता है । किन्तु यह बाह्य उच्चारण तथा आभ्यन्तरीण उच्चारण ठीक एक प्रकार का नहीं है । बाह्य उच्चारण बाह्य वायु की सहायता से सम्पन्न होता है, यह वायु इड़ा-पिंगला के पथ से प्रवाहित है । किन्तु आभ्यन्तरीण उच्चारण भीतर के वायु के द्वारा सिद्ध होता है, यह वायु सुषुम्ना के मार्ग से प्रवाहित होती है । बाह्य वायु स्थूल और भीतर की वायु सूक्ष्म है । सुषुम्ना में वायु की गति ऊर्ध्व न होने पर वास्तविक मानसिक जप नहीं होता । बाह्य वायु को इच्छाशक्ति के द्वारा संचालित करते हुए ध्वनिरूप में परिणत करना पड़ता है । मगर सुषुम्नास्थित वायु नियत ऊर्ध्व गमनशील होने के कारण वहाँ निरविच्छिन्न रूप में ध्वनि उत्पन्न हो रही है । सुषुम्ना निरन्तर शब्दमय है । इसके साथ कुण्डलिनी का घनिष्ठ सम्बन्ध है । दीर्घकाल तक बाह्य जप के अनुष्ठान के कारण जब सुषुम्ना में किंचित प्रवेश होता है तब पूर्वोक्त बाह्य जप का संस्कार सुषुम्ना को रंजित करता है । इसके कारण अनविच्छिन्न नाद साधक के बाह्य जप के अनुरूप ध्वनिरूप में परिणत होकर श्रुति गोचर होता है । इस अवस्था में मंत्र-जप भीतर में अपने आप होता रहता है, प्रयत्न नहीं करना पड़ता । वास्तव में यह अजपा की एक अवस्था है । प्रचलित मानसिक-जप से यह मानसिक-जप अनेकांश में पृथक है—कारण, प्रचलित जप में साधक का प्रयत्न रहता है, किन्तु इस प्रकार के मानसिक-जप में प्रयत्न नहीं रहता ।

वैखरी से मध्यमा, मध्यमा से पश्यन्ती तथा पश्यन्ती से परा—यही है स्वाभाविक क्रम । वाचिक और उपांशु-जप दोनों ही वैखरी में होता रहता है, पर मानसिक-जप मध्यमा के बिना नहीं हो सकता । वैखरी में शब्द और अर्थ का पार्थक्य विद्यमान रहता है । पश्यन्ती अवस्था में शब्द और अर्थ एक सत्ता में परिणत होता है । यही है चैतन्य का स्फुरण । आत्म साक्षात्कार, मंत्र सिद्धि, इष्ट दर्शन, अपरोक्ष दर्शन आदि पश्यन्ती अवस्था के व्यापार हैं । परावस्था अव्यक्त है । मध्यमा-अवस्था में ही शब्द से ज्योति का आविर्भाव आरंभ होता है, हृदय का संचित अंधकार मध्यमा नाद के समय विगलित हो जाता है । वैखरी और पश्यन्ती की अन्तराल अवस्था में बाह्य-दृश्य-जगत् तिरोहित होकर स्वच्छ प्रकाश में प्रकाशमान भावमय हो एक अनन्त जगत् प्रकट हो जाता है । यह जगत् उपसंहृत होने के साथ-साथ उक्त व्यापक आलोकराशि एवं तदालोकित अनन्त दृश्य राशि विशुद्ध ज्योति रूप में परिणत होता है । यही है आत्मज्योति । यह पश्यन्ती वाक् की अवस्था है । इस ज्योति में डुबकी लगा सकने पर डूबकर आत्महारा न हुआ जाय तो ज्योति में आत्मस्वरूप का दर्शन हो जाता है । इसकी भी परावस्था है । उसका वर्णन यहाँ अनावश्यक है ।

वर्णात्मक शब्द से ध्वन्यात्मक शब्द में प्रवेश न कर सकने पर योगपथ नहीं मिलता । ध्वन्यात्मक शब्द ही नाद है । वर्णरूपी शब्द जबतक विगलित होकर

वैचित्र्य का परिहार न कर ले तबतक नादरूपी शब्द की उपलब्धि नहीं होती । नाद के बिना विन्दु की उपलब्धि कैसे हो सकती है ? जिस प्रकार रेखा गतिहीन होने पर विन्दु का रूप धारण करती है, उसी प्रकार नाद भी प्रवाहहीन होने पर विन्दु रूप में परिणत हो जाता है । यह विन्दु ही पूर्व वर्णित ज्योति है । आत्मस्वरूप की यही अभिव्यंजक है ।

शास्त्र तथा महाजन गणों के अनुभव से जप के अनेक रहस्यों से परिचित हुआ जा सकता है । किन्तु इन सभी रहस्यों का विश्लेषण करने पर कोई विशेष लाभ नहीं होता । कारण जबतक साधक का चित्त कृत्रिम उपाय से स्वभाव सिद्ध अकृत्रिम उपायों का सहारा नहीं लेता तबतक कार्यक्षेत्र में विशेष लाभ की संभावना नहीं रहती । जब सद्गुरु कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत कर शिष्य के अधिकार के अनुसार किसी न किसी प्रकार दीक्षा प्रदान करते हैं तब उक्त दीक्षा के मामले में साथ ही साथ विशुद्धकाय अभिव्यक्त होता है, वही वास्तव में शिष्य का स्वदेह होता है । बीज जिस प्रकार अंकुरित होकर वृक्ष का रूप धारण करता है और यथा समय फल का आविष्कार होता है, उसी प्रकार गुरुदत्त बीज शिष्य के हृदयरूपी क्षेत्र में यथाविधि पतित होकर अंकुरित होने लगता है, चाहे वह शीघ्र हो या विलम्ब से हो, ज्ञानरूप देह वह उत्पन्न करेगा ही । जिस प्रकार बीज अपने अन्तर की स्वाभाविक शक्ति के प्रभाव से विकास करता है और बाहर से केवल परिकर्म की उसे आवश्यकता होती है, उसी प्रकार बीज गुरुशक्ति या चैतन्यशक्ति के प्रभाव से शिष्य के क्षेत्र में उप्त होकर अपने आप विकास प्राप्त करता है । शिष्यकृत साधना परिकर्म के रूप में प्रतिबंधकों को दूर कर उसकी अभिव्यक्ति में सहायक होती है । शिष्य की सभी क्रियाएँ गुरुदत्त अथवा गुरु कर्तृक अभिव्यंजित चैतन्य-शक्ति की सहायता से सम्पन्न होती हैं । इसलिए यहाँ स्मरण रखना होगा कि जपादि सभी साधन क्रियाएँ एकमात्र उद्बुद्ध कुण्डलिनी-शक्ति के द्वारा सम्पन्न होती हैं । यही स्वाभाविक साधन है । कर्तृत्वाभिमानशील जीव इस साधना को करने में समर्थ नहीं होता । कारण, देहाभिमान के अतीत शुद्ध चैतन्यशक्ति या गुरुशक्ति अपने स्वभाव से उसका निर्वाह करती रहती है । इस अवस्था में जो जपादि होते हैं, वे प्रचलित जपादि से कुछ विशिष्ट होते हैं । वास्तव में यह अजपा की लीला है । कारण, इसके मूल में स्थूलदेही जीव की कोई चेष्टा नहीं रहती । किन्तु प्राःकृतिक प्रभाव से जो भाव चलते रहते हैं और एक के बाद एक जितनी अवस्थाओं का उद्भव होता है, उसे साक्षी रूप में जीव अनुभव करता है ।

किन्तु कुण्डलिनी-शक्ति को बिना जगाये साधना का यह स्वाभाविक मार्ग प्राप्त नहीं किया जा सकता । गुरु दीक्षा के समय शिष्य को चैतन्य का आभास मात्र देकर साधन-प्रणाली का उपदेश देते हैं । शिष्य को पुरुषाकार अथवा प्रयत्न करके साधना करनी पड़ती है और आभास रूपी चैतन्य की सहायता से कुण्डलिनी को जगाना पड़ता है । दीर्घकाल तक साधना करने पर कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होकर साधक को विशुद्ध चैतन्यस्वरूप में प्रतिष्ठित करती है । इस स्थिति में जपादि सभी प्रकार के साधन प्रयत्न पूर्वक करना नहीं पड़ता । केवल प्राकृतिक शक्ति के द्वारा

अर्थात् पुरुषाकार निरपेक्ष स्वभाव के द्वारा वह निष्पन्न हो जाता है । साधना करते-करते चैतन्य का विकास सिद्ध हो जाने पर साधना की फिर आवश्यकता नहीं होती और जो आभासरूपी चैतन्य था, वह विशुद्ध चैतन्यरूप में प्रकट होता है । इस प्रकार के साधक विभिन्न प्रकार के कौशल का सहारा लेकर वैखरी भूमि से पश्यन्ती भूमि की ओर अग्रसर होते हैं ।

जो साधक गुरु से शुद्ध चैतन्य-शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी का जागरण अथवा चैतन्य का आभास मात्र प्राप्त नहीं कर पाते, वे चैतन्य-शक्ति के सम्बन्ध में विरहित रहते हैं, इसीलिए वास्तविक योगी या साधक किसी भी श्रेणी में वे नहीं आते । मगर यह सच है कि तीव्र संयोग, उत्कट इच्छा, वैराग्य एवं भगवत् भक्ति रहने पर वे लोग भी चैतन्यशक्ति या उसके आभास की सहायता प्राप्त कर लेते हैं । कारण, विश्वगुरु समग्र जगत् की उद्धार-कामना में नित्य सन्निहित हैं । उस प्रकार की व्याकुलता रहने पर आधार के अन्य प्रकार की अयोग्यता रहते हुए प्रत्यक्ष रूप न रहते हुए भी परम्परा में गुरुकृपा अवश्य होती है । फिर भी जबतक चैतन्य का संस्पर्श नहीं होता तबतक इन्हें यथार्थ सुफल प्राप्त नहीं होता ।

जप-रहस्य (२)

जप के कौशल के सम्बन्ध में अनेक बातें हैं । किसी प्रकार का कौशल अवलम्बन किया जाय, सभी दो भागों में विभक्त होने योग्य हैं । इनमें एक भाग प्राण की क्रिया के साथ संपृक्त है और दूसरा भाग उसी क्रिया के उपदर्शन के साथ है । प्राण की क्रिया स्वभावसिद्ध रूप में चलती है, किन्तु जप प्रथम अवस्था में स्वभावसिद्ध भाव में नहीं चलता—चेष्टा करके उसे सम्पन्न करना पड़ता है । चेष्टा के मूल में कृति साध्यता ज्ञान रहता है । प्रयत्नपूर्वक जप करते-करते प्रयत्न निरपेक्ष हो जाता है तब प्राण के स्वभावसिद्ध क्रिया के साथ वह जुड़ जाता है । जिन उपायों से इस कृत्रिम प्रक्रिया से स्वाभाविक प्रक्रिया में प्रविष्ट होना संभव होता है, उसका विवरण यहाँ देना अनावश्यक है । मगर यह कहा जा सकता है कि कृत्रिम साधना के समय में भी, अगर उस साधना के उपदेष्टा के रूप में अपने को नियमित रूप से कुछ समय के लिए स्थापित किया जाय तो साधना की कृत्रिमता अविलम्ब तिरोहित होकर स्वभावसिद्ध प्राण की धारा में परिणत हो सकती है । प्रथमावस्था में उपदर्शन का मुख्य कारण याद रहेगा, इसमें संदेह नहीं । वह चिदालोक का आलोकित मन है, सुप्तवत् निर्जीव मन नहीं है । चिदालोक कोई विशिष्ट साधन-सापेक्ष नहीं है । संयम और दृढ़ता के साथ प्राण की क्रिया की ओर निरन्तर, अचल लक्ष्य रखने पर जाग्रत मन का संधान पाना कठिन नहीं है । मन को जगा रखना ही उसे चैतन्य के आलोक में आलोकित करना है । किन्तु मन विषयहीन होकर जागता नहीं रहता । निरालम्ब स्थिति में मन अव्यक्त हो जाता है । वर्तमान स्थान में प्राण की क्रिया ही मन का आलम्बन है । यह क्रिया स्वभावसिद्ध हो या जपादि की प्राथमिक अवस्था की भाँति कृत्रिम हो, इससे कुछ आता-जाता नहीं ।

सुनियंत्रित मन के तीक्ष्ण लक्ष्य के सामने प्राणक्रिया सहज ही कृत्रिमता परिहार करता है और स्वभावसिद्ध क्रिया भी शीघ्र मन्दीभूत हो जाती है । चित्शक्ति का उन्मेष न होने तथा इस प्रक्रिया का कुछ दिनों तक न होने पर प्राण की स्वाभाविक क्रिया भी स्तंभित होने की तरह निश्चल हो जाती है, इस कारण प्रतीति का जन्म होता है । लौकिक दृष्टि से वह प्राणायान साम्यस्थापक कुंभक है, ऐसा लगता है । उस अवस्था में एक प्रशान्त भाव का उदय होता है । उस समय इन्द्रियों की क्रिया, प्राण की क्रिया एवं मन की क्रिया—तीनों क्रियाएँ उपरत होकर निष्क्रिय आत्मा की शुद्ध दृक्शक्ति प्रकाशमान होती है और अपने में स्वयं विश्राम करती है । यह स्थिति स्थायी न होने पर भी दीर्घकाल तक के अभ्यास से स्थायी रूप में परिणत हो सकती है । यह शान्ति की अवस्था है जो सुख-दुःख के अतीत है, जागतिक सभी प्रकार के पुरुषार्थ के अतीत एवं दुःख निवृत्ति और मुक्ति के समपर्यायभुक्त है ।

मगर यह दिव्यावस्था नहीं है । आगे चित्शक्ति के बारे में कह चुका हूँ । उसके अभाव में दिव्यावस्था का विकास नहीं हो सकता । चित्शक्ति का विकास होने पर कुंभक फिर कुंभक नहीं रहता । सृष्टि और संहाररूप स्वाभाविक क्रिया पूर्ववत चलती रहती है । किन्तु इसी नित्य क्रिया के भीतर स्थितिरूप निष्क्रिय सत्ता जाग उठती है । चित्शक्ति के उन्मेष न होने तक प्राण की क्रिया या प्रकृति की लीला अस्तमित रहती है । किन्तु चित्शक्ति के जागने पर स्पष्ट देखा जाता है—लीलातीत के भीतर नित्यलीला जारी है । उस समय एक ओर कुंभक रहता है जबकि रेचक-पूरक भी चलता रहता है । दोनों में आपात प्रतीयमान विरोध निवृत्त हो जाता है । उस स्थिति में आत्मस्वरूप के भीतर सर्वभूतों का दर्शन होता है । किन्तु उस अवस्था में प्रविष्ट होने के पूर्व सर्वभूतों के भीतर आत्मदर्शन होना आवश्यक है ।

पूर्वोक्त दशा की अभिव्यक्ति होने पर नित्य जप का पता चल जाता है । शक्तितत्त्व नित्य जपमय है, शिवतत्त्व जप से अतीत । शक्तितत्त्व शब्दमय, ज्ञानमय, भावमय, क्रियामय है, किन्तु शिवतत्त्व इन सभी के अतीत है जबकि शक्ति और शिव अविनाभूत है । कारण, शक्ति बिना शिव एवं शिव के बिना शक्ति रह नहीं सकते । इसके बाद ही समझ में आता है कि जो शिव है, वही शक्ति है । जप और अजपा, साकार और निराकार, शक्ति और शिव का आत्यन्तिक अभेद उस वक्त उपलब्धि देखने में आती है ।

अतएव प्रथम कर्त्तव्य है—द्रष्टा बनकर प्राणरूपा प्रकृति की लीला का अखण्ड दृष्टि से निरीक्षण करना । इस निरीक्षण के प्रभाव से इड़ा-पिंगला से वायुप्रवाह अपसारित होकर सूक्ष्म रूप धारण करता है और क्रमशः सुषुम्ना मार्ग में प्रवेश कर वज्रिणी और चित्रिणी नाड़ी को भेदकर मुख्य ब्रह्मनाड़ी में आ जाता है । वहाँ जाकर प्राण-प्रवाह ब्रह्मविन्दु रक्षात्मक अमृत-प्रवाह में परिणत हो जाता है । यही है माँ की गोद । विश्व मातृका पराशक्ति के अंक में शुद्ध चिदात्मक जीव स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर शिवशक्ति-सामरस्य के रस-सागर में मग्न होता है । इस अमृतह्रद में अवगाहन करने पर महानिर्वाण प्राप्त होता है, फिर हमेशा के लिए महानिर्वाण से मुक्ति मिल जाती है । कारण, "मक्षिका भी नहीं मरती जी, अमृतह्रद में ।"

कृत्रिम-अकृत्रिम वैन्दव देह

सद्‌गुरु का आश्रय प्राप्त होने पर अर्थात् सद्‌गुरु के निकट दीक्षित होकर यथार्थ योग-पथ पर आरूढ़ होने से आध्यात्मिक विकास अवश्य होगा, क्योंकि प्रतिकूल शक्ति के अभाव के कारण सद्‌गुरु की शक्ति जिसे क्षेत्र में निहित किया गया है, वह नियमानुसार क्रमशः अंकुरित होकर विकास के सभी स्तरों पर उत्तरोत्तर अधिकार करती रहती है। सद्‌गुरु की शक्ति साक्षात् भगवद्-शक्ति है। उनका अवरोध करने का सामर्थ्य जगत् की किसी शक्ति में नहीं है, इसीलिए एक बार उस शक्ति-क्षेत्र में बीज रूप में पतित होने पर उसका सुफल अवश्य प्राप्त होगा। पर कर्मी की कर्मगत शिथिलता एवं जड़ता आदि के प्रभाव के कारण विकास में विलम्ब हो सकता है। अगर जीव निर्विचार होकर उस शक्ति को धारण कर उसकी रक्षा कर सके तो विलम्ब का कोई विशेष कारण नहीं रहेगा।

किन्तु विकास होते ही वह अनुभूति गोचर होगा, ऐसी कोई बात नहीं है। कारण, प्रतिबन्धक रहने पर विकसित वस्तु की भी अनुभूति नहीं होती। जबतक पाँचभौतिक स्थूल आधार में जीव का अभिमान विशिष्ट रहता है तबतक नाना कारणों से इस उपलब्धि की बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। इसलिए स्थूल देह अर्थात् भौतिक पिण्ड को यथायथ रूप से शुद्ध न कर पाने पर अन्तःस्थित विकसित सत्ता की उपलब्धि नहीं होती। उपलब्धि न होने पर जीवन्मुक्ति का आनन्द आविर्भूत नहीं होता। जीवन्मुक्ति न होने पर भी देहान्त में परमामुक्ति अप्रतिहत होता है।

अब प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि प्रतिबन्ध के कारण योगाभ्यासी अपनी आध्यात्मिक उत्कर्ष की उपलब्धि प्रत्येक समय नहीं कर पाता। वास्तव में यदि उपलब्धि का उपाय न रहे तो उक्त आध्यात्मिक उत्कर्ष या अपकर्ष केवल व्यर्थ के विश्वास की वस्तु के रूप में रह जाता है।

इसका उत्तर यह है कि जिस वस्तु की अभिव्यक्ति हो गयी है, उसे ग्रहण करने योग्य शक्ति का विकास न होने पर अभिव्यक्त वस्तु की सत्ता भी उपलब्ध नहीं होती। आँख के न रहने पर जिस प्रकार भौतिक रूप की सत्ता समझ में नहीं आती, ठीक उसी प्रकार अन्तर्दृष्टि के विकास के बिना आभ्यन्तरीण सत्ता का निःसंशय अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता। ऐसे स्थान पर जिनकी अन्तर्दृष्टि का विकास सिद्ध हुआ है, उनके वाक्यों को विश्वास के साथ ग्रहण करना उचित है। अक्षत-विश्वास ग्रहण करने पर साधक या योगी कभी क्षतिग्रस्त नहीं होता। वास्तव में इस प्रकार का अटल और दृढ़ विश्वास भाग्य से प्राप्त होने पर विकास हो रहा है या नहीं, यह जानने की इच्छा मन में उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि इस प्रकार की इच्छा का उदय होना संशय का लक्षण है।

विकास की उपलब्धि करना साधक के लिए शुभ है या अशुभ, यह समीक्षा का विषय है, किसी-किसी स्थान पर अपनी उन्नति न समझ सकना, अर्थात् मार्ग चलते समय गम्यस्थान में अब कितना व्यवधान रह गया है, इसे न समझ सकना,

क्षिप्र-सिद्धि के लक्षण हैं । अर्थात् जो सरल विश्वास के साथ गुरु वाक्य का पालन करता है अथवा करने का प्रयत्न करता है अथवा प्रयत्न करने का संकल्प करता है, उसके लिए कुछ जानने का प्रयोजन नहीं होता । कारण, जो फल लम्बे अर्से के बाद सम्पन्न होना है, गुरु वाक्य में निष्ठा रहने पर अति द्रुत गति से सम्पन्न हो सकता है, इसी प्रकार निष्ठा के अभाव के कारण जो फल शीघ्र निष्पन्न होना चाहिए, उसके आविर्भाव में विलम्ब हो जाता है । देश और काल दोनों ही कल्पित हैं, यहाँ तक कि कार्यकारण भाव भी कल्पित हैं । तीव्र संवेग होने पर जगत् में कुछ भी असम्भव नहीं होता । अचल विश्वास और तीव्र संवेग दोनों एक ही बात हैं । वास्तव में इस प्रकार का विश्वास रहने पर गुरु तत्वों पर विचार करना अनावश्यक हो जाता है । कारण, एक अनन्त चिन्मयी सर्वसत्ता सर्वत्र व्याप्त है । सरल विश्वास से उन्हें अपना लेने पर सद्‌गुरु का आश्रय ग्रहण हो जाता है । मगर इस तरह का विश्वास लेकर कार्य करना भाग्याधीन होता है । सभी के लिए सम्भव नहीं होता । ईश्वर की इच्छा से विष अमृत बन जाता है और अमृत विष बन जाता है । उनकी इच्छा के अलावा मूलतः विष या अमृत नाम से कुछ नहीं है । आवश्यकतानुसार दोनों में स्फुरण हो सकता है । जो विश्वासी हृदय सरल विश्वास के साथ अमृत पिपासु होकर उनकी ओर दृष्टिपात करते हैं, वे कभी प्रतारित नहीं होते । संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो उसे वंचित कर सके ।

श्रेष्ठ अधिकारी पुरुष अपने विकास के बारे में जानने की चेष्टा नहीं करते, क्योंकि इससे चित्त के ऊपर प्रभाव पड़ता है और चरम सिद्धि-प्राप्ति में विलम्ब होता है । ऐसे साधक बहुत कम हैं जो अपनी उन्नति या अवनति का अनुभव करते हुए निर्विकार रहें । इसलिए जानने की चेष्टा न करके सरल विश्वास के सहारे रहना चाहिए । पर जो लोग इतने धैर्य-सम्पन्न नहीं हैं, वे अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न योग्य लोगों से कितना विकास हुआ है, जान ले सकते हैं । यहाँ भी एक बात है । शक्तिशाली गुरु अगर शिष्य के कल्याण के लिए उसकी आध्यात्मिक उन्नति के बारे में तत्काल कुछ नहीं जताना चाहते तो कोई भी अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न पुरुष उसे जान लेने में समर्थ नहीं हो सकेगा । इसके अलावा यहाँ विश्वास को अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो योग्य पुरुष स्वयं प्रत्यक्ष देखने के बाद तुम्हारे विकास के बारे में जानकारी दे देते हैं तो इससे तुम्हें क्या लाभ होगा ? तुम उसे प्रत्यक्ष तो नहीं कर पाये । उनके प्रत्यक्ष सत्य को तुमने विश्वास पूर्वक केवल स्वीकार कर लिया । इसके अलावा और भी रहस्य हैं । उन्होंने देखा—तुममें विकास २५ प्रतिशत हुआ है और यही तुम्हें बताया । मगर ऐसा भी हो सकता है कि उसके बाद थोड़े समय में उससे दुगुनी मात्रा में विकास हो जाय । इधर तुम केवल २५ प्रतिशत वाली बात सुनकर निराश हो गये । इसका नतीजा यह होगा कि अगले चरण में जहाँ द्रुत गति होने की बात है, उसे प्राप्त करने में विलम्ब होगा ।

एक रहस्य और है । साधक और योगी की चरम अवस्था प्राप्ति में प्रभेद है । योग-मार्ग में चलने पर धैर्य के साथ सुख-दुःख के भीतर से आगे बढ़ना पड़ता

है । अपने को तैयार कर लेना ही योगी के लक्षण हैं । उसके लिए अपने आत्मिक विकास का पता लगाने की चेष्टा न करना ही उचित है ।

कृत्रिम और अकृत्रिम वैन्दव देह में फर्क है । आजान-देवता और कर्म-देवता में जितना फर्क है, यह भी वैसा है । अर्थात् कोई स्वभाव सिद्ध भाव से गुरुदत्त बीज की अभिव्यक्ति से वैन्दव देह प्राप्त कर लेता है तो यह अकृत्रिम है । किन्तु कोई अगर वैन्दव जगत् के किसी भी भुवन के अधिष्ठाता की आराधना के कारण उनकी कृपा से सामयिक रूप में वैन्दव देह प्राप्त कर लेता है तो उनकी वह देह-प्राप्ति कृत्रिम है । मायिक देह में रहते समय दोनों प्रकार की वैन्दव देह प्राप्त हो सकती है । यदि अकृत्रिम देह प्राप्त हो तो वह स्थायी होती है । अर्थात् दीक्षाजन्य वैन्दव देह स्थायी होती है । इस स्थायी वैन्दव देह से अधिकार आदि ऐश्वरिक सम्पदा प्राप्त होती है । भुवनेश्वर की आराधना के कारण उनकी कृपा से जो वैन्दव देह प्राप्त होती है, वह स्थायी नहीं होती । वह निजस्व नहीं है, कारण, वह विकास के मार्ग में प्राप्त नहीं होती । उस देह के द्वारा महामाया की जगत् में संचरण एवं तदुपयोगी भोगादि का आस्वादन हो सकता है । यह आश्रित भाव है, स्वयं का आयत्त नहीं है । जिस खण्ड कृपा के कारण कृत्रिम वैन्दव देह प्राप्त होती है, उसकी शक्ति क्षीण हो जाने पर उक्त देह सम्बन्ध भी तिरोहित हो जाता है । अकृत्रिम वैन्दव देह प्राप्त करना अपरा मुक्ति का दूसरा नाम है । किन्तु कृत्रिम वैन्दव देह प्राप्ति को मुक्ति नहीं कहा जा सकता । इसके दो कारण हैं—प्रथम यह अस्थायी है, द्वितीय इसमें क्रियाशक्ति का विकास नहीं रहता ।

कृत्रिम हो या अकृत्रिम हो, मायिक देह में रहते समय वैन्दव देह मायिक देह के साथ अभिन्न रूप में मौजूद रहती है । अकृत्रिम वैन्दव देह के साथ मायिक देह का सह-अवस्थान मायिक देह के रहते तक मौजूद रहती है । चूँकि कृत्रिम वैन्दव देह अस्थायी होने के कारण जबतक मायिक देह मौजूद रहती है तबतक सभी समय वह सम्बन्ध नहीं रहता । देहत्याग के बाद भी अकृत्रिम और कृत्रिम वैन्दव देह का पार्थक्य दिखाई देता है ।

यहाँ एक रहस्य है । आराधना के क्रम-विकास में उपासक यदि सालोक्य-सारूप्य आदि अवस्था अतिक्रम कर उपास्य के साथ सायुज्य प्राप्त करे तो कृत्रिम वैन्दव देह अकृत्रिम वैन्दव देह में परिणत हो जायगी । तब साधक को और नीचे नहीं उतरना पड़ेगा । वे भुवनेश्वर के साथ आविष्ट भाव से सभी कार्य कर लेते हैं । उस वक्त उनकी सम्पदा ऐश्वरिक सम्पदा के रूप में परिगणित होने योग्य हो जाती है । पर वे अंशरूप हैं, अंशीरूप नहीं, केवल यही भेद होता है ।

त्याग और भोग

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजिथाः मा गृधः कस्यस्विद धनम् ।।

मायाबद्ध जीव भोक्ता बनकर समग्र जगत् को अपने भोग का विषय समझता है । जबतक उसमें कर्तृत्त्वाभिमान रहेगा, तबतक उसे कर्म करते हुए अपने कर्मों का फल भोगना पड़ेगा और उतने दिनों तक संसार को भोगस्थान मानने के अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है । श्रुति ने कहा है—जगत् को इस दृष्टि से देखने पर जगत् का वास्तविक रूप-दर्शन नहीं होगा और न जीव का आवरण ही शुद्ध होगा । इसलिए सर्वप्रथम आवश्यक है—जीव की अपनी दृष्टि का संस्कार । अज्ञान-दृष्टि से जो कुछ जैसा प्रतीत होता है, वह ज्ञान-दृष्टि से ठीक उसी प्रकार प्रतिभात नहीं होता । ज्ञानचक्षु उन्मीलित होने पर वही ज्ञान ही अखण्ड और व्यापक रूप में प्रत्यक्ष होता है । ज्ञान ही भगवान् का परमस्वरूप है, इसीलिए जगत् को भगवत्स्वरूप या ब्रह्मस्वरूप में प्राप्त करने के लिए दृष्टि को चिन्मय कर लेना चाहिए । जगत् के सभी पदार्थ—यहाँ तक कि केवल भाव ही नहीं, बल्कि अभाव को भी—एक मात्र अखण्ड सच्चिदानन्दमय परमसत्ता या ऐश्वरिक सत्ता द्वारा व्याप्त है, इसे अनुभव करना चाहिए । 'जगती' का मतलब परिवर्तनशील मायिक प्रपंच समझना होगा । उसके अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु ही 'जगत्' है—अर्थात् क्षण-परिणामी चंचल । आधार भी चंचल, आधेय भी चंचल । आधार और आधेय एक साथ मायिक प्रपंच हैं । अतएव यह प्रपंच भोग की वस्तु नहीं है । कारण, यह भगवत्सत्ता का साक्षात् स्फुरण है ।

जीव जबतक अज्ञान के अधीन और अहंकार के आश्रय में रहने को बाध्य होता है तबतक वह अपने को कर्ता और भोक्ता के रूप में जानता है, इसीलिए जगत् भी उसके निकट कर्म और भोग का क्षेत्र है, यही समझता है । यह स्वाभाविक है किन्तु श्रुति का आदेश है कि जीव की दृष्टि शुद्धकर अर्थात् कर्तृत्त्व और भोक्तृत्त्व अभिमान से मुक्त करते हुए जगत् की ओर भेजना होगा, जिसके कारण जगत् भी भगवत्-सत्तामय के रूप में प्रतीत नहीं होगा । केवल कर्म और भोग का स्थान जैसा बोध नहीं होगा । आत्मशुद्धि के प्रभाव से जगत् का शोधन सिद्ध होने पर द्रष्टा और दृश्य दोनों ही चैतन्यमय स्वरूप में स्थितिलाभ करते हैं ।

उस समय त्याग और भोग का परस्पर विरोध दूर होकर त्याग के द्वारा ही भोग सिद्ध होगा । बिना त्याग किये भोग, त्याग-रहित भोग—वास्तव में कर्मफल भोग मात्र है, वह भगवत् स्वरूपानन्द भोग नहीं है । कारण, त्याग के बिना अमृत्व या परमानन्द का आस्वादन जीव प्राप्त नहीं कर पाता । जबतक अहंभाव का विसर्जन न हो, जबतक आत्मसमर्पण पूर्ण न हो, तबतक त्याग सम्पन्न नहीं हो सकता । बिना त्याग किये शुद्ध भोग का अधिकार कहाँ ? शुद्ध भोग का भोक्ता साक्षी आत्मा है—अशुद्ध भोग का भोक्ता अभिमानी आत्मा है । श्रुति ने कहा है—भोग करो, आपत्ति नहीं है, किन्तु इसके पहले भोग करने का अधिकार प्राप्त कर लो । त्याग करने पर ही यह अधिकार मिलता है । यह अधिकार त्याग से ही मिलता है । अहन्ता और ममता का विसर्जन ही त्याग के तत्त्व हैं । त्यागी का भोग—उपभोग नहीं, बल्कि परमानन्द भोग है । उसमें बंधन तो होता ही नहीं, बल्कि बंधन के बीज जल जाते हैं । कारण, यही है प्रसाद-ग्रहण ।

त्याग किसे कहते हैं ? मैं या मेरा—इस भाव का परिहार ही त्याग है । यह सत्य है । किन्तु मैं नहीं हूँ तो कौन है ? मेरा नहीं है तो किसका है ? इसके उत्तर में श्रुति ने कहा है—ऐसे स्थान पर 'ईशावास्यम्'—ऐश्वरिक सत्ता ढक लो । अर्थात् अहम् भाव को विसर्जन देते हुए ईश्वर की स्थापना करो तब वास्तविक त्याग होगा । वास्तव में यही है इष्टरूपी ईश्वर को भोग देना । इसके बाद वे जीवदत्त इस भोग को ग्रहण करते हैं तब जीव उसका भोग करने का अधिकारी होता है । यही है प्रसाद-ग्रहण । यही है 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः', उस समय जगत् का प्रत्येक पदार्थ ही पवित्र, ब्रह्ममय, निर्मल, अप्राकृत भावापन्न होता है—वह केवल विषय नहीं होता ।

दूसरों की सम्पदा पर लोभ करने के लिए श्रुति ने निषेध किया है— 'मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ।' जिसमें किसी का ममत्व या आसक्ति बोध जुड़ा हो, उसके लिए वही उसका धन है । जिस वस्तु में किसी की ममता है, वह उसका है । व्यक्तिगत रूप से देखने पर जगत् के सभी पदार्थ किसी न किसी का हैं, अर्थात् जो उसे चाहता है, वह उसी का है । श्रुति ने कहा है—वह उसी का रहे, तुम उसके प्रति लालच मत करो, उसे अपना बनाने की इच्छा मत करो, तुम अकिंचन बनो—याद रखो कि तुम्हारा कुछ भी नहीं है । सब कुछ दूसरों का है । वास्तव में वह भी दूसरों का नहीं है—जब ऐश्वरिक सत्ता व्याप्त रूप में सभी पदार्थों को देखोगे तब जान जाओगे कि सब कुछ भगवान् का है, सब कुछ तुम्हारे इष्टदेव का है । तुम्हारा कुछ भी नहीं है । उनकी वस्तु पर लोभ मत करो । उसे अपना मत समझो या उसे अपनाने की इच्छा मत करना । करने पर कर्मफल भोग होगा—आनन्दमय भगवान् को सर्वत्र नहीं पाओगे । न करने पर देखोगे कि यही तुम्हारे भोग का निवेदन बन गया है ।

तभी यथार्थ-भोग का सामर्थ्य तुममें आयेगा । जो लोभहीन, वैराग्यवान, अकिंचन, निष्काम हैं, जो सर्वत्र उन्हें देखता है, सकल जगत् को उनकी वस्तु समझता है और अपना दावा हमेशा के लिए पूर्णरूप से परित्याग करता है—वही आनन्द का अधिकारी है, वही यथार्थ भोक्ता है । परमेश्वर जिस प्रकार निर्लिप्त होते हुए भी भोक्ता हैं, वे भी उस समय भोगहीन होकर अनन्त भोग के आनन्द से समृद्ध होते हैं ।

परमतत्त्व की अनुभूति

अधिकार भेद के अनुसार परमतत्त्व की अनुभूति विभिन्न प्रकार से होती है । प्रत्येक अनुभूति की आनुषंगिक रूप में एक-एक स्थिति भी है । वह भी अधिकार भेद से पृथक-पृथक हो जाते हैं । विशुद्ध ज्ञान मार्ग पर परमतत्त्व ब्रह्मतत्त्व रूप में अनुभूत होते हैं । विशुद्ध योग-मार्ग में उक्त अनुभूति परमात्मा का आकार धारण करती है । विशुद्ध भक्ति प्रभाव से परमतत्त्व भगवत् रूप में स्फुरित होता है ।

ब्रह्मानुभूति के कारण स्वप्रकाश ब्रह्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त करता है । उसी प्रकार परमात्मा-दर्शन और भगवत् दर्शन के कारण चरम अवस्था में, तत्तत् स्वरूप में स्थिति प्राप्त होती है । जो लोग क्रम का अवलम्बन करते हुए चलते हैं, वे एक अनुभूति के बाद परवर्ती अनुभूति मार्ग का आश्रय लेते हैं । चरम अनुभूति के बाद उन्हें स्थिति लाभ होता है । किसी विशेष अनुभूति के बाद स्थिति लाभ होने पर अन्य अनुभूति पाना सहज नहीं होता । पर भगवत्-कृपा से सब सम्भव होता है । इसीलिए किसी स्थिति में कोई आबद्ध रहे तो वहाँ से उठाकर उसे अन्यत्र ले जाने की व्यवस्था है ।

ब्रह्मानुभूति अभेदात्मक है । जीव और ईश्वर का भेद, जीव और जीव का भेद, जीव और जगत् का भेद, ईश्वर और जगत् का भेद, जागतिक पदार्थों का परस्पर भेद, इन पाँचों प्रकार के भेदों की अनुभूति ब्रह्मावस्था में नहीं रहती । वे विजातीय, सजातीय और स्वगत भेद रहित रहते हैं । ब्रह्मानुभूति में किसी दृश्य वस्तु का भान नहीं होता । स्वप्रकाश, शुद्ध चैतन्य अपने आप प्रकाशमान रहते हैं । एक ही चैतन्य द्रष्टा दृश्य और दृष्टि भेद से अलग नहीं होता । जहाँ दृश्यों का दर्शन रहता है, वहाँ वे दृश्य बाह्य या आभ्यन्तरीण हैं, यह प्रश्न उठ सकता है । किन्तु जहाँ पृथक-दृश्य की सत्ता नहीं है, वहाँ दर्शन भीतर होता है या बाहर—इस प्रश्न का कोई मतलब नहीं होता । ब्रह्म निराकार, निर्विशेष, निर्गुण, निःशक्ति और अव्यक्त है । यह चिरस्थिर, अपरिणामी और कूटस्थ नित्य है । यह सच्चिदानन्द स्वरूप है । इस स्वरूप में सत्, चित्त और आनन्द इन तीन अंशों में कोई व्यवधान नहीं है ।

परमात्मा की अनुभूति इस प्रकार की नहीं है । एक ही देह को आश्रित करके व्यष्टि भाव में हो या समष्टि भाव में हो, जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही अवस्थान करते हैं । जीवात्मा की दो अवस्थाएँ हैं । एक बद्धावस्था और दूसरी मुक्तावस्था । मुक्तावस्था में जीव को पुरुष कहा जाता है । बद्धावस्था में जीव-देह आदि में अभिमानयुक्त होकर देहाश्रित प्रकृति के सभी कार्य अपने में आरोपित कर लेता है और स्वयं कर्ता बन बैठता है । इसके दण्ड स्वरूप उसे सुख-दुःख स्वरूप कर्मफल भोगना पड़ता है । यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व सांसारिक जीवों का धर्म है । जब जीव मुक्त होता है तब समझता है कि वह कर्ता नहीं है, भोक्ता भी नहीं है, केवल द्रष्टा मात्र है । प्रकृति की क्रिया का दर्शन करना उसका स्वभाव है । इसलिए स्वभाव में स्थित होने पर आत्मा साक्षीरूप में अपनी प्रकृति की लीला-दर्शन करने की योग्यता प्राप्त करता है । मुक्तपुरुष जिस प्रकार का साक्षी है, परमपुरुष परमात्मा भी ठीक उसी प्रकार का साक्षी है । यही दोनों में साधर्म है । किन्तु परमपुरुष क्रियाशक्ति का भी आश्रय है, केवल ज्ञानशक्ति का नहीं । मुक्तपुरुष केवल ज्ञानशक्ति का आश्रय है । मुक्तपुरुष उपासना करते-करते क्रमशः परमपुरुष का धर्म प्राप्त करता है और स्वयं कूटस्थ अवस्था हासिल करता है । बद्ध जीव देह का आश्रय लेकर कर्म करता है और फल भोगता है किन्तु मुक्तपुरुष देहस्थित हृदय-स्थान में अवस्थान करता है, परमात्मा भी उसी प्रकार देहस्थित शून्य-प्रदेश में प्रकाशमान रहते

हैं । जहाँ देह-सम्बन्ध बिल्कुल नहीं है, वहाँ जीवात्मा पुरुष-रूप में अपनी सत्ता किंवा परमात्मा रूप में परमपुरुष की सत्ता का अनुभव नहीं कर पाता है । इसीलिए ब्रह्मानुभूति में इन दोनों की सत्ता प्रकाशित नहीं होती । परमात्मा-दर्शन ज्योति के रूप में होता है । पुरुष रूप में जीवात्मा का स्वरूप-दर्शन भी ठीक उसी प्रकार से होता है । परमात्मा व्यापक ज्योति हैं, मुक्तपुरुष उनके ही अन्तर्गत खण्ड ज्योति है । उपासना के प्रभाव से इन दोनों ज्योतियों का मिलन होता है, यही जीवात्मा का सायुज्य है । यह योग की अवस्था है, ज्ञान की अवस्था नहीं ।

जिस प्रकार ब्रह्मानुभूति में बाहर-भीतर का भेद नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा की अनुभूति नहीं होती । यह अनुभूति भीतर ही होती है । किन्तु भगवत्-अनुभूति इनसे विलक्षण है । भगवत् स्फूर्ति भीतर नहीं होती, बाहर होती है । परमात्मा-दर्शन से केवल ज्योति दृश्य रूप में पाया जाता है । ब्रह्म-दर्शन में दृश्य कुछ भी नहीं रहता । किन्तु भगवत् दर्शन में दृश्य का पूर्ण प्रकाश रहता है । वह ज्योति नहीं, 'रूप' है । भगवान् साकार हैं, ब्रह्म निराकार, परमात्मा केवल ज्योति हैं । वह भी ठीक साकार नहीं जबकि ब्रह्मवत् निराकार भी नहीं है । कारण, ज्योति भी एक आकार है । भगवत् स्फूर्ति में भावदेहमय या भावदेहाविष्ट स्थूलदेह का प्रत्येक इन्द्रिय कार्य करते हैं, अर्थात् भगवान् के पास रूप हैं, शब्द हैं, उसी प्रकार रस-गंधादि सभी धर्म अप्राकृतिक चैतन्यमय है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु सभी वैचित्र्य विद्यमान हैं । वस्तुतः भगवत्स्वरूप के देह, इन्द्रिय और आत्मा में कोई पार्थक्य नहीं है जबकि अनुभूति से सब कुछ पाया जा सकता है । भगवत्स्वरूप चिन्मय होने के कारण स्थूलदृष्टि में वह स्थूलवत्, सूक्ष्मदृष्टि में सूक्ष्मवत्, कारणदृष्टि में वह कारणवत्, महाकारणदृष्टि में महाकारणवत् एवं कैवल्य या शून्यदृष्टि में तद्वत् प्रतीत होता है । जबकि वह जैसा है वैसा ही रहता है । यही है नित्यसिद्ध देह या आत्मा का सिद्ध स्वरूप । इस अवस्था की प्राप्ति हुए बिना परमपद में प्रवेश नहीं मिल सकता ।

रूप अथवा आकार की स्फूर्ति भक्ति से होती है । शुद्ध ज्योति की स्फूर्ति चित्तवृत्ति के निरोधरूप-योग से होती है । अरूप अर्थात् निराकार, निर्गुण साम्यमय चैतन्य के अभेद रूप में स्फूर्ति विशुद्ध ज्ञान से होती है । ज्ञान, योग और भक्ति ये तीनों जब अलग-अलग और अमिश्र रूप में रहते हैं तब परमतत्त्व का साक्षात्कार पूर्व निर्दिष्ट प्रणाली में होना स्वाभाविक है । किन्तु जहाँ मार्गगत सांकर्ष रहता है, वहाँ अनुभूति में भी विशुद्धता नहीं रहती । उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि योग यदि भक्ति मिश्र हो तो योगी को ज्योतिर्मय आकार में दर्शन होता है, भक्ति या भाव के अनुसार से आकार का कोई भी रूप क्यों न हो, उस आकार को ज्योति का आकार समझना चाहिए । जो लोग इस तरह दर्शन पाते हैं, उन्हें भक्तयोगी कहा जाता है, यह दर्शन ध्यानावस्था में, हृदय में होता है । यह भक्ति मार्ग का दर्शन नहीं है, भक्तियुक्त योगपथ का दर्शन है । किन्तु भक्तयोगी की तरह योगीभक्त भी हैं अर्थात् जो भक्त विशुद्ध भक्त नहीं हैं, जिनकी भक्ति में योग मिश्रित रहता है, वह दर्शन नहीं पाता । वह बाहर अपने इष्टरूप में पाता है, किन्तु ज्योति

द्वारा वेष्टित विशुद्ध होने पर इस ज्योति का वेष्टन दिखाई नहीं देता । यह भक्ति के साथ योगांश के मिश्रण का फल है ।

ज्ञानयोग और भक्ति के क्रम में एक वैशिष्ट्य है । जो लोग साधक और शुद्ध ज्ञानमार्ग के उपासक हैं, वे चरम अवस्था में निर्विशेष ब्रह्मानुभूति प्राप्त कर उसी ब्रह्म में स्थिति लाभ करते हैं । उनके निकट साकार-दर्शन या ज्योति-दर्शन मार्ग की अनुभूति मात्र है । चरम में यह नहीं रहता । इसमें एक क्रम देखा जाता है । कोई साकार दर्शन करने के बाद देख पाता है, वह आकार ज्योति में लीन हो गया एवं ज्योति भी निर्वाण प्राप्त कर अन्त में ब्रह्मस्वरूप में तिरोहित हो गया । किसी-किसी को पहले ज्योति-दर्शन होता है, इसके बाद ज्योति में रूप या आकार दर्शन होता है । चरम में शुद्ध ज्ञान की पूर्णता पर आकार नहीं रहता । एकमात्र निराकार सत्ता ही चैतन्यरूप में शेष रहता है ।

जो लोग योगी और परमात्मा के उपासक हैं, वे चरम अवस्था में परमात्मा की अनुभूति प्राप्त कर तत्स्वरूप में स्थिति लाभ करते हैं । परमात्मा ही योगेश्वर हैं । यही योगेश्वर्य लाभ योगपथ का परम लक्ष्य है । इन लोगों के निकट साकार और निराकार दोनों ही अनुभूतियाँ पथ की अनुभूति मात्र हैं । साकार अनुभूति मायिक, निराकार अनुभूति के समय नहीं रहती । चरम अवस्था में निराकार अनुभूति भी नहीं रहती । रहती है केवल परमात्मा की अनुभूति और तज्जन्य स्वरूप स्थिति । साकार क्षर, निराकार अक्षर और परमात्मा ही पुरुषोत्तम हैं ।

जो लोग भक्ति-मार्ग के साधक हैं और भगवत्-प्राप्ति ही जिनका लक्ष्य है, वे भगवतूरूप में परमभक्त की अनुभूति लाभ करने के पूर्व राह चलते समय निर्विशेष रूप और ज्योतिरूप में उनकी अनुभूति प्राप्त करते हैं । ये दोनों अनुभूतियाँ आपेक्षिक हैं । भगवत् साक्षात्कार प्राप्त होने के बाद इनकी कोई सार्थकता नहीं रहती । ये दोनों अनुभूतियाँ उनके ही अंगीभूत रूप में प्रकाश पाता है । शुद्ध ज्ञान भेद न करने पर भी ज्योति और आकार जरूर मिलते हैं, किन्तु वह ज्ञान के आलोक में स्थिर नहीं रह पाते । ज्ञानोदय के साथ-साथ विलीन हो जाते हैं । इसका कारण यह ज्योति चैतन्य के साथ सत्त्वगुण से संश्रव रखने के कारण तथा रूप उसका ही घनीभूत भाव के लिए प्रकाशित होकर रहता है । ज्ञान का उदय होने पर सत्त्वगुण भी निष्क्रिय हो जाता है, इसलिए चरम अनुभूति में ज्योति और आकार कुछ भी रह नहीं सकता ।

शुद्ध ज्ञान को भेद करके जाने के बाद जो ज्योति और आकार प्राप्त होता है, उसका स्वरूप शक्ति का कार्य है । वह त्रिगुण की लीला नहीं है, इसीलिए ज्ञान के प्रकाश से वह दूर नहीं होता । केवल यही नहीं, ज्ञान स्वयं उस अवस्था में मलिन हो जाता है । ज्ञान केवल स्वरूप का प्रकाश है और ज्योति तथा आकार स्वरूप से अनतिरिक्त स्वरूप धर्म का प्रकाश है । दोनों पर विशुद्ध ज्ञान का कोई प्रभाव दिखाई नहीं देता ।

भगवत्-प्राप्ति

ब्रह्म एवं भगवान् से सृष्टि का विस्तार नहीं होता । ब्रह्म शक्तिहीन होने के कारण उनसे सृष्टि का विकास नहीं हो सकता । भगवान् स्वरूप-शक्ति के साथ नित्य मिलते हैं, इस कारण बाह्य-शक्ति की क्रिया साक्षात् भाव से उनसे नहीं होती ।

भगवत् स्वरूप में सृष्टि नहीं है । जो है, वह लीला रूपी सृष्टि है । वह सृष्टि के अतीत होने के कारण सृष्टि पदवाच्य नहीं होती । यथार्थ सृष्टि परमात्मा से होती है । परमात्मा ज्योतिस्वरूप हैं । इस ज्योति के साथ माया का सम्बन्ध होने पर माया क्षुब्ध होकर मायिक सृष्टि का उत्पादन करती है । परमात्मा जब माया का ईक्षण नहीं करते तब माया को क्षोभ नहीं होता । उस समय उनका अंश स्वरूप जीव उनके स्वरूप में विलीन रहता है अथवा जाग जाने पर भी तटस्थ भूमि पर ही मौजूद रहता है । इन सभी जीवों की भगवत् अनुभूति हो नहीं सकती । भगवद्नुभूति बोधगम्य करने के लिए भगवत् धाम, भगवत् परिकर, भगवत् ऐश्वर्य, भगवत् स्वरूप, गुण और लीला आदि को समझना चाहिए ।

सर्वप्रथम भगवत् तत्त्व ही आलोचना का विषय है । भगवत् तत्त्व वस्तुतः रस स्वरूप है । किस तरह यह रस उदित होता है एवं आस्वादित होता है, यह जानकारी का विषय है । प्राकृतिक नियमानुसार इस रस का विकास अनादिकाल से होता चला आ रहा है । जीव इसी को पकड़कर इसके प्रभाव से रसतत्त्व में प्रवेश करता है । सृष्टि के मूल में जो है, उसे अव्यक्त कहा जा सकता है । अव्यक्त से जो प्रथम धारा निकलती है, वही सत्ता की धारा है । यह सत्ता होने पर भी इसे सत्ता मानकर पहचानने का कोई उपाय नहीं है । यह सत् होकर भी असत् के सदृश है । जिस वेग में अव्यक्त से धारा निकल रही है, उसी वेग में सत् से भी एक धारा निकलकर असत् या सदभास की ओर बह रही है । पक्षान्तर से सत् की एक धारा निरन्तर अव्यक्त की ओर प्रवाहित है । असत् से एक धारा सत् अवस्था में उपस्थित होकर सत् को चिह्न दे रही है । अर्थात् सत् उस समय सत् रूप में प्रकाशमान हो गया है। इसी को चित् कहते हैं, अर्थात् स्वप्रकाश सत् ही चित् है । चित् से एक धारा पूर्वोक्त वेग के प्रभाव से बहिर्मुख की ओर अर्थात् अचित् की ओर प्रवाहित हो रही है । पहले चित् अवस्था में सत् भाव स्वप्रकाश था—यही चित् है । किन्तु चित् भाव प्रकाशमान नहीं था । अब अचित् से एक धारा पुनर्वार वापस लौटकर चित् को स्पर्श करने पर अप्रकाश चित् स्वप्रकाश चैतन्य रूप में आविर्भूत हो गया । इसी का नाम आनन्द है । आनन्द से एक धारा पूर्वोक्त नियम से बाहर निकलकर दुःख की ओर चली आती है । अभी जो आनन्द के बारे में कहा गया, उसके आनन्द होने पर भी स्वप्रकाश आनन्द नहीं है । अब दुःख से पूर्वोक्त नियमानुसार जो धारा अप्रकाश आनन्द की ओर आती है, वह उक्त आनन्द को स्पर्श करते ही स्वप्रकाश आनन्द रूप में प्रकट होता है । यही रसाभिव्यक्ति का मूल है ।

जिन्हें हम भगवान् कहते हैं, वह वस्तुतः इसी स्वप्रकाश आनन्द की रसमयी मूर्ति है । वस्तुतः ब्रह्मभाव एवं परमात्मभाव में स्वप्रकाश आनन्द है । किन्तु यह

आनन्द ब्रह्मानुभूति और परमात्मानुभूति के रस-रूप में आस्वादित नहीं होता । भगवत् अनुभूति ही चरम अवस्था में पूर्ण रसानुभूति के रूप में आत्मप्रकाश करती है । इसका कारण यह स्वप्रकाश आनन्द जबतक खेल नहीं पाता तबतक अपने आप में स्तब्ध भाव में वर्तमान रहता है । खेल पाने पर स्वयं ही अनन्त वैचित्र्य धारण करते हुए अनन्त प्रकार रसों के आस्वादन करने का सूत्रपात करता है । स्वप्रकाश आनन्द में यह जो लीला या क्रीड़ा की उन्मुखता है, इसी में से उक्त आनन्द जिस हालत में रहता है, उसी हालत में स्वयं बाहर आ जाता है । बाहर आने के साथ ही वह स्वप्रकाश आनन्द अभाव के एक आवरण से ढक जाता है अर्थात् स्वप्रकाश आनन्द रहता है, वह 'पाना' होकर और जो बाहर आ जाता है, वह 'चाहना' होकर रह जाता है । यह जो 'पाना' का 'चाहना' भाव है, इसी का नाम रति या भाव है । यह नित्य सिद्ध वस्तु है । कारण, यही पूर्वोक्त नियम के अनुसार वापस जाकर 'पाना' को आस्वादन रूप में परिणत करेगा । यह 'चाहना' जबतक 'चाहना' रहता है तबतक वह रति पदवाच्य है । यह जब अत्यन्त तीव्र होता है तब 'चाहना' को प्रस्फुटित कर देता है । अर्थात् यह वापस लौटकर अपने उत्पत्ति स्थान में प्रवेश करता है । 'पाना' को प्रस्फुटित करने का नाम ही है—भगवत् साक्षात्कार । और यह जो 'चाहना' है, इसकी तीव्रता का नाम है प्रेम । अर्थात् रति की गहरी अवस्था ही प्रेम है । प्रेम की तरल अवस्था ही रति है । रति अवस्था में भगवत् दर्शन नहीं होता । उस समय भगवान् का अभाव बोध ही तीव्र रहता है । प्रेम अवस्था में भगवत् साक्षात्कार होने के फलस्वरूप अभाव स्वभाव में प्रवेश करने का अवकाश पाता है । जबतक प्रेम का उदय नहीं होता तबतक विलास कहाँ ? विलास ही लीला है । अतएव लीला आरंभ के पूर्व भगवत्-प्राप्ति अत्यावश्यक है । भगवत्-प्राप्ति के लिए प्रेम एक मात्र उपाय है । प्रेम रति की ही परिपक्व अवस्था है । रति अनादिकाल से नित्यधाम में, स्वप्रकाश आनन्द से 'चाहना' रूप में निःसृत हो रही है । उद्देश्य है परिणत अवस्था में रस का आस्वादन । साधना के द्वारा इस 'चाहना' को पाया नहीं जा सकता । मगर जीव के स्वरूप देह के अन्तःस्थल में, नित्यसिद्ध रूप में 'चाहना' वर्तमान है । साधना उसे प्रस्फुटित करती है । माया के आवरण में 'चाहना' आवृत रहता है । साधना केवल उस आवरण को हटा देती है । कभी-कभी भगवत् कृपा से साक्षात् या परम्पराभाव से यह आवरण हट जाता है, इसीलिए जीव के हृदय में 'चाहना' का उदय होता है । किसी भी भाव में हो, अपने अन्तर्निहित 'चाहना' को प्रस्फुटित न कर सकने पर 'पाना' का पता लगाना कठिन होता है । 'पाना' के साथ मिलन न होने तक नित्यानन्द का विलास किस प्रकार सम्भव हो सकता है ?

प्रकृति-धर्म

प्रकृति के परिणाम के सम्बन्ध में दो-चार बातें कह रहा हूँ । संक्षिप्त होने पर भी इससे तत्त्व के बारे में दिग्दर्शन हो सकता है ।

सांख्य मत से प्रकृति नित्य परिणामिनी है अर्थात् परिणाम प्रकृति का स्वभाव है । प्रकृति परिणत न होकर क्षण मात्र भी अवस्थान नहीं कर सकती । प्रकृति का परिणाम प्रति क्षण हो रहा है । किन्तु इस परिणाम से सृष्टि का उदय होगा ही ऐसी कोई बात नहीं है । सृष्टि की अवस्था में भी परिणाम है, प्रलय अवस्था में भी परिणाम है । कारण, प्रकृति सर्वविध अवस्था में परिणामयुक्त है । किन्तु इन दोनों परिणामों में परस्पर पार्थक्य है । त्रिगुणात्मिका प्रकृति सत्त्व, रजः और तमः इन तीनों गुणों का साम्यावस्था रूप है । सृष्टि प्रकृति का विकारस्वरूप है । जबतक गुणक्षोभ होकर विकार की उत्पत्ति नहीं होती तबतक प्रकृति साम्यावस्था में अवस्थित रहती है । किन्तु साम्यावस्था में भी उसका परिणाम अव्याहत रहता है । इस परिणाम का कोई उद्देश्य नहीं है, कारण, सृष्टि-रचना उसका उद्देश्य नहीं है । यह प्रकृति का स्वभाव है । सत्त्वगुण सत्त्वरूप में, रजोगुण रजोरूप में एवं तमोगुण तमोरूप में परिणत होने वाला नाम सदृश परिणाम है । इस अवस्था में तीनों गुणों का परस्पर मिश्रण नहीं होता । इस प्रकार का संमिश्रण हुए बिना सृष्टि के कार्यों का उद्‌भव नहीं होता । इस परिणाम को सदृश परिणाम कहते हैं । परस्पर वैषम्ययुक्त परिणाम को विसदृश परिणाम कहा जाता है । विसदृश परिणाम में तीन गुण स्वतंत्र या पृथक नहीं रह सकता—आपस में मिलकर एक कार्य उत्पन्न करते हैं और मिलने के समय उनकी साम्यावस्था भंग हो जाती है । उस वक्त एक गुण प्रधान होकर केन्द्र स्थान पर कब्जा जमाता है और अन्य दोनों गुण अप्रधान रूप में उक्त प्रधान गुण के आश्रित रहते हुए आवर्तन करते रहते हैं । प्रधान गुण में गुणगत प्रधानता रहती है, यह बात नहीं है, गुणों में मात्रागत प्रधानता रहती है । अप्रधान गुणों में भी मात्रागत उत्कर्ष, अपकर्ष आदि हैं । केवल यही नहीं, अन्य जितने गुण किसी कार्य के आकर्षण से उद्रिक्त होकर परस्पर संश्लिष्ट होते हैं, उनके परस्पर की क्रिया, परस्पर व्यवधान, दिक् सम्बन्धी स्थिति, परस्पर आभिमुख्य तारतम्य—इन सभी कारणों से कार्यों का वैशिष्ट्य होता रहता है । यह सत्य है कि प्रत्येक विकार या कार्य का उपादान एक ही प्रकृति के हैं, तथापि जगत् में अनन्त प्रकार के कार्य परस्पर विभिन्न रूपों में वर्तमान हैं । इसका एक मात्र कारण गुणत्रय संख्या और मात्रागत भेद है तथा परस्पर अवस्थान और कार्यकारिता की विशिष्टता है । सृष्टि के मूल में इच्छा वर्तमान है, कारण, इच्छा के बिना गुणत्रयों की साम्यावस्था च्युत नहीं हो सकती । इच्छा निर्विषय नहीं होती । लिहाजा समझ लेना चाहिए कि इच्छा का जो विषय है वही द्रष्टव्य भाव है । अर्थात् तीनों गुण क्षुब्ध होकर उस भाव में परिणाम प्राप्त करते हैं, यही है सृष्टि का उदय । अभी क्षोभ की चर्चा की गयी, यह परिणात्मक व्यापार नहीं है, कारण, परिणाम तो प्रकृति का स्वभाव-सिद्ध धर्म है । क्षोभ से परिणाम नहीं होता । क्षोभ से परिणाम की विशिष्टता निरूपित होती है अर्थात् किस प्रकार का परिणाम होगा, यह क्षोभ पर निर्भर करता है । क्षोभ का मूल है इच्छा । परिणाम का मूल इच्छा नहीं है, किन्तु यह प्रकृति का स्वभाव है ।

सदृश परिणाम के समय प्रकृति के सभी अवयव निरन्तर अपने को बचाये रखने के लिये आत्मप्रकाश करते हैं अर्थात् सत्त्वगुण प्रतिक्षण सत्त्वगुणरूप में ही स्फुरित होता रहता है । इसके लिए इच्छा की आवश्यकता नहीं होती । इसी प्रकार अन्य गुणों के बारे में समझना चाहिए । यही है प्रकृति की कार्योन्मुखता । जब यह अवस्था निरुद्ध हो जाती है तब कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं हो पाता । उस समय प्रकृति जननी रूप धारण नहीं करती । करने पर भी स्वयं निर्विकार रहती हुई कार्योत्पादन करने में समर्थ रहती हैं । यही है प्रकृति की कुमारी अवस्था ।

प्रकृति से इस प्रकार का परिणाम अपगत होने पर प्रकृति का स्वरूप विलुप्त हो जाता है । उस वक्त प्रकृति केवल अव्यक्त नहीं, पुरुष के साथ अभिन्नता प्राप्त करती है । जो लोग प्रकृति का स्वातंत्र्य स्वीकार करना नहीं चाहते, उनके लिए प्रकृति का यह नित्यसिद्ध स्वाभाविक परिणाम मानने की आवश्यकता नहीं है । उनकी प्रकृति पुरुष में अस्तमित होकर पुरुष की स्वशक्ति रूप में ही मौजूद रहती है । किन्तु प्रचलित सांख्य मतानुसार प्रकृति का स्वातंत्र्य स्वीकार करने पर साथ-साथ उसके सदृश परिणाम भी स्वीकार करना पड़ता है अर्थात् परिणाम को प्रकृति का स्वभाव मानकर चलना पड़ेगा ।

जीव की इच्छा उद्भूत होकर संस्कार के रूप में प्रकृति के गर्भ में रहती है । अनादिकाल से अनेक इच्छाएँ इस प्रकार उद्भूत होकर प्रकृति के गर्भ में सुप्तभाव में विद्यमान हैं । ये सभी इच्छाएँ बीज स्वरूप हैं । ये सभी कालशक्ति के द्वारा निरन्तर परिपक्व हो रहे हैं । जब यह परिपाक क्रिया प्रभाव से किसी इच्छा की सम्पूर्ण परिणति लाभ करता है तब वह फल रूप में अर्थात् कार्य रूप में उद्बुद्ध होता है । दीर्घ काल तक मातृगर्भ में सन्तान का देह पुष्ट होते-होते जिस प्रकार परिपूर्ण पुष्टि के साथ-साथ उस देह से बाहर आ जाता है, उसी प्रकार कोई भी इच्छारूपी संस्कार बीज कालशक्ति के प्रभाव से यथार्थ भाव में परिपक्व होने पर फलरूप में प्रकट हो जाता है । उस वक्त वह अर्थात् वह फल इच्छा के आश्रय में कर्तृत्व सम्पन्न जीव के योग्यरूप में उपस्थित होता है । यह जो इच्छा से भोग्य पदार्थ का उद्भव है, इसके लिए प्रकृति का विसदृश परिणाम आवश्यक है । सदृश परिणाम विशिष्ट प्रकृति फलोन्मुख इच्छा के प्रभाव से उक्त फल का आकार धारण करता है । फलावस्था—भोक्ता जीव की इंद्रिय की भोग्यावस्था है । त्रिगुणों का परस्पर मिश्रण न होने से इस विशिष्ट भोग्य पदार्थ का उद्भव हो नहीं सकता ।

भोग्य पदार्थ की सृष्टि के मूल में भोग्य पदार्थ की ही सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी जब कि वह सत्ता अव्यक्त है । पतंजलि ने योगशास्त्र में प्रति पदार्थ की पाँच अवस्थाओं का वर्णन किया है । इन पाँचों अवस्थाओं के नाम हैं—स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व । इनमें अर्थवत्त्व ही सर्वापेक्षा मौलिक है । अर्थवत्त्व आकार में भोग्य पदार्थों की सत्ता सदृश परिणाम विशिष्ट मूल प्रकृति को स्पर्श करता है । अगर अर्थवत्त्व न रहता तो प्रकृति में विसदृश परिणाम उत्पन्न होने का अन्य कोई विशेष कारण नहीं मिलता ।

अर्थवत्त्व किसे कहते हैं ? चाहिए यह भाव—इसी को ही अर्थवत्त्व कहते हैं । जब कि यह 'चाहना' भाव अर्थात् जिसे पूर्व जीवों की सुप्त इच्छा के रूप में वर्णन किया गया है, परिपक्वता के कारण जब स्फुरित होने लगता है तब यही 'चाहना' भाव का अनुकरण करते हुए प्रकृति में तदनुरूप परिणाम की आवश्यकता होती है । जो आइडिया थी, वह इस रूप में एक्च्युअल रूप में परिणत होती है । अर्थात् अर्थवत्त्व एक साँचा है, प्रकृति रसरूप में उसमें गिर जाती है और उसका आकार धारण करती है । परिपूर्ण स्थूल अवस्था तक पहुँचने के लिए बीच में अन्य तीन अवस्था भेद करके जाना पड़ता है । इन सभी अवस्थाओं का उल्लेख आगे किया जा चुका है । पुरुष के निष्काम होने पर प्रकृति में अर्थवत्त्व नहीं रहता, इस कारण विसदृश परिणाम नहीं हो सकता । लिहाजा सृष्टि स्थगित रहती है । अर्थवत्त्व इच्छात्मक होते हुए भी भागवत एक आकार मात्र है । प्रकृति से इसका योग होने पर प्रकृति इसका आकार धारण करती है । वही सृष्ट पदार्थ के रूप में अर्थात् विकृत रूप में प्रकृति का आत्मप्रकाश होता है । प्रकृति तभी कोई आकार ग्रहण करती है जबतक इसमें द्रुति है । कारण, गीली वस्तु ही आरोपित आकार धारण करने में समर्थ होती है । प्रकृति का गीला भाव प्रकृति का नित्यसिद्ध सदृश परिणाम का द्योतक है । प्रकृति की कठिन अवस्था या काठिन्य किसी भाव को अर्थात् साकार सत्ता को अपना लेना सम्भव नहीं है । सदृश परिणाम शब्द में प्रकृति का यह गलित भाव देखने में आता है ।

इस विवरण से समझा जा सकता है कि सदृश और विसदृश परिणाम दोनों ही प्रकृति का धर्म है एवं सृष्टि के लिए दोनों ही आवश्यक हैं ।

हृदयाकाश

हृदय शब्द से कौन सी वस्तु समझ में आती है, इसे प्रत्येक साधक को जान लेना आवश्यक है । कारण, ज्ञान, भक्ति आदि सभी मार्गों में हृदय के सम्बन्ध में एक स्पष्ट धारणा न रहने पर साधना-मार्ग में अग्रसर नहीं हुआ जा सकता । प्राचीनकाल में वैदिक ऋषिगण दहर-विद्या नामक इस हृदय-विज्ञान का अनुशीलन करते थे । हृदय जो कि आकाश स्वरूप है, वह दहराकाश है, इस शब्द के जरिये वे लोग इंगित कर गये हैं । यही अन्तराकाश का नामान्तर है । बाहर जैसा विशाल अपरिच्छिन्न आकाश दिखाई देता है, वही दृष्टि अन्तर्मुखी होने पर भीतर भी विशाल अनन्त आकाश का स्फुरण होता रहता है । यह आकाश हृदय के नाम से परिचित है । दृष्टि जब बहिर्मुखी रहती है तब इन्द्रिय-गोचर जगत् जिस आकाश में प्रतिभासमान होता है, वही बाह्याकाश है । उसी प्रकार दृष्टि अन्तर्मुखी होने पर दृश्य-प्रपंच जिस आकाश में परिस्फुरित होता है, वही अन्तराकाश या हृदयरूपी आकाश है । वास्तव में ये दोनों आकाश जो कि एक ही है, वह दृष्टि की उभयमुखी गति में साम्य न रहने पर समझ में नहीं आता ।

इस हृदय-आकाश में इष्ट का स्फुरण होता रहता है । जितने दिनों तक चित्त शुद्ध नहीं होता, उतने दिनों तक अन्तराकाश तमसाच्छन्न रहता है । चित्तशुद्धि के साथ-साथ अन्धकार दूर हो जाता है एवं स्वच्छ प्रकाश रूप में आन्तरदृष्टि के सामने हृदयाकाश उद्‌भासित होता है । इसके बाद स्वच्छ आकाश में ज्योति का आविर्भाव ही ज्ञान की सूचना देता है । बाहरी आकाश में जिस प्रकार सूर्य उदय होता है, अन्तराकाश में उसी प्रकार देवतारूपी सूर्य का आविर्भाव होता है । उस आलोक से तब आकाश आलोकित हो जाता है ।

अभी अन्तराकाश की चर्चा की गयी, उपनिषदों में इसे पुण्डरीक अथवा कमल कहा गया है । जबतक यह कमल प्रस्फुटित नहीं होता तबतक अन्तःकरण अंधकार से समाच्छन्न रहता है । जिसे इष्ट देवता का आविर्भाव कहा जाता है, वस्तुतः वही भावों का विकास है । भावों के विकास के साथ-साथ कमल उन्मीलित होता है, अर्थात् हृदयाकाश आलोकित होता है । यह हृदयरूपी आकाश अथवा पद्म इष्ट देवता का अर्थात् भगवान् का आसन है । गीता के अट्ठारहवें अध्याय में कहा गया है— "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेहर्जुनतिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारुढ़ाणि मायया: ।" इससे समझ में आ जाता है कि सभी के हृदय में अर्थात् अन्तर्यामी पुरुषरूप में परमात्मा विराजमान हैं । वे उस शून्य आसन में अधिष्ठित रहते हुए अपनी अचिन्त्य मायाशक्ति द्वारा देह का निरन्तर संचालन कर रहे हैं । देह की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के मूल में हृदयस्थित पुरुषोत्तम की प्रेरणा के बिना अन्य कोई कारण मौजूद नहीं है । अहंकार में आविष्ट जीव अपने अनेक ज्ञान और क्रियाओं पर अभिमान करता है । जानने का कर्ता वह एवं करने का कर्ता वह, अर्थात् वही जानता है, वही करता है । किन्तु वास्तव में उसका यह अभिमान मात्र है । वास्तविकता यह है कि वह न जानता है और न करता है । वह द्रष्टा मात्र है । ज्ञान और क्रिया शक्ति की लीला है । यह शक्ति माया रूपिणी—जिनका आश्रय एवं अधिष्ठाता उसके हृदयास्थित अन्तर्यामी पुरुष हैं । इस सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझ लेने पर जीव कर्म-बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

हृदय की उपलब्धि या प्राप्त करने के लिए असंख्य पथ हैं । योग्यता एवं व्यक्तिगत स्थिति के अनुसार किसी भी पथ के सहारे इस हृदयरूपी शून्य में आया जा सकता है । इन्द्रिय के अधिष्ठान क्षेत्र से शरीर के बाहरी हिस्से में बाह्य वायुमण्डल में असंख्य नाड़ी या रश्मियाँ विस्तृत हैं । जीव देहत्याग करने के बाद बाहर संचरण करते समय इन मार्गों का अवलम्बन करते हुए चलता रहता है । उसी प्रकार उस इन्द्रिय के केन्द्र से शरीर के अन्तः प्रदेश में भी असंख्य नाड़ी या रश्मियाँ जाल की तरह फैले हुए हैं । साधारणतः आभ्यन्तरीण वायु के प्रकोप एवं वैषम्यवश ये सभी नाड़ियाँ जटिल और कुटिल आकार धारण कर उलझे हुए चारों ओर फैली हुई हैं । इसीलिए इस जाल में असंख्य ग्रन्थियाँ देखने में आती हैं । इन्हें चित्त ग्रन्थि कहा जाता है । इस जाल के तार सरल या समसूत्र नहीं हैं । इसीलिए चित्त में नाना प्रकार की विक्षिप्त वृत्तियों का उदय होता है । जब क्रिया-कौशल अथवा भावना के प्रभाव या ज्ञान किंवा भक्ति की निष्ठा के कारण तीव्र तेज का आविर्भाव होता

है तब वे सब क्षुद्र-क्षुद्र वक्र रश्मियाँ संयत होकर एवं अपनी वक्रता परिहारपूर्वक एक आकार धारण करती हैं । क्रमशः ग्रन्थियाँ शिथिल होकर मुक्त हो जाती हैं । इस प्रक्रिया के फलस्वरूप ग्रन्थिहीन जटिलता एवं कुटिलताहीन, वक्रताहीन—एक सरल मार्ग खुल जाता है जिसमें भीम वेग से गर्जन करते हुए शक्ति-प्रवाह उत्थित होता है । इस शक्ति की धारा जहाँ पर्यवसित होती है, वही शून्य स्थान या हृदयाकाश है । समस्त शक्ति-प्रवाह समाप्त हो जाने पर वायु की क्रिया निरुद्ध होती है और मन की क्रिया भी निरुद्ध होती है—यही है हृदय की स्थिति । यहाँ से मंत्र रूप में चैतन्य शक्ति उत्थित होकर क्रमशः भगवत्धाम की ओर अग्रसर होती है । यही ऊर्ध्वगति की अवस्था है ।

पूर्वकथित वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य की सभी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर जहाँ उपरत होती हैं, वही हृदय है । अगर उसी अवस्था में जागृत भाव से अपने को प्रतिष्ठित रखा जा सके तो मंत्र चैतन्य की उपलब्धि होती है, वर्ना वह सुषुप्ति का नामान्तर है ।

ब्रह्मभाव

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति
समः सर्वेषु भूतेषु मद्‌भक्तिं लभते पराम् । १८/५४

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।। १८/५५

ये दोनों श्लोक ब्रह्मावस्था से परमपद तक समग्र क्रम का संक्षेप में निर्देश है । भेदज्ञान निवृत्त न होने पर ब्रह्मावस्था में प्रतिष्ठित नहीं हुआ जा सकता । भेदज्ञान माया का कार्य है अतएव यह समझ लेना चाहिए कि माया का बिना अतिक्रम किये परमपद के मार्ग में पदार्पण नहीं किया जा सकता । शोक, आकांक्षा, वैषम्य-दर्शन आदि माया के कार्य हैं । जबतक माया विद्यमान है तबतक जीव कितने ही आनन्द का उत्तराधिकारी क्यों न हो, किसी प्रकार से भी दुःखों से मुक्ति नहीं पा सकता । प्रकृति के तीन गुणों का परस्पर नित्य संबद्ध होने के कारण जहाँ सत्त्वगुणों के कार्यों का आनन्द है, वहाँ अल्प मात्रा में रजोगुणों के कार्य दुःख अवश्य देंगे । त्रिगुणों से अतीत न होने तक शोक अथवा दुःख से मुक्ति पाने की कोई आशा नहीं है । इसी प्रकार प्राकृतिक वस्तु का अभाव बोध अर्थात् आकांक्षा प्राकृतिक राज्य में ही होती है । अप्राकृत वस्तु की आकांक्षा प्राकृतिक राज्य से उत्पन्न नहीं होती । अतएव जबतक माया-भेद कर त्रिगुणातीत ब्रह्मभाव की उपलब्धि नहीं हो जाती तबतक प्राकृतिक अभाव विद्यमान रहेगा । यही अभाव बोध ही आकांक्षा है । किन्तु ब्रह्म प्राप्ति के साथ-साथ जब आप्तकाम अवस्था प्राप्त हो जाती है तब हृदय की सभी प्रकार की आकांक्षाएँ समाप्त हो जाती हैं । केवल यही नहीं, त्रिगुणों की साम्यावस्था भंग होने पर सृष्टि का उद्‌भव होने के कारण सृष्टि के

अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु में वैषम्य प्रतीत होता है । केवल वस्तु में नहीं, जो वस्तु द्रष्टा है उसमें भी वैषम्य दिखाई देता है । सुतरां सर्वभूत में साम्य-दर्शन, माया-निवृत्ति एवं ब्रह्मभाव की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती । साम्य-दर्शन होने के फलस्वरूप साम्य-स्वरूप में स्थिति दृढ़ होती है ।

पूर्वोक्त विवरण से यह समझ में आता है कि माया भेद करने के बाद साधक में जो अवस्था उदय होती है, वह ब्रह्मभाव है । इस अवस्था में शोक, दुःख नहीं रहता, कारण, यह तो आप्तकाम अवस्था है । साम्यज्ञान के प्रभाव से सर्वभूतों का वैषम्य-बोध निवृत्त होकर साम्यरूप में स्थिति प्राप्त करता है । इस अवस्था में सर्वत्र ब्रह्मदर्शन होता है । जिधर दृष्टि जाती है, उधर ही एक अखण्ड नारायण की सत्ता ही दिखाई देती है । "समः सर्व्वेषु भूतेषु" के नाम से इस स्थिति का निर्देश किया गया है । सिद्धावस्था होने पर भी यह वास्तव में सिद्धावस्था नहीं है । दुःख, आकांक्षा एवं भोजन तिरोहित हो जाने के कारण कुछ लोग इस ब्रह्मावस्था को सिद्धावस्था के रूप में वर्णन करते हैं । लेकिन भगवान् ने कहा है कि यह वास्तव में सिद्धावस्था नहीं है, पर है यह अति उच्चावस्था । इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर पराभक्ति का उदय होता है । जीव जबतक मायाराज्य में रहता है तबतक पराभक्ति का आस्वाद प्राप्त नहीं कर पाता । कारण, जागतिक सुख-दुःख में विचलित होने, जागतिक आशा-आकांक्षा के अधीन रहने तथा परस्पर पृथक ज्ञान तिरोहित न होने पर भगवान् के प्रति यथार्थ भक्ति का उदय नहीं होता । अतएव पूर्ववर्णित ब्रह्मावस्था से पराभक्ति की सूचना मिलती है । जबतक सर्वत्र आत्मभाव का उदय नहीं होता, जबतक अन्तर और बाहर प्रत्येक वस्तु में ब्रह्मदर्शन नहीं होता तबतक पराभक्ति की संभावना कैसे हो सकती है ? हम लोग साधारणतः जिसे भक्ति कहते हैं, वह अपरा-भक्ति है । वह निम्नस्तर की भक्ति है, वह वास्तव में भगवान् के उद्देश्य की ओर प्रवृत्त नहीं करती । कारण, भगवान् के स्वरूप का दर्शन न पाने पर उनके प्रति भक्ति का उदय कैसे हो सकता है ? भगवान् के स्वरूप का दर्शन पाने के लिए दुःख, आकांक्षा एवं वैषम्य वर्जित होकर ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होना पड़ता है अर्थात् माया का अतिक्रम करना पड़ता है ।

पराभक्ति उदित होकर स्वभावतः स्वकार्य सम्पन्न करती है । यह स्वकार्य क्या है ? यह है भगवान् के साथ सर्वतोभाव से परिचित होना अर्थात् भगवान् को पूर्णरूप से पहचानना । जिस ज्ञान के प्रभाव से माया की निवृत्ति हुई है एवं ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ है, उस ज्ञान के द्वारा भगवान् को पहचाना नहीं जा सकता । वह ब्रह्मज्ञान हो सकता है, पर भगवद्-विषयक अभिज्ञान नहीं । कारण, भगवान् ने स्वयं कहा है— 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम' अर्थात् मैं ब्रह्म की भी प्रतिष्ठा हूँ । अतएव ब्रह्म को जान लेने पर उनकी प्रतिष्ठारूपी मुझे अर्थात् भगवान् को जान लेना नहीं हो सकता । इसीलिए ब्रह्मज्ञान एवं पूर्ण भगवत् परिचय इन दोनों के अन्तराल में पराभक्ति की आवश्यकता है । ब्रह्मज्ञान के बिना जिस प्रकार पराभक्ति उत्पन्न नहीं होती, ठीक उसी प्रकार पराभक्ति के बिना भगवान् का पूर्ण परिचय प्राप्त नहीं किया जा सकता । इस पूर्ण परिचय को प्राप्त करने के लिए भगवान् के तात्त्विक स्वरूप तथा उनकी

अखण्ड विभूतियों को भी जानना चाहिए । 'यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः' अर्थात् भगवान् स्वरूपतः और तत्त्वतः जो हैं, उसे जानना पड़ता है । वे शक्ति के रूप में क्या हैं, इसे भी जानना चाहिए । भगवान् कितने बड़े हैं उसे बिना जाने भगवान् को जाना नहीं जा सकता । दूसरी ओर इसे जान लेने पर भी भगवान् को तबतक नहीं जाना जा सकता जबतक उनके स्वरूप का पता न प्राप्त किया जा सके । अतएव पराभक्ति के द्वारा निगूढ़ भगवत् स्वरूप एवं उनकी अचिन्त्यशक्ति दोनों ही अपरोक्ष ज्ञान के विषयीभूत हैं, ऐसा कहा जाता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सविशेष ज्ञान है । पहले जिस ब्रह्मभूत-अवस्था के बारे में कहा गया है जो मायातीत सुख-दुःख के अतीत तृष्णाशून्य एवं भेदवर्जित है, वही निर्विशेष ब्रह्म के बारे में है । इस अवस्था में सविशेष ज्ञान होने की संभावना रहती है, इसीलिए निर्विशेष ज्ञान के द्वारा ही माया निवृत्त हो जाती है । माया की निवृत्ति के बाद अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म में स्थित हो जाने के बाद ब्रह्म के प्रतिष्ठारूपी भगवान् को जानने के लिए पराभक्ति की आवश्यकता होती है । पराभक्ति के प्रभाव से भगवान् का अचिन्त्य स्वरूप और शक्ति परमभक्तों के निकट स्पष्ट हो जाता है—यही वास्तविक तत्त्वज्ञान है । इसके बाद परमपद में प्रवेश अनायास हो जाता है जिसका वर्णन करना बूते के बाहर है— (विशते तदनन्तरम्) ।

ब्रह्म-दर्शन

किसी एक दृश्य का सर्वदा के लिए दर्शन किया जा सकता है या नहीं ? इसका उत्तर यह है—निश्चय ही किया जा सकता है । अगर ऐसा न होता तो "सदा पश्यन्ति सूरयः" इस बात का कोई अर्थ नहीं होता । सर्वदा दर्शन करने के लिए किस प्रकार की योग्यता की आवश्यकता हो सकती है ? हम लोग साधारणतया कहते हैं—दृश्य परिणामी अर्थात् परिवर्तनशील अर्थात् सर्वदा एक रूप लेकर वह वर्तमान नहीं रहता । दृश्य निरन्तर परिवर्तित हो रहा है । फलतः द्रष्टा के स्थिर रहने पर भी एक ही दृश्य निरन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता । इस प्रकार का संशय वास्तव में अमूलक संशय है । जो लोग रहस्यविद हैं, वे इस प्रकार के संशय को अमूलक संशय नहीं मानते । इसका कारण आगे बताया जा रहा है ।

सूर्य और पृथ्वी में से किसी एक को स्थिर दूसरे को गतिशील मान लेने पर गणना के कार्य में बाधा नहीं आती । दोनों ही अगर स्थिर होते या दोनों ही गतिशील होते तब तो स्थिति या गति किसी की उपलब्धि नहीं होती । ठीक उसी प्रकार दृश्य को परिणामी मानकर द्रष्टा को स्थिर मान लिया जाय तो विशिष्ट दृश्यों का नित्य दर्शन संभव नहीं हो सकता । कारण, दृश्य परिवर्तनशील होने के कारण जिस क्षण जो दृश्य प्रकट होता है, उस क्षण में उसी दृश्य का दर्शन होता है । किन्तु एक ही विशिष्ट दृश्य का सर्वदा इस भाव में दर्शन नहीं मिलता । काल का चक्र आवर्तनशील है । इस आवर्तन में जिस वृत्त की रचना होती है, उसमें स्वभावतः ३६० कलाएँ हैं । द्रष्टा जब इन ३६० कलाओं का समष्टि रूप विन्दु को आश्रय

कर दर्शन करता है तब दृश्य नित्य रूप में दृश्यमान होता है । इस पूर्ण दृष्टि के सामने दृश्य का तिरोधान नहीं होता । विन्दु में अधिष्ठित होकर द्रष्टा अखण्ड मण्डलाकार दृश्य का दर्शन करता है । प्रत्येक दृश्य ही इस दर्शन में नित्य रूप में प्रतिष्ठित रहता है ।

क्षणिक का द्रष्टा दृश्य का क्षणिक रूप ही दर्शन कर पाता है । दृश्य का नित्यरूप उसे दिखाई नहीं देता । इसका कारण यह है कि द्रष्टा आवर्तमान कालचक्र में है । अगर द्रष्टा परिधि से न देखकर केन्द्र से दर्शन करे अर्थात् विन्दु में आसीन होकर दर्शन करे, अर्थात् ३६० कलाओं की समष्टि में अधिष्ठित होकर दर्शन करे तो वह दृश्य का नित्यरूप दर्शन कर पायेगा । इस स्थिति में सर्वदा दर्शन स्वभावसिद्ध होता है ।

पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है कि कालिक-दर्शन मात्र ही क्रमबद्ध दर्शन है । मध्य विन्दु में अधिष्ठित होकर जो दर्शन किया जाता है, वह कालिक-दर्शन नहीं है । इसीलिए इस दर्शन में क्रम नहीं रहता । उसमें एक ही साथ दृश्य के समस्त अंशों का विशिष्ट-दर्शन निहित रहता है । दृश्य का पूर्ण रूप पाने के लिए द्रष्टा को भी पूर्ण आधार में आसन ग्रहण करना पड़ता है । परिधि और केन्द्र में परस्पर सम्बन्ध यही है, परिधि अनेक विन्दु विशिष्ट है । यही अनेक संख्या वास्तव में अनन्त का ही वाचक है । केन्द्र अभिन्न एक विन्दु अथच एक होते हुए भी वह अनेक अर्थात् अनन्त है । तद्रूप परिधि बहु होकर भी एक है, कारण, यह एक ही वृत्त रूप में कल्पित होता है । विन्दु संख्या अनन्त होने पर भी वृत्ति रूप में यह अनन्त संख्या उसी एक के अन्तर्गत है । दोनों ही अर्थात् केन्द्र और परिधि में अनन्त के होने के कारण परिधि का प्रत्येक विन्दु के अनुरूप अंश केन्द्र में मौजूद है एवं यहीं दोनों में योगसूत्र है । इसे व्यासार्ध अथवा Radius कहते हैं । परिधि से केन्द्र में जाने का यही सरल मार्ग है । पक्षान्तर से केन्द्र से सृष्टिक्रम में विकीर्ण होकर परिधि के रूप में आत्मप्रकाश करता है । अतएव केन्द्र एक होते हुए भी अनन्त एवं परिधि का प्रतिरूपक है । इसीलिए इसमें भी ३६० कलाएँ हैं यह स्वीकार करना पड़ता है जबकि ये ३६० कलाएँ एक महाकला के रूप में, अद्वैत भाव में प्रकाशमान हैं । केन्द्र का एकत्व इसी अद्वैत भाव पर प्रतिष्ठित है । सुतरां केन्द्र या मध्यविन्दु से जब द्रष्टा दृश्य का दर्शन करता है तब दृश्य का एकदेश दर्शन नहीं होता । एक अखण्ड दर्शन में ही समग्र दृश्य दृष्टिगोचर होता है । अर्थात् एक अभिन्न दर्शन में अनन्त विशिष्ट दृश्यों का विशिष्ट दर्शन युगपत् वर्तमान रहता है । इसी का नाम है—द्रष्टा का काल लंघन ।

द्रष्टा जब काल का अतीत है तब दृश्य तो अपरिणामी है इसमें संदेह क्या है ? अतएव दृश्य ही ब्रह्म है । इसी का नाम है—ब्रह्म-दर्शन, जो काल के प्रभाव से प्रभावित नहीं होता । यही अखण्ड दर्शन द्रष्टा दृश्य एवं दृष्टि का अभेदात्मक स्वप्रकाश चैतन्य है ।

पुरुषोत्तम भाव

श्री······· ने श्री अरविन्द के अन्य भक्तों की भाँति श्री अरविन्द की साधन-प्रणाली के अलावा अन्यान्य साधन प्रणालियों को 'गतानुगतिक' मानते हुए सामान्य तौर पर एक ही श्रेणी का माना है । उन लोगों का ख्याल है कि Descent of the Supermind (अतिमानस की उत्पत्ति) के बारे में अन्य किसी महापुरुष को पता नहीं चला है अथवा उल्लेख नहीं किया है । मेरा ख्याल है कि यह धारणा अमूलक है । जो लोग योगदृष्टि अथवा व्यवहारिक अनुसंधान के द्वारा इस सम्बन्ध में सत्य-निर्णय करने में समर्थ नहीं हैं, उनके लिए व्यापक रूप से कोई राय प्रकट करना न्यायसंगत नहीं है ।

मैंने जहाँ तक समझा है, उससे धरातल में पुरुषोत्तम भाव तक स्थूल देह का अवलम्बन करते हुए प्रकट हुआ है । जब भी अरूप भाव प्रकट हुआ है तब उसे विश्वगुरु का आविर्भाव मानते हुए सूक्ष्मदृष्टि-सम्पन्न योगी मण्डल में उद्घोषित किया गया है । इस पुरुषोत्तम भाव की एक परावस्था है । स्थूल-देह में रहते हुए कोई भी योगी अब तक इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर सका है । यह अभिज्ञ आचार्यों का सिद्धान्त है । यदि कोई उक्त परावस्था स्थूल-देह के रहते प्राप्त कर लेता है तो साथ ही साथ समग्र सृष्टि में एक अद्‌भुत परिवर्तन हो जायगा । यह उन लोगों का विश्वास है । स्थूलदेह से अतीत होकर सूक्ष्म जगत् में अवस्थान पूर्वक क्रमशः उस अवस्था की प्राप्ति अनेक लोगों को हुई है । किन्तु इससे जागतिक विप्लव नहीं होता । पूर्णत्व प्राप्त करने पर भी जगत्-कल्याण साधन के लिए उन लोगों की क्रियाशक्ति निरन्तर व्यापृत रहती है । जब बुद्धदेव ने बोधिसत्व स्थिति प्राप्त करने के बाद दस भूमियों का अतिक्रम पूर्वक सम्यक् सम्बोधि प्राप्त किया तभी वे यथार्थ बुद्ध या विश्वगुरु पद पर अधिष्ठित हुए और उसी एक ही अवस्था में अधिष्ठित हैं । ये सभी विश्व कल्याण के लिए प्रयत्नशील हैं । हमारे तथा अन्य देशों के महायोगी-आचार्यगण समग्र जगत के कल्याण के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करते आ रहे हैं । अवतार वर्गों को छोड़ दिया जाय, क्योंकि वे लोग जगत में सामयिक रूप से विक्षोभ दूर कर धर्म की स्थापना करने के लिए आविर्भूत होते हैं । किन्तु जो विश्वगुरु हैं, वे कालपुरुष के प्रभाव से जीव का उद्धार करने के बाद परम आनन्दमय स्वपद में स्थापन करने के लिए सर्वदा जाग्रत रहते हैं तथापि काल अथवा नियति का प्रभाव न्यून नहीं हुआ है और न होने की आशा है । व्यक्तिगत अधिकार के अनुसार या स्वतंत्र पुरुष की लीला के कारण हो, उद्धार के कार्य निरन्तर हो रहे हैं । उसमें आमूल प्राकृतिक परिवर्तन होने की आशा नहीं है ।

प्रकृति में परिवर्तन इस तरह नहीं होता । भीतर से शक्ति का विकास न होने पर ऊपर से संचारित करुणा-शक्ति के प्रभाव से प्रकृति में आमूल परिवर्तन सम्भव नहीं है, इसीलिए पुरुषोत्तम की परावस्था इस प्राकृतिक स्तर में रहते हुए अगर कोई एक प्राप्त कर ले तो उसी एक की पूर्णता से पूर्णता-बीजाधान जगत में सिद्ध हो जायगा । तब स्वाभाविक क्रम से उक्त बीज विकसित होता जायगा और धरातल

उक्त पूर्ण सत्ता के आभास से उद्भासित हो उठेगा । एक की मुक्ति सभी की मुक्ति की सूचना देगी । क्योंकि एक तथा नाना समसूत्र से जुड़े हैं । नाना को छोड़कर एक जैसे असत्य है अर्थात् होकर भी असत्कल्प है, उसी प्रकार एक को छोड़कर नाना भी निरालम्ब और आकाश कुसुम मात्र है । फलस्वरूप धरातल में पार्थिव देह का सहारा लेकर अगर अखण्ड पूर्ण सत्ता का आविर्भाव हो तो यह अघटन घटित हो सकता है । अगर यह अवस्था एक की हो जाय तो फलभोग सभी समभाग में प्राप्त कर सकेंगे । स्थूल देह में रहते हुए उस देह को सम्पूर्ण रूप में, उक्त पूर्णता रूपी महाशक्ति को धारण करने योग्य न बना सकने पर यह सम्भव नहीं होता । केवल पुरुषोत्तम अवस्था ही उस महाशक्ति को धारण करने में समर्थ है । फलतः पुरुषोत्तम भूमि अथवा बुद्ध भूमि प्राप्त न होने तक महाशक्ति के अवतरण की आशा नहीं की जा सकती ।

भारतीय-साधना अथवा अन्य देशों की साधना केवल गतानुगतिक और व्यक्तिगत मुक्ति प्राप्ति के उपाय के रूप में परिगणित होने योग्य है— यह कहना ठीक नहीं है ।

भाव

"त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव ।।"

यह श्लोक ज्ञानोदय के पश्चात् भक्ति-संचार के प्रारंभ में जो भाव प्रकट होता है, उसका ही वर्णनाभास है । ज्ञान का उदय होने पर जगत् में एक मात्र आत्मा के अलावा द्वितीय कोई वस्तु नहीं रहती । आत्मा स्वयं प्रकाश आनन्दमय चैतन्यस्वरूप है । एक एवं अखण्ड चैतन्यरूप में आत्मा ही तब विद्यमान रहता है । उस वक्त द्वितीय कोई व्यक्ति या वस्तु तो रहता ही नहीं । यहाँ तक कि द्वितीय भाव भी नहीं रहता । प्रकृत प्रस्ताव में उस वक्त अहँत्व का विकास भी नहीं रहता । यह स्थिति भावातीत है अर्थात् मैं और तुम के भावों से अतीत । विशुद्ध ज्ञान की परिणति इस अवस्था में स्थित रहता है । किन्तु जब भगवान् अथवा भगवत् भक्त के अनुग्रह के कारण आत्मा में मुक्त अद्वैत भावापन्न-आत्मा के रूप में भक्ति का बीज वपन होता है अर्थात् भक्ति भाव का संचार होता है तब यह अखण्ड अद्वैत सत्ता अपने आप झूमने लगती है । यही है भावावेश, जिसका पूर्ण उत्कर्ष से महाभाव का विकास तक हो सकता है । इस आन्दोलन के फलस्वरूप जिस भाव का उदय होता है, वह भगवत् कृपालब्ध भक्ति-बीज का अंकुर है । इसी समय भावातीत सत्ता भाव-रूप में आत्मप्रकाश करता है । वह किसी भी प्रकार से खण्ड भाव में प्रकट होकर पहले सर्वप्रथम एक अखण्ड भाव उत्थित होता है । यह अखण्ड भाव आश्रय एवं विषय रूप में दो स्तम्भों पर प्रतिष्ठित रहता है । इस भाव का जो आश्रय है, वह मैं हूँ और इस भाव का जो विषय है, वह तुम हो ।

पूर्वोक्त वर्णन से यह समझा जा सकता है कि महासत्ता के पूर्व मैं एवं तुम कोई भाव नहीं था । उक्त महासत्ता ही भगवत् कृपा के प्रभाव से भावावेश के फलस्वरूप मैं और तुम के रूप में परस्पर अभिमुख होकर प्रकट होता है । मैं=भाव का आश्रय अर्थात् भक्त, तुम=भाव का विषय, पात्र अर्थात् इष्ट ।

सर्वप्रथम यही इष्ट, भाव के विषय-रूप में एक होते हुए भी अनन्त रूप में प्रतिभासमान होता है । यह अखण्ड व्यापक इष्ट भाव ही तुम पद का वाच्यार्थ है । अर्थात् श्लोक में तुम शब्द का जो प्रयोग किया गया है, वह शुद्ध ज्ञान के अनन्तर भक्ति के उन्मेष के फलस्वरूप उत्थित इस व्यापक इष्ट भाव के उद्देश्य से किया गया है । ये एक होने पर भी अनन्त है; इसीलिए मातृभाव, पितृभाव, सख्यभाव, गुरुभाव, प्रभुभाव आदि सभी भाव एक इसी विराट् भाव में अनुस्यूत है । इसलिए यह समझ लें कि यह भक्ति शुद्धा-भक्ति नहीं है । इसमें ज्ञान का मिश्रण है । केवल यही नहीं, इस भक्ति के मुख्य पात्र पिता-माता नहीं, सखा नहीं, प्रभु नहीं, कोई नहीं, जबकि तुम के रूप में पिता भी है, माता भी है, सखा भी है, प्रभु भी है । जगत् में जितने प्रकार के सम्बन्ध सम्भव हैं, सभी भावों में समन्वय इस तुम में ही होता है ।

+ + + +

वैन्दव देह का अवसान नहीं होता, पर अतिक्रम हो सकता है । कारण, वैन्दव देह विशुद्ध होने के कारण प्राकृत देह की तरह इसका ध्वंस नहीं होता, किन्तु ध्वंस न होने पर भी संकोच जरूर होता है । जिस वस्तु का ध्वंस होता है, वह शान्त है । जिसका ध्वंस नहीं होता, वह अनन्त है । यह संकुचित और प्रसारित हो सकता है । जब आत्मा शिवत्व प्राप्त करता है तब इसका संकोच होता है । एक हिसाब से इसे अवसान समझा जा सकता है । वास्तव में यह अवसान नहीं है ।

आत्मा चित्स्वरूप एवं नित्य चित्शक्ति सम्पन्न है– इसीलिए शिवत्व इसका स्वभाव है । आत्मा के इस स्वभाव में स्थिति ही पूर्णत्व है । पूर्णत्व अखण्ड । इसीलिए यह विकल्पातीत परमपद के नाम से परिचित है । इस अवस्था या पद को लक्ष्य करके किसी प्रकार का प्रश्न उत्पन्न हो नहीं सकता, जहाँ प्रश्न नहीं उठता, वहाँ समाधान की सम्भावना कहाँ है ?

किन्तु विकल्पाश्रय में प्रश्न और समाधान दोनों ही संभव है । वस्तुतः पूर्ण और अखण्ड को सत् नहीं कहा जा सकता, असत् भी नहीं कहा जा सकता, सदसत् दोनों ही नहीं कहा जा सकता और न सत्-असत् दोनों के अतीत ही कहा जा सकता है । इसीलिए इसकी भाषा नहीं है– यह युक्ति और विचार के अनधिगम्य है ।

+ + + +

फिर भी मनोभूमि में विकल्प उत्पन्न होगा ही । इसलिए मनोभूमि के अवस्थान काल में केवल विमर्श रूप में जब पूर्णत्व की विचारधारा प्रवर्तित होती है तब

पृथक-पृथक पक्ष के अस्तित्व और युक्ति-युक्तता अपरिहार्य है । यहाँ जो कुछ कहूँगा, उसे पक्षालम्बन पूर्वक समझें ।

चिन्मय-देह के बारे में जो प्रश्न है, वह चित्त का स्वातंत्र्यमूलक है । जहाँ देह है, वहाँ भोग्य है, दृश्य है, जगत् है, सब है । महामाया है । महामाया के अतीत अवस्था में जड़-सम्बन्ध नहीं रहता । वह विशुद्ध-चैतन्य की अवस्था है । इस अवस्था की प्राप्ति अचित् से विविक्त होकर भगवती-शक्ति की अभिव्यक्ति से होती है । अचित् से पृथक्कृत चित् शुद्ध चिन्मात्र है– वह भगवान् नहीं है । पहले चित् और अचित् में अभेद प्रतिष्ठित होता है । किन्तु विवेक केवल भेद सम्पादन करके ही निवृत्त हो जाता है, अभेद साधन नहीं करता । इसीलिए चित्शक्ति के उन्मेष की इतनी महिमा है ।

चित्शक्ति उद्रिक्त होकर क्रमशः अचित् को चिद् रूप में परिणत करती है । ऐसी स्थिति में परमपुरुष और परमाप्रकृति परस्पर अनुप्रविष्ट होकर एकत्व प्राप्त करते हैं । यह उभयमुखी गति के द्वारा पृथक रूप से पुरुष और प्रकृति के अद्वयत्व साधन पूर्वक सिद्ध होता रहता है । अर्थात् पराप्रकृति आत्म-विसर्जन करते-करते परपुरुष का स्वरूप ग्रहण करता है । एक परपुरुष ही उस समय भी रहता है । पक्षान्तर से परमपुरुष भी उक्त प्रक्रिया के द्वारा पराप्रकृति रूप में अद्वय रूप में विराजमान रहता है । चरमावस्था में दोनों ही सामरस्य या परमाद्वैत स्थिति को प्राप्त होता है । यही है पूर्णत्व की पराकाष्ठा ।

इसके फलस्वरूप साकार और निराकार का, काल और कालातीत का, जड़ और चेतन का, मैं और तुम का भेद हमेशा के लिए निवृत्त हो जाता है जबकि भेद नित्य सिद्धरूप में ही रहता है ।

साधारणतः निराकार और जड़ साकार है, यह कहना समीचीन है । किन्तु जब चित् अपनी शक्ति के प्रभाव से अचित् पर विजयी बन उसे आत्मसात् कर लेता है तब निराकार रहते हुए भी वह साकार रूप में आत्मप्रकाश करता है । कारण, अचित् को आत्मरूप में ग्रहण करने से अचित् की वैशिष्ट्य भी उसके आत्मधर्म रूप में ही प्रतीत होता है । वस्तुतः वही परम सत्य है । चित् और अचित् रूप में जो कल्पना है, वह मिथ्या है । ठीक इसी प्रकार जो अनन्त आकार जड़धर्म रूप में इस समय प्रतीत हो रहा है, वह उस समय चित् का आकार जैसा प्रतीतिगम्य होता है । असली बात यह है कि चित् और अचित् उस समय रहते हुए भी नहीं रहते । चित्=तत्त्व, अचित् भी तत्त्व । चित् एक, अचित् अनन्त । जब चित् और अचित् वास्तव में तत्त्वातीत हैं तब एक और अनन्त युगपत् प्रकट होते हैं ।

बुद्धि में धारण करने के लिए हम लोगों को विश्लेषण करते हुए विचार करना पड़ता है । इस प्रकार विश्लेषण करने पर समझ में आयेगा कि पूर्ण स्थिति में विदेह और निर्विशेष सत्ता अंगीकृत होते हैं, उसी प्रकार सविशेष सत्ता भी अंगीकार करना आवश्यक है । सविशेष भाव रहने से तर-तम भाव रहेगा ही । दूसरी ओर प्रत्येक स्वतःपूर्ण, निरपेक्ष स्वतंत्र है, यह भी सत्य है । चाहे जिस भाव में हो,

अंशाशिभाव रहने पर अंशी में व्यापकता एवं अंश में व्याप्यता बिना माने चलता नहीं । संख्यास्थ के साथ संख्यातीत का यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है ही । चिन्मय राज्य की अद्वैत-सत्ता में इस प्रकार अनन्त वैशिष्ट्य आत्मा की परम स्वतंत्रता के कारण यह सम्भव होता है । यद्यपि इसे विकल्प दृष्टि से कहा गया है ।

एक दृष्टि से भगवान् ही रस हैं– वे ही आस्वादिता हैं । स्वयं अपने को आस्वाद कर रहे हैं । उनमें अनन्त वैशिष्ट्य है जबकि वे निर्विशेष हैं । वैशिष्ट्य रहने के कारण ही वे अनन्त प्रकार से अपने को आस्वादन करते हैं । दूसरी ओर सर्वदा एक रस होने के कारण निरन्तर एक प्रकार का करते हैं । वे निर्विशेष हैं इसलिए अपने आस्वादन के अतीत हैं–कभी आस्वादन नहीं करते । शक्ति की क्रीड़ा के रूप में आस्वादन होता जा रहा है–वे केवल द्रष्टा मात्र हैं । और भी गहरे में जाने पर पता चलता है कि वे देखते भी नहीं । जो कुछ वे देखेंगे, वह भी स्वयं ही हैं वे । द्रष्टा और दृष्टिगत विकल्प परिहार होने पर केवल दृष्टि मात्र रहता है । वही वे हैं । लेकिन बाद में पता चलता है कि दृष्टि की भी अतीत अवस्था है । वह सन्मात्र है । किन्तु सत् को सत् कहने या सत् समझ लेने पर वह असत्कल्प हो जाता है । वास्तव में वे सत् और असत्—इस विकल्प के ऊर्ध्व में हैं । उन्हें वे कहा गया—वास्तव में वे वे होते हुए भी तुम के रूप में मेरे सामने हैं । तुम फिर तुम होकर भी मैं के रूप में प्रकाशमान है । मैं फिर मैं नहीं रहता । मैं नहीं हूँ जबकि मैं हूँ । मैं रहते हुए भी मैं नहीं हूँ । हूँ जबकि नहीं हूँ । क्या कहूँ समझ नहीं पाता । है, हो, हूँ— जबकि कुछ नहीं है, किसी काल में नहीं था, रहेगा भी नहीं । दूसरी ओर सभी सत्य है ।

यही पूर्ण है । इसका विश्लेषण मानवीय भाषा के अतीत की बात है ।

भोग्य वस्तु

अग्नीषोम-विद्या के बारे में कुछ चर्चा करने के पहले अग्नि और सोम तत्त्व के बारे में साधारण जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए । वैदिक दृष्टि के अनुसार जगत् का मूल भोक्ता एवं भोग्य यथाक्रम से अग्नि एवं सोम पदवाच्य अर्थात् अग्नि ही एक मात्र भोक्ता एवं सोम ही एक मात्र भोग्य हैं । जो अपने को भोक्ता समझते हैं, वे वास्तव में अहंकार के मोहवश ऐसा कहते हैं । कर्तृत्वाभिमान विगलित होने पर वे स्पष्ट रूप से देख सकेंगे कि जिस प्रकार वे कर्ता नहीं हैं, कर्तृत्व उन पर केवल आरोपित होता है, ठीक इसी प्रकार वे वास्तव में भोक्ता नहीं हैं, भोक्तृत्व उन पर आरोपित होता है । जगत् के जो एक मात्र भोक्ता हैं, वे सभी आधारों में रहते हुए भोग करते रहते हैं । इन सब आधारों के अभिमानी पुरुष अपने को व्यर्थ में ही भोक्ता समझते हैं । जगत् के इस मूल्य भोक्ता को वैदिक ऋषियों ने अग्नि के रूप में वर्णन किया है । ठीक इसी प्रकार भोग्य के सम्बन्ध में विचार करने पर देखा जायगा कि कोई भी जो जब भोग क्यों न करे, भोग्य मूल वस्तु एक ही है ।

देश-भेद, काल-भेद, आधार-भेद तथा योग्यता-भेद के अनुसार उसी एक ही भोग्य वस्तु को वैदिकों ने सोम के रूप में वर्णन किया है । सोम का अपर नाम अमृत है । अतएव समझ लेना चाहिए कि यही सोम अथवा अमृतकण ही जीव मात्र के लिए भोग का विषय है । सभी इसी का एकमात्र आहरण करते रहते हैं । इसीलिए इसे आहार या आहार्य कहा जाता है । जो जैसा जीव है, वह किसी प्रकार की खाद्य वस्तु ग्रहण करे, उसकी सार-सत्ता सोम ही है । सोम-हीन खाद्य हो नहीं सकता । सभी प्रकार के खाद्यों में मात्रा-भेद के अनुसार इसी सोम का अंश है । पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि समग्र-जगत् अग्नि एवं सोम इन दो भागों में विभक्त है । ज्ञाता एवं ज्ञेय एवं कर्ता और कर्म जिस प्रकार परस्पर संश्लिष्ट हैं, उसी प्रकार भोक्ता और भोग्य भी परस्पर संश्लिष्ट हैं । भोक्ता बिना भोग्य एवं भोग्य बिना भोक्ता विद्यमान नहीं रह सकता । शिव और शक्ति के बीच जिस प्रकार नित्य सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है, ठीक उसी प्रकार भोक्ता-भोग्य के बीच भी नित्य सम्बन्ध विद्यमान है । जिसे हम लोग प्रचलित भाषा में यज्ञ कहते हैं, वह वास्तव में यही नित्य सिद्ध परम भोक्ता के निकट भोग्य पदार्थ का अर्पण करने के अलावा और कुछ नहीं है । अग्नि में सोम की आहुति प्रदान करना यज्ञ का तत्त्व है । तिल, तण्डुल, आज्य, समिध आदि जो कुछ अग्नि में हवन किया जाता है, वह सब सोम प्रधान होने के कारण हवन के योग्य हैं । सोमांश न रहने पर अग्नि उसे ग्रहण नहीं करती । प्रत्यक्ष रूप में सोम अर्पण करने की योग्यता साधारण लोगों में न होने के कारण सोम प्रधान वस्तु सोम के प्रतीक के रूप में अर्पण किया जाता है । देवता मात्र ही भोक्ता होते हैं, इसलिए सभी देवता सोम या अमृत का अंश ग्रहण करते हैं । वेद में है—'अग्निर्वै देवानां मुखं' अर्थात् अग्नि को सभी देवता मुख के रूप में गणना करते हैं । इसलिए अग्नि में आहुति अर्पण करने पर वह सभी देवताओं के निकट भोगार्थ उपनीत हो जाता है । देवगण आत्मरूपी महासविता के रश्मिस्वरूप हैं—इसकी निरुक्त आलोचना करने पर स्पष्ट समझ में आता है । अग्नि में जब आहुति अर्पण किया जाता है तब वह अग्नि की दाहिका-शक्ति के प्रभाव से विगलित हो जाती है । उसका अशुद्धांश जल जाता है और शुद्धांश या सोमांश अमृत के रूप में ऊर्ध्व में उठकर आदित्य-मण्डल में प्रवेश करता है, इसके बाद उक्त मण्डल से सोमांश रश्मियों के सहारे चारों ओर विकीर्ण होता है । इस प्रकार देवगण सोमांश प्राप्त कर आप्यायित होते हैं । इसलिए शास्त्र में लिखा है—'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।'

मनुष्य जो कुछ किसी भी कोष के सहारे भोग करता है, वह भी उसी प्रकार का अमृत स्वरूप और तत्तत् कोषस्थ अग्नि ग्रहण करता रहता है । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय इन पंचकोषों के साथ पाँच अग्नियों का सम्बन्ध है । इसका सम्यक् परिज्ञान ही पंचाग्नि विद्या के रहस्यों का उद्घाटन है । जिस प्रकार अग्नि ५ प्रकार के हैं, उसी प्रकार भोग्य सोम या अमृत भी ५ प्रकार के हैं । इसी का नाम पंचामृत है । प्रथम अग्नि में प्रथम सोमांश की आहुति होती है, द्वितीय अग्नि में अमृत की होती है । इसी प्रकार अन्त तक समझना चाहिए ।

जीव जब जो कुछ भोग क्यों न करे, वस्तुतः वह कुछ भी भोग नहीं करता, क्योंकि स्वरूपतः वह भोक्ता नहीं है, केवल साक्षी है । वह केवल भोग का दर्शन मात्र करता है । छान्दोग्य उपनिषद में है, शुद्ध देवगण दर्शन के द्वारा ही तृप्ति-लाभ करते हैं । जीव जब साक्षी रूप में प्रतिष्ठित होता है तब दर्शन से ही तृप्तिलाभ करता है । अभिमान त्याग न होने तक द्रष्टा भाव की स्थिति प्राप्त नहीं की जा सकती । जबतक यह स्थिति प्राप्त न हो तबतक दृष्टिजनित तृप्ति प्राप्त नहीं हो सकती । साधना के सुकौशल भोग-काल में अपने को भोक्ता न समझकर द्रष्टा रूप में अवस्थित समझना ही अग्नीषोम विद्या का तात्पर्य है । अर्थात् भोगकाल में इसकी उपलब्धि करनी होगी कि मैं भोक्ता नहीं हूँ । जो नित्य भोक्ता हैं, सर्व यज्ञ का यज्ञेश्वर हैं, सर्व क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ हैं, इसी आधार पर अग्नि के रूप में उपविष्ट होकर सोमरूपी भोग्य वस्तु निरन्तर भोग कर रहा है । मैं तटस्थ एवं उदासीन हो साक्षी के रूप में इस दृश्य का दर्शन मात्र कर रहा हूँ । इस दर्शन से जो तृप्ति प्राप्त होती है, वही विशुद्ध आनन्द है । भोगजनित आनन्द जीव के लिए काम्य नहीं है।

जो लोग उपासक और भक्त हैं, वे सूक्ष्मतर कौशल के सहारे ईशोपनिषद की प्रक्रिया के अनुसार भोग करने पर भी उस भोग में लिप्त नहीं होते । वह उनके लिए प्रसाद ग्रहण मात्र है, उपभोग नहीं । इस प्रकार के भोग के द्वारा भोग-वासना निवृत्त हो जाती है । वास्तव में यह भोग होकर भी भोग का निवर्तक है । शास्त्रकारों ने इसे वैध भोग कहा है । इसका रहस्य संक्षेप में यों समझिये—भोग्य वस्तु प्रकृतिस्वरूप है । जो भोक्ता हैं, वे परमपुरुष या पुरुषोत्तम हैं । जीव प्रकृति का भोक्ता नहीं है । प्रकृति का भोग्य सम्भार स्वाभाविक स्रोत से निरन्तर परमपुरुष की ओर गतिमान है । अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्दमय बाह्य जगत् से उठकर देह स्थित नाड़ी अवलम्बन पूर्वक निरन्तर ऊर्ध्वमुख में, सहस्रदल कमल की कलिका स्थित परमपुरुष की ओर प्रवाहित हो रहा है और उनका चरण-स्पर्श कर अर्थात् उनकी दृष्टि से पवित्रीकृत होकर अधोमुख में अथवा बहिर्मुख में प्रत्यावर्तन कर रहा है । इस ब्रह्मचक्र में निरन्तर आवर्तन हो रहा है । किन्तु तटस्थ भूमि पर प्रतिष्ठित जीव आज्ञाचक्र में अवस्थित होकर उक्त अधोमुख संचालित शुद्ध अमृतधारा का पान करते हुए कृतार्थ हो रहा है । जीव जबतक ऊर्ध्वमुखी होकर उस धारा को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता तबतक उक्त प्रसादरूपी धारा उसके भोग में नहीं आता । साधारणतः जीव अधोदृष्टि सम्पन्न होता है । प्रकृति की ऊर्ध्वमुखी आनन्दधारा को वह मध्यस्थान से पहले अपहरण करता रहता है । अर्थात् भोक्ता बनकर परमेश्वर की भोग्यवस्तु को परमेश्वर को अर्पित होने के पहले स्वयं ही उपभोग करने में प्रवृत्त होता है । इस चौर्य प्रकृति के कारण जीव निरन्तरबद्ध होकर रह जाता है । फलस्वरूप जिस भोग्यवस्तु को जीव प्राप्त करता है, वह अशुद्ध रह जाती है । अशुद्ध भोग्य के भोग को उपभोग कहा जाता है, भोग नहीं कहा जाता । अगर जीव लोभ-दृष्टि एवं तृष्णा को त्यागकर अनासक्त रूप में ऊर्ध्व नेत्र से एक मात्र परमपुरुष की ओर लक्ष्य निबद्ध रख सके तो भोगवस्तु न चाहने पर भी परमेश्वर से प्रत्यावृत्त आनन्दधारा वह स्वतः प्राप्त कर सकता है । यही

भगवान् की करुणा या प्रसाद है । इसका भोग करने पर भोगतृष्णा समाप्त हो जाती है और परमानन्द का आस्वाद मिलता है । इसी का नाम है—प्रसाद-ग्रहण । यह भी अग्नीषोम-विद्या का एक अंग है । सारी बातें संक्षेप में ही बतायी गयीं ।

शब्द ब्रह्म

समग्र संसार के आध्यात्मिक शास्त्रों के अध्ययन से यह जानकारी प्राप्त होती है कि सर्वत्र ही सृष्टि के मूल में शब्द की महिमा स्वीकृत है । भारतीय वैदिक, तांत्रिक तथा अन्यान्य साधना का चरम सिद्धान्त यही है तथा शोध करने पर ज्ञात होता है कि ख्रिष्टीय, मोहम्मदीय आदि अन्य देशों के साधन तत्त्वों की मूल बात यही है । इस बारे में प्रत्येक साधना के सिद्धान्तों का विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं है । संक्षेप में मूलतत्त्व के बारे में दो-चार बातों का उल्लेख कर रहा हूँ । सृष्टि से अतीत, स्पन्दहीन जो महासत्ता स्वप्रकाश रूप में नित्य विराजमान है, उसे एक ओर से देखने पर यद्यपि स्पन्द से अतीत है, तथापि दूसरी ओर से देखने पर उसे स्पन्दमय समझ कर ग्रहण करना पड़ता है । यही मूल स्पन्दन ही आत्मा का स्वातंत्र्यरूप पराशक्ति है । स्वातंत्र्य या पराशक्ति सर्वदा आत्मा के साथ अभिन्न रूप तथा एक रस भाव में मौजूद रहता है । स्वातंत्र्य का माहात्म्य यही है कि वह आत्मा के साथ नित्य अभिन्न रूप में रहते हुए भी भिन्नवत् प्रतीत हो सकता है; एक रहते हुए भी अनेकवत् प्रकट हो सकता है और निष्क्रिय रहते हुए भी अनन्त क्रिया-विलास रूप में आत्मप्रकाश कर सकता है । यह जो मूल स्वातंत्र्य है, इसे अद्वैत तांत्रिक गण विमर्शशक्ति के रूप में वर्णन करते हैं । जो परमसत्ता के साथ है, वह अभिन्न है, उसे तंत्रशास्त्रों में प्रकाश के नाम से अभिहित किया गया है । प्रकाश और विमर्श दोनों एक ही हैं, जबकि एक होने पर भी दोनों में अनिर्वचनीय विलक्षणता है । कारण, प्रकाश विमर्शहीन स्थिति में स्वरूपतः प्रकाश रहने पर भी स्वप्रकाश के रूप में परिगणित नहीं होता । विमर्श के बिना प्रकाश एवं अप्रकाश दोनों में कोई पार्थक्य नहीं रहता । विमर्श के प्रभाव के कारण ही प्रकाश स्वयं प्रकाश रूप में स्वानुभूति गोचर होता है । यह विमर्श ही आत्मा की महिमा है—यही महाशक्ति का स्वरूप है । इसी विमर्श का नामान्तर है—अहं भाव । विमर्शहीन प्रकाश में स्फुरण नहीं रहता । इसीलिए उसे अप्रकाश या जड़ नाम दिया गया है । अहन्ता वर्जित प्रकाश जड़, अहन्ता विशिष्ट प्रकाश चैतन्य । जड़ और चैतन्य का यही निर्देशन है । स्मरण रखना होगा कि जड़ एवं चैतन्य में कोई भेद नहीं है । कारण, प्रकाशांश दोनों का एक ही है । केवल विमर्श के स्फुरण-अस्फुरण के कारण ही जड़-चैतन्य में पार्थक्य निरूपित होता है । यह जो अहन्ता है, इसका कोई प्रतियोगी नहीं है । यही अपरिच्छन्न और अहं भाव है । इसका प्रतिद्वन्द्वी इदं भाव की सत्ता अभी तक प्रकट नहीं हुई है । इसीलिए इसे पूर्णाहन्ता कहा जाता है । पूर्णाहन्ता ही परमेश्वर का स्वरूप है । अद्वैतवादी तांत्रिकों ने इसे परावाक् या शब्दों का आदि रूप कहकर वर्णन किया है ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि के पूर्व नित्य सत्यरूप में शब्द विद्यमान है, यही शब्द ही प्रज्ञा है । खण्ड प्रज्ञा से पृथक कर इसे समझने के लिए इसे पूर्ण प्रज्ञा या महाप्रज्ञा कहने पर कोई हानि नहीं है । बौद्धों ने इसे प्रज्ञा पारमिता कहा है । यही समग्र जगत् की प्रसूति है, केवल जगत् ही क्यों, बुद्ध, बोधिसत्त्व, सिद्धवर्ग, यहाँ तक कि ईश्वर भाव की प्रसूति भी यही है । कारण, यही पूर्णाहन्ता ही मूल ऐश्वर्य है । यही परमेश्वर अथवा आत्मा का स्वभाव है । वस्तु स्वभाव विरहित होकर नहीं रहती, इसलिए आत्मा स्वरूप स्थिति काल में पूर्णाहन्ता-विरहित कभी नहीं होती । सेण्ट जान के गॉस्पेल में जो विवरण है, वह पूर्ण सत्य है । अर्थात् The word was with god and the word was god. 'word' शब्द में यहाँ मूल शब्द को ही लक्ष्य किया गया है । शब्द-ब्रह्म इसके अलावा और कुछ नहीं है ।

सृष्टिकाल में इसी शब्द से अर्थ का आविर्भाव हुआ था । 'अनादिनिधनं ब्रह्म' शब्द का परमतत्त्व है । उससे अर्थ आविर्भूत होता है । इसके बाद वही अर्थ जगत् रूप में देश और कालगत अनन्त वैचित्र्य के प्रतिभास पूर्वक प्रकट होता है । भर्तृहरि ने कहा है— "अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरं विवर्तते अर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।" यह सर्वदा समीचीन है ।

अद्वैत तंत्र मत से परावाक् या स्वातंत्र्य के कारण आत्मा सर्वप्रथम पश्यन्ती भूमि में अवतीर्ण होती है । इस भूमि पर वाच्य एवं वाचक का परस्पर अभेद सम्बन्ध वर्तमान रहता है । परावस्था में वाच्यवाचक भाव बिल्कुल नहीं रहता । सुतरां वहाँ सम्बन्ध की कल्पना करना निरर्थक है । वह अद्वैत भूमि से भी अतीत है । किन्तु पश्यन्ती स्थिति में वाच्यवाचक ये दोनों भाव रहते हैं । दोनों का अभेद सम्बन्ध मौजूद रहता है । यही वाच्य-वाचक ही अर्थ और शब्द के स्वरूप हैं । शब्द वाचक और अर्थ वाच्य है जबकि दोनों ही अभिन्न हैं । मध्यमा भूमि में वाचक और वाच्य में अभेद रहने पर भी भेद का एक आभास स्फुरित होता है । ऐसी स्थिति में शब्द से अर्थ पृथक वस्तु रूप में परिगणित नहीं होता जबकि दोनों सर्वदा अभिन्न नहीं रहते । यही है भेदाभेद की स्थिति । इस स्थिति में शब्द अर्थ रूप में प्रतीयमान होता है और वह किस रूप में हो जाता है यह योग के निकट प्रत्यक्ष गोचर है । शब्द के उदय होने के साथ-साथ उसके वाच्य का अर्थ आविर्भाव हो जाता है । लौकिक शब्दों के अर्थबोध के लिए जितने प्राकृतिक नियम हैं, उनमें से किसी की वहाँ आवश्यकता नहीं होती । शब्द के उदय के साथ-साथ अर्थात् उसके अव्यवहित के बाद अर्थ का उदय होता है । इसी प्रकार संहारकाल में अर्थ का उपशम शब्द के मध्य हो जाता है । यह मध्यमा-भूमि अत्यन्त रहस्यमय है । इस भूमि में अवस्थित हो जाने के बाद स्पष्ट समझ में आता है कि शब्द एवं अर्थ इन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है । शब्द के आयत्त होने पर जिस प्रकार उसमें से अर्थ को स्पष्ट करके निकाला जाता है, उसी प्रकार अर्थ के आयत्त होने पर उसमें से मूल शब्द का आविष्कार किया जा सकता है । दोनों में भेदाभेद सम्बन्ध रहने के कारण एक को छोड़कर दूसरा रह नहीं सकता । शब्द और अर्थ ही वास्तव में नाम और रूप हैं । वैखरी भूमि में शब्द से अर्थ का पृथक्करण सुसम्पन्न होता

है । उस समय विस्मृति का उदय होता है और फलस्वरूप शब्द से अर्थ को एवं अर्थ को शब्द से स्वाभाविक रूप में वापस नहीं पाया जा सकता । इस स्थिति में शब्द और अर्थ में भेद सम्बन्ध रहता है । जगत् के अधिकांश लोग साधारणतः इसी वैखरी भूमि में प्रतिष्ठित रहते हैं । इसीलिए उन लोगों को कृत्रिम उपाय के जरिये शब्द के साथ अर्थ की योजना करनी पड़ती है । इस भूमि में संकेत या Convention स्वीकार कर शब्द से अर्थबोध की प्रक्रिया का उपपादन करना आवश्यक हो जाता है । जहाँ शब्द अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध लुप्त नहीं हुआ है, वहाँ Convention की आवश्यकता नहीं होती । पराभूमि से वैखरी भूमि में अवतरण करना ही सृष्टि की प्रक्रिया का इतिहास है । इस प्रकार मूल परमशब्द जागतिक अर्थ में क्रमशः एक-एक भूमि अतिक्रम करते हुए प्रकाशमान होता है । वापस लौटते समय विपरीत क्रम से, जागतिक अर्थ से क्रमशः शब्द में आ जाता है । मूल शब्द के आविष्कार होते ही जीव का जीवत्व हमेशा के लिए अपगत हो जाता है । जीव परम शिव के रूप में अपने नित्य स्वरूप को प्राप्त कर धन्य हो जाता है । उस समय यही मूल महाशब्द अपने स्वाभाविक रूप में आत्मप्रकाश करता है ।

द्वैतवादियों का कहना है कि चित्शक्ति अथवा परमेश्वर में नित्य समवेता परमाशक्ति विन्दु नामक शुद्ध अचित् पदार्थ को जब स्पर्श करती है तब वह क्षुब्ध होकर सृष्टि की सूचना देती है । इसीलिए पारमेश्वरी शक्ति क्रियाशक्ति रूप में ही विन्दु को क्षुब्ध करती रहती है—इस बात को स्मरण रखना होगा । इसकी जो निष्क्रियावस्था है, उसमें विन्दु का क्षोभ्य-क्षोभक भाव नहीं रहता । विन्दु का नामान्तर महामाया अथवा कुण्डलिनी है । जब विन्दु क्षुब्ध होता है तब उस क्षोभ के कारण नाद की धारा प्रवर्तित होती है । इस प्रसंग में कला, तत्त्व और भुवन ये तीनों तथा वर्ण, मंच और पद ये तीनों—कुल छः अध्वा के आविर्भाव को समझ लेने पर विन्दु से कैसे शब्दों की धारा एवं अर्थ की धारा प्रकट होती है, इसे आसानी से समझा जा सकता है । विन्दु में जितने जीव या पशु विवेक-ज्ञान प्राप्ति के द्वारा माया को अतिक्रम करके विलीन भाव में सुषुप्त हो, मौजूद हैं, उनमें जिनका मलरूपी आवरण परिपक्व हो गया है, वे सब सृष्टि के प्रारंभ में परमेश्वर की अनुग्रह शक्ति प्राप्त कर जाग उठते हैं । यही है उनके चैतन्य का विकास । वैन्दव-देह की प्राप्ति के साथ ही यह विकास होता है । वैन्दव-देह विन्दु या कुण्डलिनी से उद्भूत है । विज्ञानाकल नामक अणु समूह भगवत्दत्त दीक्षा के कारण इस शुद्ध देह को प्राप्त कर अपनी योग्यतानुसार अधिकार एवं भोग प्राप्त करते हैं । वैन्दव राज्य की सृष्टि, वहाँ की देह सृष्टि और उन लोगों के अधिकारादि सब कुछ भगवत्दत्त कृपा का फल है । यह स्मरण रखना होगा कि यह स्थिति मायातत्त्व के ऊपर है । इसके साथ माया या कर्म का कोई सम्पर्क नहीं है । इनमें प्रधान आठ लोग अष्ट मंत्रेश्वर के रूप में ईश्वरतत्त्व के आश्रय में रहते हैं । उसके नीचे परिपक्वमल सात कोटि विज्ञानाकल मंत्र के रूप में विद्यातत्त्व के आश्रय में रहते हैं । भगवान् के मायिक जीवों के उद्धाररूप महाकार्य में यही सब प्रधान सहायक हैं । इनमें मंत्रेश्वरगण गुरुरूप में इस अनुग्रह कार्य के स्वामी होते हैं और मंत्रगण विद्या के रूप में इस

अनुग्रह कार्य में गुरुवर्ग के अधीन कार्य करते हैं । यही है अपरा मुक्ति की अवस्था । प्रलयाकल नामक जितने जीव प्रलयकाल में मायातत्त्व में सुषुप्त रहते हैं उनमें भी जो मल के परिपाक के कारण अधिकतर योग्य होते हैं, वे सब भी पूर्ववत् भगवदनुग्रह प्राप्त कर मंत्रेश्वर के रूप में आविर्भूत होते हैं । इनका मायाभेद न होने के कारण इन सभी का मायिक देह भी मौजूद रहता है । जबकि दीक्षा से वैन्दव देह भी आयत्त होता है । ये दोनों देह विशिष्ट होते हैं । ये माया गर्भस्थ जगत् के अधिकारी मण्डल हैं । इन दोनों प्रकार के मंत्रेश्वर के अधीन रहते हुए मंत्रवर्ग जीवों के उद्धार के कार्य में लगे रहते हैं । इनमें से किसी में परवैराग्य उदय होने पर वह तुरत पूर्णत्व प्राप्त करता है और अपने अधिकार से अवसर प्राप्त कर लेता है । तब निम्न भूमिस्थ अधिकारी उक्त रिक्त-पद पर उन्नीत हो जाता है और मायागर्भ से अन्तिम पद के लिए अधिकारी निर्वाचित होता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी अधिकारी प्रलय तक अवस्थित रहते हैं । इनमें से जो शुद्धाधिकारी होते हैं, उनकी स्थिति महाप्रलय तक बनी रहती है ।

जिन आठ ईश्वरों के बारे में बताया गया, उनमें जो प्रधान होते हैं, उनका नाम अनन्त है । वे माया के अधिष्ठाता हैं । उनके संकल्प से क्षुब्ध होकर माया मायिक जगत् में प्रसव करती हैं । जिस प्रकार शिव शुद्ध जगत् के अधिष्ठाता हैं, उसी प्रकार अनन्त भी मायिक जगत् के अधिष्ठाता हैं । जिस प्रकार शुद्ध जगत् विन्दु रूप में महामाया से उद्भूत होता है, उसी प्रकार मायिक जगत् मायातंत्र से उद्भूत होता है । शुद्ध जगत् सृष्टि के मूल में शिव की निर्विकल्प चैतन्यशक्ति काम करती है । अशुद्ध जगत् की सृष्टि के मूल में अनन्ताख्या ईश्वर की सविकल्प ज्ञानरूप कल्पनाशक्ति कार्यरत रहती है । शुद्ध चैतन्यशक्ति जो क्रियाशक्ति के रूप में विन्दु को क्षुब्ध करती रहती है, वह विन्दु के अतीत का परनाद है । यह विन्दु क्षोभजनित नाद नहीं है । ईश्वर का सविकल्प ज्ञान या संकल्प विन्दु समुत्थित नाद शब्द के द्वारा अनुविद्ध चैतन्य है । अतएव शुद्ध जगत् की सृष्टि के मूल में परनादरूप शब्द, शुद्ध जगत् की सृष्टि में अपरनादरूप विन्दुजन्य शब्द है तथा अशुद्ध मायिक जगत् की सृष्टि के मूल में अपरनाद के द्वारा अनुविद्ध चैतन्य रूपी ऐश्वरिक संकल्परूप शब्द है । सृष्टि के निम्नस्तर में भी इसी प्रकार के शब्द से सृष्टि का क्रम देखने में आता है ।

+ + + +

शब्द से सृष्टि प्रणाली समझने के लिए साधारण तौर पर जितनी बाधाएँ आती हैं, उसे पार कर चित्त को यथा सम्भव संस्कार-रहित कर लेने पर रहस्य का उद्घाटन सहज हो जाता है । अक्षरब्रह्म को शब्दात्मक पहले कहा जा चुका है । यही शब्दब्रह्म हैं । ये स्वरूपतः कलातीत होने पर भी इसमें स्वरूपानुविद्ध अनन्त शक्ति विद्यमान है । यह सब शक्ति मूल शब्द से अलग या भिन्न नहीं है । स्वरूप के साथ अभिन्न होने के कारण इन्हें स्वरूपशक्ति कहा जाता है । यही सब शक्ति ही कला नाम से अध्यात्म शास्त्र में परिचित हैं । यही सब कलाएँ नित्य हैं, किन्तु नित्य होने पर भी यही सृष्टि के आदि प्रवर्तक हैं । इन सभी नित्य कलाओं से विकारात्मक

जगत् उद्भूत हुआ है । ये सभी नित्य कला हैं, समष्टि रूप में महापदवी वाच्य हैं । यह प्रकृति कालशक्ति के सहारे योनि रूप में परिणत हो जाती हैं । योनिवर्ग से अनन्त भावपुंज आविर्भूत होते हैं । योनिवर्ग ही आत्मा का कलादेह है । कलादेह से जिस सृष्टि का उद्भव होता है, वह क्रमबद्ध और विकारात्मक होता है । यह सृष्टिचक्र षड़र नाम से प्रसिद्ध है । जन्म, सत्ताप्राप्ति, विपरिणाम, वृद्धि, क्षय एवं नाश । सृष्टिचक्र के यही छः अर हैं ।

नित्यकला महाविन्दु को घेरे हुए है । ये सब निरन्तर मार्ग भेद में वामावर्त और दक्षिणावर्त क्रम से चक्कर काट रहे हैं । साधक जप के समय इसी का अनुकरण करता है । इसी का नाम कालचक्र का आवर्तन है । इस आवर्तन से वेग की तीव्रता के अनुसार अहोरात्र से प्रारम्भ कर संवत्सर चक्र तक विभिन्न चक्र बने हैं । क्षण से आरम्भ कर अति महाप्रलय तक कालचक्र के आवर्तन की जड़ में इस नित्या मण्डल का संचरण हो रहा है । पंचदश नित्या आवरणरूप में निरन्तर परिक्रमा कर रही है । जो षोड़शी हैं, वे विन्दुरूप में मध्य में हैं । मूलचक्र को त्रिकोणात्मक मान लेने पर समझ लेना चाहिए कि यही पंचदश नित्या ही त्रिकोण-मण्डल की तीन भुजाएँ हैं । तीनों भुजाएँ परस्पर समान हैं । कारण, प्रत्येक भुजा ५-५ नित्या या कला द्वारा गठित है । इस मण्डल में मध्य विन्दु के रूप में जो मौजूद हैं, वे नित्य प्रकाशमान चिदानन्द स्वरूप हैं—वे ही षोड़शी कला हैं । पंचदश कलाओं का आवर्तन होने के कारण उसमें से क्षरण होता है । किन्तु षोड़श कला से अमृत द्वारा पंचदश कला आपूरित न होने पर पंचदश कला से धारा रूप में अमृत का क्षरण संभव नहीं होता । इसी अधःप्रवाह से सृष्टि की सूचना होती है । षोड़शी कला से ऊर्ध्वप्रवाह रूप में एक रश्मि सप्तदशी की ओर चली गयी है । वह काल से अतीत है । उसी के सहारे नित्य जगत् का आविर्भाव होता है ।

शब्दमयी कला काल के सहारे क्रम अवलम्बन पूर्वक अर्थरूप में जगत् में प्रकट होती है । षोड़शी कला शब्दरूप में अपनी सृष्टि स्वयं ही देखती है । संहारकाल में अर्थ को शब्द में अगर लीन कर दिया जाय तो वही शब्द क्रमशः पंचदशी में पर्यवसित होता है । इसके बाद कालचक्र भेद कर लेने पर विन्दु में प्रतिष्ठा होती है । कालचक्र से विन्दु तक ले जाना ही कठिन कार्य है । सृष्टि काल के अधीन है, उसमें क्रम है, किन्तु नित्य सृष्टि काल के अधीन नहीं है, उसमें क्रम नहीं है । दोनों ही सृष्टि शब्द से ही निकले हैं । मंत्रादि के जप से देवताओं का जो आविर्भाव होता है, वास्तव में वह अनित्य सृष्टि नहीं है और न नित्य सृष्टि है । वास्तव में वह काल में नित्य सृष्टि की अभिव्यक्ति है । जो नित्य जगत् के सिद्धसत्ता हैं, जपादि के द्वारा उनका आवरण हट जाने पर कालराज्य में उनका आविर्भाव दिखाई देता है । वास्तव में नित्य सृष्टि भी सृष्टि जरूर है, फिर भी वह अनन्त है । इस सृष्टि के मूल में शब्द की क्रिया है ।

चिदाकाश से चैतन्यरूप में शब्दों का उत्थान होता है । जब वह शब्द प्रतिध्वनि के रूप में, मायिक आकाश में गूँजता है तब उसमें माया के आवरण रूप पर एक पर्दा पड़ जाता है । चैतन्य शब्द जड़ शब्द में परिणत हो जाता है, किन्तु जड़

शब्द होने पर भी जबतक वायु की क्रिया का उन्मेष नहीं होता तबतक उसमें अविच्छिन्नता रह जाती है । यहीं तक नाद की गति है । इसके बाद वायुतत्त्व का आश्रय लेने के साथ-साथ अन्तराकाश में बाह्य सत्ता का आभास थोड़ा-थोड़ा जाग उठता है । अभी तक आन्तरभाव दूर नहीं हुआ है जबकि बाह्यभाव क्रमशः अधिकतर प्रबल हो उठा है । चरम अवस्था में जब आन्तरभाव लुप्त होता है एवं एकमात्र बाह्यभाव मौजूद रहता है तब भेदज्ञान उदय होता है और आत्मविस्मृति होती है । शब्द एवं अर्थ दोनों के स्वरूप में आवरण रहने के कारण शब्द और अर्थ तब परस्पर पृथक हो जाते हैं । तब शब्द में से फिर अर्थ प्राप्त नहीं होता और न अर्थ में से शब्द का कोई संधान मिलता है । ऐसी स्थिति में शब्द वर्णात्मक वैखरी रूप में आत्मप्रकाश करता है । यह कंठ ओंठ तक अवस्थान करता है । ४६ वायु के स्वाभाविक कम्पन के तारतम्य के अनुसार नादरूपी शब्द ४६ हिस्सों में विभक्त हो जाते हैं । समष्टि को लेकर ५० और समष्टि के साथ ५१ । यही है वर्णमाला की संख्याएँ । इसमें अनेक रहस्य हैं वह अवान्तर होने के कारण उसका उल्लेख नहीं किया जा रहा है । वर्णमाला की सृष्टि एवं अनन्त ज्योति से रश्मि का उद्गम समकालीन घटना है । ये सभी वर्ण विष-दन्तहीन सर्प की भाँति अथवा शरत्कालीन जलहीन मेघों की तरह केवल नाम से शब्दरूपों में परिचित हैं । इन सब वर्णों के सम्यक् प्रबोधन पूर्वक उनके परस्पर संघटन सम्पन्न कर सकने पर इच्छानुसार पदार्थों की सृष्टि की जा सकती है । वास्तव में मंत्रोद्धार इसी महातत्त्व के विज्ञान पर निर्भर है ।

नित्यलीला

नित्यलीला चिदाकाश का व्यापार है—चित्ताकाश का नहीं । चित्ताकाश में कर्मसंस्कार संचित रहता है—वह भेद ज्ञान के बीच माया द्वारा कलंकित है । मायातीत पद पर बिना आरूढ़ हुए नित्यलीला का संधान नहीं मिलता । नित्यलीला जड़-जगत् का व्यापार नहीं है । चिन्मयधाम में ही उसकी स्वाभाविक स्फूर्ति उपलब्ध हो सकती है । चैतन्य सम्प्रदाय में भी इसीलिए महाजनगण स्वरूपशक्ति का उल्लास रूप में नित्यलीला का वर्णन करते हैं । स्वरूपशक्ति ही अन्तरंगा चित्शक्ति है, यह कहना अनावश्यक है । वास्तव में यह भगवत्स्वरूप से अभिन्न है, पर शक्त्यात्मक है । माया जड़शक्ति है—इसीलिए मायिक प्रपंच या मायागर्भ में नित्यलीला का सद्भाव नहीं है । तांत्रिकों का भी यही कहना है । अनुत्तर स्थिति में स्वतंत्रता के उल्लास में शिवशक्ति का परस्पर ओन्मुख्य निबन्धन संघट्ट होने पर रसधारा उच्छलित होता रहता है । यहीं रस स्फूर्तिरूप लीला का विकास होता है । प्राचीन आगमों में इसे विसर्ग भूमि कहा गया है । शिवशक्ति का 'यामल' जिसे गौड़ीय लोग "युगल" रूप तथा सहजयानी बौद्धगण "युगनद्ध" रूप कहते हैं—वह इसी रसधारा का प्रस्रव स्वरूप है । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह इच्छाशक्ति के उन्मेष की पूर्वतन अवस्था है । तंत्रमत से 'अ' और 'आ'—एक ही सत्ता की दो

दिशाएँ हैं । इकार से विश्वबीज इच्छा का उद्भव होता है । अ=अनुत्तर । आ=आनन्द । इसमें अनुत्तर परप्रकाश मात्र है—यह शिवशक्ति का अद्वय रूप या तत्त्व है । यही वास्तविक अद्वैत है । आनन्द=प्रकाशरूपी शिव और विमर्श रूप है । शक्ति का मिथुनीभाव या परस्परानुप्रवेश से उच्छ्वसित रसधारा है । श्रृंगार या आदिरस का सहारा लेकर यह "विवर्तबिलास" रूप में लीला करता है । इसके बाद इच्छा के विकासक्रम में पर पर परा, परापरा एवं अपराशक्ति आदि का आविर्भाव होता है । सहजभाषा में कहें तो ये सब इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति के रूप हैं । इन सभी शक्तियों के घात-प्रतिघात से विचित्र जगत् की उत्पत्ति होती है । सुतरां लीला जो कि चित्ताकाश का व्यापार नहीं है, इसमें सन्देह नहीं । कुछ लोग सोचते हैं कि शुद्ध चैतन्य निष्क्रिय और लीला क्रियात्मिका है, फलस्वरूप शुद्ध चित्तस्वरूप में लीला का कोई स्थान नहीं है । यह ठीक नहीं है । लीला स्पन्दमयी शक्ति की आजादी में विलास मात्र है । इसके साथ इच्छा, ज्ञान और क्रिया का कोई सम्बन्ध नहीं है । यही भगवत्स्वरूप निगूढ़ रहस्य है । बाह्य रूप से यह देखने की चीज नहीं है । बाह्यभाव में रहने तक इसका पता भी नहीं चलता । यह अपने साथ स्वयं ही लीला करती है—इस लीला में दूसरा कोई नहीं है । मगर अनुगत द्रष्टा होने पर सीक्षी रूप में यह लीला देखा जा सकता है । साक्षी को यह अधिकार प्राप्य है । यही मायामुग्ध भगवत्भक्त जीव के साथ लिंक है अर्थात् जीव मुक्त होकर पराभक्ति के प्रभाव से इस सखी के साथ योगमुक्त हो जाता है । इसीलिए साक्षी या द्रष्टा बनकर लीला दर्शन का अधिकारी होता है । जबकि माया और महामाया का अतीत होकर वह विशुद्ध चिदुज्ज्वला भगवान् की स्वरूपभूता महाशक्ति के अंक में रहता है । इसीलिए संख्यादि सम्मत केवली द्रष्टा के पद से ऊर्ध्व में रहता है । इसी को श्रीगुरुदेव ने 'माँ की गोद में बैठे माँ की लीला देखना' कहा है ।

मानस-वृन्दावन

यह वृन्दावन क्या मानस वृन्दावन है ? चैतन्य चन्द्रोदय नाटक में विरजा के उस पार परव्योम का वर्णन है—यह नित्य चिन्मय भूमि है, यहाँ के लता, गुल्मादि चिन्मय और आनन्दधन हैं । भगवत् संदर्भ में इसकी चर्चा है—यह नारायण के त्रिपाद विभूतिस्वरूप, नित्य अनन्त, शुद्ध सत्तामय, दिव्य परमपद है । कहने की आवश्यकता नहीं है कि यही मायातीत भूमि है, इसीलिए इसे 'मानस-वृन्दावन' न कहकर 'नित्य वृन्दावन' के रूपक में ग्रहण करना उचित है । वृन्दावन तीन प्रकार के हैं, मनुष्य भी तीन प्रकार के हैं—नित्य वृन्दावन में ही स्वतः सिद्ध मनुष्य का प्रकाश होता है, अन्यत्र नहीं । अन्यत्र अयोनिसंभवक एवं योनिसंभव मनुष्य की स्थिति है । मानस वृन्दावन के साथ नित्य वृन्दावन का भेद बंगीय रहस्य मार्ग में प्रसिद्ध है । जो 'अपाकृत नवीन मदन' के नाम से वर्णित है, वे विरजा के इस पार की वस्तु नहीं हैं । 'प्रेमानन्द लहरी', 'राधारसकारिका', 'निगूढ़ार्थ प्रकाशवली'

आदि ग्रन्थों में राधाकृष्ण के तत्त्वों अर्थात् युगल रूप के निगूढ़ रहस्यों का वर्णन है । भावदेह के पश्चात् सिद्धदेह प्राप्त होती है—भावदेह साधक अवस्था में अभिव्यक्त होता है, गोकि मंत्रसिद्धि के प्रभाव से या नाम महात्म्य के कारण, किन्तु सिद्धदेह साधक स्थिति में प्राप्त नहीं होती । एक बात और है । साधक का सहारा सखी चरण है, किन्तु सिद्ध का सहारा श्रीराधा के चरण हैं । साधक का लीला राग होती है, पर सिद्ध का प्रेम और प्राप्ति राग होता है । मानस वृन्दावन में इन सिद्धजनों के उपभोग्य रस का आस्वादन संभव नहीं होता । प्राचीन रामायेत-सम्प्रदाय में भी इस निगूढ़ तत्त्व का संधान मिलता है । तुलसीदास के श्रीराम नामकला मणिकोष मंजूषा तथा कबीर रेखा आदि में इस तत्त्व का परिचय सुष्ठ रूप में प्राप्य है । शुक संहिता, सदाशिव संहिता आदि ग्रन्थों में इस विषय की चर्चा है । स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि पंचदेह अतिक्रम करने के बाद हंसदेह प्राप्त होती है तब श्रीभगवान् का नित्य पार्षद भाव उपलब्ध होता है, यही सगुण और निर्गुण दोनों भावों से अतीत है, पर लौकिक दृष्टि से दोनों भावमय् रूप या भिन्न-भिन्न रूप में प्रतिभात होता है । यही युगल रूप का रहस्य है । तांत्रिकों का यामलरूप और वज्रयानी बौद्धों का युगनद्ध रूप का तत्त्व यही है । एक और विषय इस प्रसंग में स्मरणीय है । उत्कल में महाप्रभु ने जिस निगूढ़ धर्म की शिक्षा दी थी जो अधिकार भेद के अनुसार उनके पंच सखा में ही आबद्ध थी, उसकी चर्चा आवश्यक है । उत्कलीय वैष्णव ग्रंथ अति अपूर्व हैं । हमारे यहाँ के गोस्वामी ग्रंथावलियों की भाँति उन सभी ग्रंथों का विश्लेषण करना आवश्यक है । प्रेमभक्ति ब्रह्मगीता, गुरुभक्ति गीता आदि उत्कृष्ट तत्त्वग्रंथ हैं ।

काल तत्त्व

काल वास्तव में एक होने पर भी दृष्टि और अवस्था भेद से उसके व्यवहारगत भेद को स्वीकार करना चाहिए । जो काल परप्रमाता की ओर से उनकी विश्वाभासकारिणी क्रियाशक्ति है, वही दूसरी ओर मितप्रमाता या मायाप्रमाता की ओर से उनके स्वरूपाच्छादक, स्वेच्छागृहित, कंचुक विशेष है । पहला परशिव के साथ अभिन्न है और उनका ही स्वभावभूत है, कारण, ज्ञानक्रियात्मक स्वातंत्र्य या विमर्श ही उसका स्वभाव है । प्रथमोक्त काल इसी क्रिया का स्वरूप विशेष है । यह सभी तत्त्वों का परम रूप है, क्योंकि क्रिया-शक्ति से ही संविद का बहिरुन्मेष होता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि यही बाह्य उन्मेष ही विश्व का आभासन है । इसीलिए काल को ईश्वररूप कहा गया है । विश्वकलन ही शक्ति का क्रियात्मक बहिर्मुख रूप है, पर बहिर्मुख होने पर भी यह स्वात्म विश्रान्त है, क्योंकि विश्वाभास 'इदमहं' है, इस प्रतीति का अतिक्रम कर वह उदित नहीं हो सकता । अर्थात् ज्ञान और क्रिया अभिन्न होने के कारण शक्ति का क्रियात्मक रूप या विश्व उसका ज्ञानात्मक रूप या आत्मा से अभिन्न है । परमात्मा का यही ईश्वररूपता या क्रियाख्य कालशक्ति ही मायाप्रमाता में कालतत्त्व है । केवल यही नहीं, शिव से शुद्धविद्या तक परमात्मा

तत्तत् स्वरूप ही पुरुष के आवरणकारी मायादि रागान्त तत्तत् कंचुक रूप में प्रकाशवान है । मलरहित परशिव में जो क्रिया या कालशक्ति है, वही मलिन पुरुष में कालतत्त्व है । अतएव काल को मायीय मल के अन्तर्गत समझने पर उसे कालतत्त्व समझकर ग्रहण करना होगा । मगर यह सत्य है कि कंचुक को भी शक्ति कहा जा सकता है, क्योंकि वह माया की विभूति है । इसीलिए महार्थमंजरी (कारिका १८) में 'पंचशक्तयः' के नाम से पाँच कंचुकों का वर्णन किया गया है । ईश्वर प्रत्याभिज्ञ-विमर्शिनी की बातें इसीलिए प्रामाणिक हैं । परमात्मा में जो स्वातंत्र्यशक्ति है, वही पशु में पारतंत्रविधायनी पाशशक्ति है ।

काश्मीरीय शैवाचार्यों ने प्रमाणित किया है कि देश और काल इन दोनों अध्वाएँ सामान्यस्पन्दात्मक प्राण में या भगवान् की क्रियाशक्ति में प्रतिष्ठित हैं । इसमें कालाध्वा पूर्वी भाग में और देशाध्वा उसके उत्तर भाग में है । देशाध्वा के विभाग मूर्तिवैचित्र्य के द्वारा एवं कालाध्वा के विभाग क्रियावैचित्र्य द्वारा सम्पन्न होता है अर्थात् मूर्तिवैचित्र्य से देशक्रम एवं क्रियावैचित्र्य से कालक्रम का आविर्भाव होता है । इस आविर्भाव के कर्ता ईश्वर हैं । अमूर्त, सर्वग और निष्क्रिय संविद की मूर्ति भी क्रियारूप में अवभास ही देश और काल के अध्वा हैं । यह काल ईश्वर का क्रियाशक्त्यात्मक रूप है, कालतत्त्व नहीं, अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक के षष्ठ आह्निक में इसकी चर्चा कर चुके हैं । शैवाचार्यों ने जिस प्रकार मूर्ति और क्रियावैचित्र्य निबन्धन देश और कालाध्वा का वर्णन किया है, लगभग उसी भाव का विवरण भर्तृहरि सम्प्रदाय में भी है । मगर वैयाकरणों का प्रस्थान अवश्य पृथक है ।

परमेश्वर स्थित ज्ञान और क्रियाशक्ति ही उनके ऐश्वर्य या स्वातंत्र्य रूप में शास्त्रों में वर्णित है । भेदोन्मेष के अभाव से उसका स्वाभाविक प्राणशक्ति ही सदाशिव और उनकी स्वाभाविक क्रियाशक्ति ही ईश्वर है । सुतरां प्रत्याभिज्ञा मत से क्रियाशक्ति का स्वातंत्र्यरूप है, इसमें कोई संदेह नहीं ।

चिदाकाश

इस बार पुरीधाम में आने पर एक अच्छे सज्ज्न से मुलाकात हुई । उनका नाम है—श्यामादास बाबाजी । आप बाह्यदृष्टि से चैतन्य सम्प्रदाय के एक वैष्णव हैं, पर वे हैं—उच्चश्रेणी के अनुभूति सम्पन्न ज्ञानी । उम्र से बूढ़े हैं (अन्दाजन ८० वर्ष की उम्र होगी), पर शरीर से अभी वे सशक्त और कार्यक्षम हैं । शिथिलता उनमें तनिक भी नहीं है । पहले आप २४ वर्ष तक श्रीवृन्दावन स्थित कुसुम सरोवर में थे । बाद में कुछ दिनों तक काशी में परलोकवासी ब्रह्मानन्द भारती के पास थे और यहाँ ३०-३५ साल से हैं । पहले स्वर्गद्वार स्थित हरिदास की समाधि-मन्दिर में रहते थे, सम्प्रति नरेन्द्र प्रान्त स्थित प्रसिद्ध 'जगन्नाथवल्लभ' नामक उद्यान की बगल में 'बन्धु आश्रम' नामक एक भवन बनवाकर रहते हैं । आप में बाह्य आडम्बर कुछ भी नहीं है, पर वास्तविक ज्ञानसम्पदा पर्याप्त है । जवानी के दिनों आपको

तैलंग स्वामी की कृपा प्राप्त हुई थी । इनके अलावा प्रभु जगबन्धु तथा अन्य अनेक साधु पुरुषों का संग एवं आशीर्वाद प्राप्त हुआ था । किसी तरह से हो, आप में 'स्वभाव' जग गया था । उन्होंने बताया—वे सर्वदा द्रष्टाभाव में रहते हुए अपने स्वभाव की लीला देखते रहते हैं । इस देखने के साथ सुख-दुःख का कोई भाव सम्मिलित नहीं है । एक शान्त निर्लिप्तभाव, यही देखते हैं । आप अपनी अनेक गुह्य अनुभूतियों को स्वप्रेरित होकर बातचीत के सिलसिले में प्रकट करते रहे । इससे उनकी आध्यात्मिक स्थिति का एक स्पष्ट परिचय प्राप्त हुआ । आपने जिस स्वभाव के बारे में बताया, उसे आप चिदाकाश समझते हैं । उसे आप एक नीलवर्ण मण्डलाकार आकाश की तरह अपनी अन्तर्दृष्टि में सर्वदा देखते हैं । जब वस्तुभाव में लिप्तता आती है तब उस समय उसे नहीं देख पाते, पुनः कुछ देर बाद जैसा पहले देखते थे, ठीक उसी तरह देखते रहते हैं । दूसरी ओर उस आकाश में अन्तर्दृष्टि निबद्ध रहने पर बाह्यभाव में उलझे रहने की संभावना नहीं रहती । अपनी प्रकृति—मन आदि—सभी लीलाएँ उक्त आकाश में देखी जा सकती हैं, किन्तु यह विविक्तदर्शन होने के कारण द्रष्टा को रंजित करके भोक्ता के रूप में परिणत नहीं कर सकती । उन्होंने आत्मदर्शन किया है । जगत् की सभी वस्तुओं में वे अपने स्वभाव को स्पष्ट रूप से देख पाते हैं । स्वभाव में निराकार आकाश को देखते हैं, फिर उसी निराकार आकाश में जागतिक सभी लीलाओं को देख पाते हैं जबकि इस देखने की प्रक्रिया में किसी प्रकार के मोह का संश्रव नहीं है । बीच-बीच में लिप्तता का आभास आता है, वह पूर्व संस्कार का अभिनय मात्र है । जब संस्कार शोधित हो जायगा तब यह अभिनय भी नहीं रहेगा । भूतपूर्व 'UNREGENERATE NATURE' अपरिवर्तनीय प्रकृति का यही अंश बचा रह गया है । सज्जन अत्यन्त निर्जनता प्रेमी हैं । अनेक लोग आपको जानते हैं, पर बहुत से लोग आपको पहचानते नहीं ।

बाबाजी अभी तक चिदाकाश में प्रतिष्ठित नहीं हुए हैं, क्योंकि कभी-कभी वे (थोड़े समय के लिए होने पर भी) आत्मविस्मृत हो जाते हैं और द्रष्टा के निरपेक्ष स्वरूप से जैसे 'च्युत' होकर लौकिक पुरुष की भाँति लिप्त एवं विवेकहीन भाव में आ जाते हैं । गोकि यह उनके पूर्व संस्कार के उद्दीपन के कारण सामयिक भाव मात्र है, इससे उनकी कोई हानि नहीं होती । क्षण भर बाद वे विविक्त साक्षीरूप में प्रत्यागमन करते हैं । तब अपनी प्रकृति की लीला देखने लगते हैं एवं कभी-कभी (जब सामयिक रूप से प्रकृति की लीला समाप्त होती है ।) प्रकृति के साथ अभिन्नभाव में अवस्थित रहते हैं । वास्तव में दूसरी अवस्था में भी वे आत्मप्रकृति का ही दर्शन करते हैं । यह एक प्रकार से आत्मदर्शन का नामान्तर होने पर भी विशुद्ध आत्मदर्शन अगर हो जाय तो फिर कभी नहीं जाता । व्युत्थानावस्था में जगद्दर्शनकाल में भी उक्त आत्मदर्शन अनुस्यूत रह जाता है । फिर भी यह तो आत्मदर्शन का आभास है, इसमें कोई सन्देह नहीं । व्यवहारिक रूप से इसे भी 'आत्मदर्शन' कहा जा सकता है ।

असली बात यह है कि बाबाजी महाराज अभी चित्ताकाश में अवस्थान कर रहे हैं और वहीं से कभी-कभी, यहाँ तक कि अधिक समय तक चिदाकाश का दर्शन कर पाते हैं । चूँकि वे चित्ताकाश में अधिष्ठित हो गये थे, इसीलिए उसे अलग से—दृश्यवत—देख नहीं पाते । चित्ताकाश से सत्त्वगुण का आलोकमय परदा रह-रहकर हटने पर फांक में से मुक्त चिदाकाश दिखाई दे जाता है । यह दर्शन विज्ञान चक्षु का व्यापार है—दिव्य चक्षु का नहीं । दिव्य चक्षु शुद्ध चित्ताकाश और उस आकाश की अनन्त विभूतियों का दर्शन कर पाती है । चिदाकाश का दर्शन करने में समर्थ नहीं होता । चिदाकाश-दर्शन अभेद दर्शन है—चित्ताकाश और उसकी विभूति का दर्शन—भेदाभेद दर्शन है, दोनों में अनेक पार्थक्य हैं । एक बात और—दिव्य दर्शन में ज्योति की प्रधान्यता रहती है, चिन्मय दर्शन में ज्योति नहीं रहती—शुद्ध प्रकाश रहता है । हम लोग आमतौर पर अन्धकारमय भूताकाश में निवास कर रहे हैं । यह अन्धकार का राज्य है—प्रकाश यहाँ का आगन्तुक धर्म है । प्रकाश के लिए यहाँ प्रयत्न करना पड़ता है । यही अज्ञान का निदर्शन है, इसीलिए हृदयाकाश को अन्धकार से आच्छन्न देखते हैं, किन्तु जब भीतर ज्ञान का प्रकाश होता है, तब धीरे-धीरे क्रमशः अन्धकार का यह परदा हट जाता है । बाद में एक ऐसी स्थिति आती है जब हृदय से अन्धकार हमेशा के लिए विदा ले लेता है—एकमात्र आलोकमय आकाश ही उस वक्त व्यापक भाव से प्रकाशमान होता है । यही चित्ताकाश है । शुद्ध चित्त में चित्त का प्रतिफलन होने पर प्रकाश का विकास होता है—उसी का नाम है ज्ञान । चित्ताकाश का आलोकमय परदा जब कभी हट जाता है तब जिस प्रकार चिदाकाश दिखाई देता है, ठीक उसी प्रकार भूताकाश का अन्धकारमय परदा बीच-बीच में हट जाने पर उक्त रन्ध्रमार्ग में आलोकित चित्ताकाश का दर्शन होता है । चिदाकाश का दर्शन ऊर्ध्वनेत्रों, चित्ताकाश का दर्शन मध्यनेत्रों एवं भूताकाश का दर्शन अधोनेत्रों से होता है । प्रथम दर्शन मार्ग ब्रह्मरन्ध्र, द्वितीय दर्शन मार्ग भ्रूमध्यस्थ दिव्य चक्षु एवं तृतीय दर्शन मार्ग है । द्रष्टा सर्वत्र समभाव से पीछे मौजूद है । इन्द्रिय का दर्शन या भौतिक दर्शन भेदमय है, शुद्ध मन या दिव्य चक्षु का दर्शन भेदाभेदमय और विज्ञान चक्षु का चिन्मय दर्शन अभेदमय है । भूत शुद्धि के कारण चित्ताकाश में तथा चित्तशुद्धि के कारण चिदाकाश में प्रतिष्ठित होता है ।

चिदाकाश ही विष्णु का परमपद है जिसके निकट यह सदा प्रकाशित है, वे सूरि और ब्रह्मदर्शी हैं । अखण्ड मण्डलाकार रूप में जब देह में यह अवस्थान करता है तब प्रत्यक्ष होता है । इसके एक छोर पर एक छोटे विन्दु की तरह समग्र विश्व अभिन्न रूप में प्रतिभासमान होता है । अभिन्न होने पर भी विकल्प दृष्टि से यह भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देता है । अशुद्ध विकल्प दृष्टि में भिन्न रूप में दिखाई देता है । शुद्ध विकल्प महामाया के स्तर और अशुद्ध विकल्प मायिक जगत् का स्वाभाविक धर्म है । विश्व विकल्पमय है, इसलिए महामाया एवं तदन्तःपाती शुद्ध धामादि स्तर समूह, माया एवं मायिक-जगत्—सभी विश्व के अन्तर्गत हैं । भगवत्-स्वरूप में अर्थात् निर्विकल्प परमपद में, विश्व उसके साथ अभिन्न होने पर

भी अर्थात् उनकी स्वरूप शक्ति के विलास रूप में अवस्थित रहने पर भी विकल्प भूमि में उससे विसृष्ट होता है । किन्तु विसृष्ट होते हुए भी संसृष्ट रहता है । कारण, वह परमाश्रय भूमि है । विश्व का यह शुद्ध विकल्पमय—सत्य संकल्पमय—ज्ञानोज्वल इच्छा ज्ञान क्रियात्मक शक्तित्रय की स्फुरणरूपी अंश चित्ताकाश के अन्तर्गत और अशुद्ध विकल्पमय, अविद्याच्छन्न अंश जहाँ इच्छादि शक्ति बाधित होती है, वह भूताकाश के अन्तर्गत है । ज्ञानोदय में भूताकाश के आलोकित होने पर जिस चक्षु का उन्मीलन होता है, वह पिण्ड से ब्रह्माण्ड तक जाने का द्वार है । ब्रह्माण्ड से सत्त्वगुण की अव्यक्तता निबन्धन ज्ञान निरुद्ध होने पर भी गुणातीत चित्कला का उन्मेष होते ही उसी मार्ग से अर्थात् ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्व छिद्र मार्ग से (अर्थात् सूर्यमण्डल की ऊर्ध्व रश्मि या अमृत रश्मि के योग से) चिदाकाश में प्रवेश हो जाता है । वहाँ जाने के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

शास्त्रीय परिभाषा में इस अमृत रश्मि या अमृत नाड़ी की क्रिया को ही पराभक्ति के नाम से वर्णित किया गया है । इसके अलावा चिदाकाश में अभेद स्थिति नहीं हो सकती ।

चिदाकाश में प्रवेश करने पर फिर यहाँ के मर्त्य का दर्शन नहीं हो पाता । हो ही नहीं सकता । वह तो ब्रह्म निर्वाण अवस्था है । केवल यही नहीं, वहाँ से चित्ताकाश का भी दर्शन नहीं होता—भूताकाश तो दूर की बात है । अर्थात् चित्ताकाश और भूताकाश, दोनों के दर्शन होते हैं, किन्तु अभिन्न रूप में, चिदात्मक रूप में—ब्रह्मरूप में । यह ब्रह्मदर्शन वास्तव में स्वप्रकाश ब्रह्म के स्वरूप में स्थित है । परब्रह्म और शब्दब्रह्म के अभिन्नता का बोध ही पूर्ण ब्रह्मज्ञान है । चिदाकाश शब्दब्रह्म का दूसरा नाम है । द्रष्टा परब्रह्म है । चिदाकाश में भगवत् अनुग्रह से या पराभक्ति के प्रभाव से (उन्मना शक्ति के उल्लास या पूर्णतत्त्व के बोध के कारण) प्रविष्ट होने पर और शब्द ब्रह्म अथवा द्रष्टा तथा दृश्य का नित्य सामरस्य प्रतिष्ठित होता है । यही स्वातंत्र्यमय बोधस्वरूप आत्मा है । यही अद्वयतत्त्व सभी तत्त्वों का अतीत होकर भी सर्वतत्त्वमय परमतत्त्व है ।

पूर्णब्रह्म में स्वातंत्र्य का उल्लास होते ही चिदाकाश का आविर्भाव होता है । वास्तव में यह स्वातंत्र्य नित्य होने के कारण चिदाकाश भी एक हिसाब से नित्याविर्भूत है । अर्थात् जिस प्रकार द्रष्टा नित्य है, उसका दृश्य भी उसी प्रकार नित्य है—यह दृश्य द्रष्टा का ही स्वभाव या स्वरूपभूत शक्ति है, दोनों ही चिदेकरस हैं । महाशक्ति की मधुर लीला में एक ही अद्वयतत्त्व अनादि दिव्य मिथुन रूप में, युगल रूप में, 'युगन्द्ध' रूप में प्रकाशमान है, फिर भी यह विकल्पमय मनोराज्य या विश्व के ऊर्ध्व में—काल के कलनात्मक व्यापार की अतीत अवस्था है, A play as it were in the heart of eternity.

चिदाकाश के दर्शन के पश्चात् वहाँ से स्वेच्छावश अवतरण के द्वार पर सम्पूर्ण चित्ताकाश का युगपत् दर्शन होता है—यही विश्व दर्शन या विश्व सृष्टि है । इसमें क्रम नहीं है । इसके बाद चित्ताकाश में प्रवेश होता है और जीव रूप में चित्ताकाश

में संचरण होता है । यहाँ एक के बाद एक अवस्थाएँ क्रमशः प्रकट होती हैं । मगर यह क्रम अत्यन्त सूक्ष्म हो सकता है जिसे सहसा क्रम समझा नहीं जा सकता । अथवा स्थूल भी हो सकता है, इसीलिए क्रम से काल का मान निर्णीत होता है । चित्ताकाश से अवतरण द्वार पर सम्पूर्ण भूताकाश घोर अन्धकारमय गोलक रूप में दिखाई देता है । यही अधंकार ही माया का अंधकार है—इसमें प्रवेश करने पर आत्म विस्मृति पूर्णता प्राप्त करती है—अपना स्वरूप ज्ञान बिल्कुल आच्छन्न हो जाता है । इसके बाद माया गर्भ से बाहर आने पर भेदज्ञानमय अवस्था स्थायी हो जाती है । जितने दिनों तक भूताकाश में अवस्थान रहेगा, उतने दिनों तक यह भेदज्ञान दूर नहीं हो सकता । मगर ज्ञान के प्रकाश या दिव्यचक्षु के विकास में, चित्ताकाश दर्शन की अवस्था के विकास से भेदाभेद ज्ञान का आविर्भाव हो सकता है । ठीक-ठीक अभेद ज्ञान चिदाकाश के अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है ।

मूल में आकाश एक ही है । वह एक अनन्त प्रकाशमय व्यापक सत्ता है ('आ समन्तात् काशते') । उसे कोई ब्रह्म कहता है, कोई पराशक्ति, कोई परशून्य और कोई पूर्ण । वह वास्तव में अवस्थाहीन होने पर भी व्यवहारतः अवस्था भेद से विभिन्न आकाशरूप में वर्णित है । भूताकाश से भूतावरण हट जाते ही वही चित्ताकाश हो जाता है । चित्ताकाश से गुणावरण हटने पर वह चिदाकाश हो जाता है । चिदाकाश निर्मल है—उस पर कोई आवरण नहीं है । परन्तु सामरस्य अवस्था में उसमें भी भान नहीं रहता । 'कुंज' उस वक्त निकुंज रूप में प्रकट होता है । शैवगण 'चिदम्बर' या 'उमा-हैमवती' के नाम से चिदाकाश को सम्बोधित करते हैं । योगवाशिष्ठ की प्रबुद्ध लीला ने इसी चिदाकाश में असंख्य ब्रह्माण्ड देखा था ।

परमपद

आकाश में सूर्य के उदय होने पर उसके प्रचार के लिए दीपक का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं होती । साधारण जीव नाना कारणों से अज्ञ और असमर्थ है । उसकी इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति अनादि अविद्या के आवरण में आच्छन्न है । जिसे अभी तक अपने स्वरूप का परिचय प्राप्त नहीं हुआ है, उसके लिए दूसरों को परिचित कराने का प्रयत्न करना उचित नहीं लगता । इस प्रकार के प्रयत्न सफल नहीं होते । जिस तुम अभी तक पहचान नहीं सके हो, उसे दूसरों के निकट कैसे उपस्थापन किसके जोर से कर सकते हो ? जिस दिन तुम अपने को पहचान सकोगे, उस दिन सभी को पहचानने का मार्ग खुल जायगा । उस वक्त सत्य वस्तु को पहचानने के लिए शास्त्रों की सहायता अथवा अन्य महाजनों के निर्देशन की जरूरत नहीं होगी । जब तुम स्वयं उस वस्तु को पहचान सकोगे तब आवश्यकता होने तथा इच्छा होने पर दूसरों को पहचानने में कोई परेशानी नहीं होगी ।

सिद्धिमाता जिसे 'परमपद' कहती हैं, उसे अनेक महापुरुष द्वन्द्वातीत विकल्पहीन स्वरूपावस्था कहते हैं । माँ ने ज्ञान और अज्ञान के अतीत, यहाँ तक कि अद्वैत भाव के भी अतीत जिस अवस्था का वर्णन किया है; उसे बौद्ध-सम्प्रदाय, अद्वैत-वेदान्तिक सम्प्रदाय और तांत्रिक-सम्प्रदाय ने विभिन्न नामों से स्वीकार किया है । सूफी मत एवं पाश्चात्य जगत् का क्रिश्चियन मत से TRINITY में वही GOD THE FATHER की अन्तराली अवस्था है । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय एवं तुरीयातीत उसके अंगभेद मात्र हैं । उसे निराकार कहने पर भी ठीक-ठीक वर्णन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस अवस्था में साकार और निराकार की भेदबुद्धि नहीं रहती । वास्तव में वह अव्यक्त अवस्था है । श्री भगवान् का वही परमधाम है । किन्तु अनेक साधक प्राकृत, मलिन साकार साधना के बाद ही एक शून्यवत् वैचित्र्यहीन अवस्था की उपलब्धि करते हैं और उसे अव्यक्त पूर्वाभास मानते हैं । कोई-कोई उसे निर्विकल्प के रूप में प्रचार करते हैं । किन्तु यह ठीक नहीं है । प्राकृत अवस्था भेद करने के बाद अप्राकृत शुद्धसत्त्वमय एवं चिन्मय अवस्था में बिना प्रतिष्ठित हुए वास्तविक निराकार भूमि पर प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं की जा सकती । कारण, जड़-प्रकृति का लंघन करने के पश्चात् चैतन्य-शक्ति की सहायता के बिना निराकार सत्ता से साक्षात्कार संभव नहीं है । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह निराकार सत्ता भी वास्तविक निर्विकल्प सत्ता नहीं है । कारण, जिस प्रकार साकार भाव कल्पना है, उसी प्रकार निराकार भाव भी एक हिसाब से कल्पना के अलावा अन्य कुछ नहीं है । आकार का विकल्प सम्पूर्ण रूप से अस्तमित हो जाने पर साकार और निराकार, सगुण और निर्गुण, जड़ और चेतन इस प्रकार के सभी द्वन्द्व सर्वदा के लिए उपशम प्राप्त करते हैं और वास्तविक निर्विकल्प भाव ग्रहण करते हैं । साकार में ही निराकार का प्रकाश होकर पहले विशुद्ध निराकार भाव का उदय होता है । इसके बाद निराकार सत्ता-समुद्र में अवगाहन करते-करते उसमें अचिन्तनीय रूप से अखण्ड साकार सत्ता का साक्षात्कार होता है । इसके बाद साकार और निराकार एक हो जाने के बाद विकल्पहीन स्थिति उत्पन्न होने के कारण परमपद का पूर्वाभास प्राप्त हो जाता है ।

कर्त्ता और कर्म

जबतक अहंकार है और कर्तृत्व का अभिमान है अर्थात् जबतक मलिन देहात्मबोध है तबतक 'मैं ही कर्त्ता हूँ' इसे स्वीकार करना होगा । कर्म का जिस प्रकार मैं हूँ, उसी प्रकार उस कर्म का सुख-दुःख रूप फलभोक्ता भी मैं ही हूँ । इस स्थिति को बद्ध-अवस्था या संसार-अवस्था कहा जाता है । साधारण जीव इस अवस्था में रहते हुए निरन्तर जन्म-मृत्यु के प्रवाह में बहता चला जा रहा है । जब अहंकार की निवृत्ति होती है और किसी कर्म के सम्पादन का अभिमान नहीं रहता तब किसी भी कर्म के लिए मैं जिम्मेदार नहीं हूँ । यह ज्ञान के उदय के समय होता है । इस दिशा में अपना कर्तृत्व नहीं रहने के कारण वास्तविक कर्मफल का भोक्तृत्व भी अपने में नहीं

रहता । यह ठीक संसार-अवस्था नहीं है । देह-अवस्था में इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर इसमें से क्रमशः जीवन्मुक्ति की अभिव्यक्ति होती रहती है । इस अवस्था में जीव के साधन-संस्कार के अनुसार विभिन्न प्रकार की अवान्तर अवस्थाएँ हो सकती हैं । प्रकृति के गुणों के द्वारा सभी कर्म क्रियाबल से होते हैं । यह एक दृष्टि है । यह एक प्रकार से विवेक ज्ञान की दृष्टि है । अविवेक रहने तक देह के साथ विशुद्ध अहं-तत्त्व का एकात्मबोध रहता है । अविवेक दूर हो जाने पर साफ-साफ समझ में आता है कि वास्तव में मैंने कुछ भी नहीं किया है । करने का केवल घमण्ड मात्र मुझमें होता है । गुणमयी प्रकृति ही सब कुछ करती है ।

इसके अलावा एक और स्थिति है । उस समय ऐसा लगता है कि मैंने कुछ नहीं किया है । सब कुछ वे ही करते हैं । वे कौन ? वे प्रकृति के अधिष्ठाता अर्थात् त्रिगुणों के संचालक साक्षात् परमात्मा हैं । यही है ज्ञानमिश्र भक्ति की अवस्था । इसके बाद एक और स्थिति है । उस वक्त भक्ति के विकास के साथ-साथ समझ में आता है कि वे करते हैं, यह ठीक नहीं है, वे कराते हैं एवं उनके द्वारा प्रेरित होकर मैं करता हूँ । वे प्रयोजक हैं और मैं प्रयोज्य हूँ, वे जैसे नचाते हैं, वैसे मैं नाचता हूँ । वे इस भवनाट्य के सूत्रधार हैं । ऐसी स्थिति में भक्ति और ज्ञान दोनों का अधिक विकास होता है । त्रिगुणमयी प्रकृति उनके द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य करती है । उनके साथ-साथ शुद्धा प्रकृति भी काम करती है । शुद्धा प्रकृति के कार्यों के कारण उस वक्त समस्त संसार एक विचित्र अभिनय के रूप में प्रतीत होता है । उस वक्त भी सुख-दुःख आते हैं, किन्तु ठीक सुख-दुःख के रूप में नहीं, भिन्न-भिन्न प्रकार के रसों के आकार में । यही है लीलारस का आस्वादन । ज्ञानी भक्त देह में अवस्थान करके इस रस का आस्वादन कर सकते हैं, कारण इस अवस्था में, साधक में वास्तविक मलिन देह के अन्तराल में, विशुद्ध सत्त्वमय निर्मल देह का विकास होता है । इस स्थिति का विस्तार से वर्णन करना यहाँ अनावश्यक है ।

इसके बाद एक और स्थिति है । उस वक्त साधक समझ पाता है कि मैं कर्त्ता नहीं हूँ, प्रकृति की कर्तृत्व नहीं है जबकि कर्म होता जा रहा है । यह है—विशुद्ध ज्ञान की दृष्टि । कर्म कौन करता है ? इस प्रश्न का उत्तर यों है—कोई नहीं करता। जबकि कर्म अपने आप होता है । इसी को कहते हैं स्वभाव । स्वभाव से कर्म होता है । ऐसी अवस्था में कर्म और अकर्म में कोई पार्थक्य नहीं रहता।

इसके बाद एक ऐसी निगूढ़ स्थिति है जो मानवीय भाषा में अगम्य है; फलस्वरूप उस सम्बन्ध में आलोचना करना निरर्थक है ।

आत्मदर्शन

आमतौर पर लोग कहते हैं कि समाधि की स्थिति में आत्मदर्शन होता है, किन्तु यह सम्पूर्ण रूप से सत्य नहीं है । कारण समाधि चित्त की विशेष अवस्था है । यथार्थ आत्मदर्शन, शुद्ध चित्तरूपी संविद का स्वसाक्षात्कार, चित्त रहते नहीं

होता । चित्त का आत्यन्तिक निरोध के बिना यह संभव नहीं होता । आत्मसाक्षात्कार वास्तव में आत्मशक्ति के द्वारा ही होता है । आत्मशक्ति चित्शक्ति है—यह चित्त नहीं है । सुतरां आत्मसाक्षात्कार का अर्थ है आत्मा स्वयं ही अपने को अपने द्वारा साक्षात्कार करती है । यह वास्तव में समाधि-अवस्था नहीं है, समाधिजनित प्रज्ञा भी नहीं है । कारण समाधिजनित प्रज्ञा चित्स्वरूप और सत्त्वगुण दोनों ही ग्रंथीबद्ध अवस्था मात्र है । चित् और अचित् की ग्रंथियाँ मुक्त हो जायँ तो समाधि प्रज्ञा नहीं रह सकती । कारण सत्त्वगुण तब मूल प्रकृति में अस्तमित हो जाता है । चिदरूपी पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । पुरुष का स्वरूप ही स्वप्रकाश होने के कारण साक्षात्कारात्मक है । अतएव समाधि अवस्था के पश्चात् भाग्यक्रमवश भगवदनुग्रह से अगर आत्मसाक्षात्कार होता है तो वह पुनः निवृत्त हो नहीं सकता । आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर वास्तव में समाधि और व्युत्थान इन दोनों अवस्थाओं में भेद नहीं रहता । एक क्षण के लिए आत्मसाक्षात्कार होने पर भी वह वास्तव में नित्य सिद्ध होता है । जबतक संस्कारों का क्षय नहीं होता तबतक आत्मसाक्षात्कार होने पर भी संस्कार उद्‌बुद्ध होने के कारण जगद्दर्शन हो जाता है । यह दर्शन वास्तव में दर्शन नहीं है । यह जगत् का मिथ्यात्व का प्रतिभास है । कारण एक बार आत्मदर्शन कर लेने पर आत्मा के अलावा अन्य किसी पदार्थ का दर्शन फिर नहीं होता । जिसे दर्शन समझा जाता है अर्थात् जगत् का भान, वह पूर्व दृष्ट जगत् का संस्कारजनित स्मृति के रूप में पुनरुद्बोधन मात्र है । अतएव वह स्मरणात्मक है, वास्तव में अनुभव नहीं है । आत्मा अगर एक बार दृष्ट हो जाय तो वही दर्शन रह जाता है । यही सत्य है । उक्त दर्शन को तबतक शुद्ध दर्शन के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता जबतक संस्कारों का सम्यक् क्षय नहीं हो जाता । वास्तव में वही दर्शन ही शुद्ध दर्शन है । संस्कार के क्षीण होने पर वह शुद्ध दर्शन के रूप में परिगणित हो जाता है । किन्तु शुद्ध होने पर भी वह पूर्ण आत्मा का दर्शन नहीं है । इस शुद्ध आत्मदर्शन में अर्थात् कैवल्यावस्था में मिथ्या जगत् का भान नहीं रहता । यह केवल अर्थात् प्रकृति वियुक्त शुद्ध आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार है । इस अवस्था को पूर्ण नहीं कहा जा सकता । कारण इस आत्मदर्शन में सर्वभूत दर्शन नहीं होता । पूर्ण आत्मदर्शन तभी संभव है जब सर्वभूत को आत्मरूप में साक्षात्कार किया जाय । शुद्ध आत्मदर्शन या कैवल्य के पहले जिस सर्वभूत का दर्शन हुआ था, वह अनात्मवस्तु तथा मिथ्या है । आत्मशक्ति या चित्शक्ति के स्फुरण के रूप में सर्वभूत का दर्शन कैवल्यावस्था के बाद ही संभव होता है । लेकिन यह परावस्था चित्शक्ति के उन्मेष के बिना हो नहीं सकता ।

नींद टूट जाने पर सुप्तोत्थित पुरुष जिस प्रकार निद्राकालीन स्वप्न के बारे में सोचता है, साक्षात् अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार मोहमाया के अभिभवरूपी निद्रा के अवसान के बाद अर्थात् आत्मदर्शन सिद्ध होने पर सर्वभूत को अर्थात् जागतिक सत्ता मिथ्या लगने लगता है । यहाँ जो मिथ्या कहा गया, वह जागतिक सत्ता के अनुभव की ओर से कहा गया । आत्मानुभूति के बाद जागतिक सत्ता की अनुभूति फिर संभव नहीं होता । उक्त सत्ता का ज्ञान उस समय स्मृतियों में पर्यवसित हो

जाता है । उस वक्त समग्र जगत् ज्ञानी की दृष्टि में पूर्व परिचित सा स्मृतियों में तैरने लगता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शुद्ध आत्मानुभूति के बाद ही होता है । जब पूर्ण आत्मज्ञान होता है अर्थात् जब चिश्शक्ति का उन्मेष होता है, लेकिन तब उस स्मृति का स्मृतिरूप परिहार करते हुए अनुभवों का आकार धारण कर लेना पड़ता है । इस अनुभव में पूर्वकाल का सम्बन्ध प्रतिभासमान नहीं होता । यह वर्तमानकालीन जैसा स्पष्ट अनुभव होता है । अर्थात् आत्मा के पूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार होने पर जगत् की पृथक सत्ता नहीं रहती । उस वक्त सब कुछ अखण्ड चिदात्मा में चैतन्यमयी शक्ति के रूप में प्रत्यक्ष अनुभूत होता है, पूर्वानुभव की स्मृति के रूप में नहीं । अतीत अनागत जबतक नित्य वर्तमान में अर्थात् अखण्ड चैतन्य में प्रतिष्ठित नहीं होता तबतक इस अवस्था का विकास संभव नहीं होता । यही है सर्वात्मभाव, यही है वास्तविक अद्वैतभाव । इस महानुभूति में द्रष्टा से दृश्य की पृथक सत्ता नहीं रहती । एक और अनेक समानार्थक प्रतीत होता है । यही है उपनिषद का— "यस्य सर्वमात्मैवाभूत् ।"

सभी वस्तुएँ वास्तव में आत्मा हैं, इसे जान लेने पर काम नहीं होगा । इसे प्रत्यक्ष अनुभव में परिणत करना होगा । जब समाधिजनित प्रज्ञा का आभासमय आत्मज्ञान रूप में उदय होता है, तब वह व्युत्थान अवस्था में मौजूद नहीं रहता, किन्तु उसकी स्मृति मौजूद रहती है । उस समय साधक, मैंने समाधिकाल में क्षण भर के लिए आत्मदर्शन किया था, इस तरह के वाक्यों का प्रयोग करता है । उस अवस्था में व्युत्थान के समय बाह्य जगत् का अनुभव होता है । इस अनुभव की गणना सत्य के रूप में की जाती है । मगर जब समाधि की अतीत स्थिति में सचमुच आत्मदर्शन होता है— आभासमय नहीं— तब वास्तव में साधक ज्ञानी होता है । उसके निकट समाधि और व्युत्थान में कोई भेद नहीं रहता । यह ज्ञान प्राप्त होने पर फिर व्युत्थान नहीं रहता और न समाधि अवस्था । फिर भी चित्त की ओर से समाधि और व्युत्थान इन दोनों स्थितियों में उस समय तक पार्थक्य रहता है, कारण तबतक संस्कार रहता है । इस स्थिति में आत्मदर्शन क्षण भर के लिए होने पर भी वह नित्य दर्शन होता है । वह कभी निवृत्त नहीं होता । चित्त की व्युत्थान स्थिति में उस समय जगत् का भान रहता जरूर है, पर वह अभ्रान्त अनुभव रूप नहीं है, मिथ्या प्रतीति रूप में केवल सत्य दर्शन के साथ जुड़ा रहता है । प्रारब्ध-संस्कार क्षीण हो जाने पर मिथ्या का यह आभास भी विगलित हो जाता है । उस समय तक मात्र आत्मा रह जाती है जो स्वयं ही प्रतिभासमान होती है । उस वक्त प्रारब्ध-संस्कार नहीं रहता, यही है विदेह कैवल्य । भगवान् का विशेष अनुग्रह न रहने पर उक्त कैवल्य परावस्था प्राप्त नहीं होती । भगवदनुग्रह में स्वरूपस्थ चिदरूपी आत्मा चिदरूपा-शक्ति जाग उठती है । तब जिस प्रकार दर्पण में समग्र नगर दिखाई देता है, उसी प्रकार आत्मरूपी दर्पण में आत्मशक्ति की स्फुरणरूपी अनन्त भूतराशि दर्पण के अभिन्न रूप में प्रतिभासमान होता है । उस वक्त अपने में अपनी शक्ति का विलास रूप-जगत् देखने में आता है । यही है गीता का 'सर्वभूतानि चात्मनि'— अर्थात् आत्मस्वरूप में सर्वभूतों का दर्शन ।

चार प्रश्नों के उत्तर

तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर क्रमशः दे रहा हूँ ।

(क) देह में सर्वत्र समभाव से चैतन्यसत्ता मौजूद है, इसमें कोई संदेह नहीं । मगर उक्त सत्ता समरूप में सर्वत्र रहने पर भी उसकी अभिव्यक्ति का एक विशेष केन्द्र है । उस केन्द्र से शक्ति का स्फुरण निरंतर हो रहा है और उसके द्वारा देह के समस्त कार्य संपादित हो रहे हैं । जिस स्थान को शक्ति के विकास का केन्द्र कहा गया, वह वास्तव में देह का अतीत होने पर भी देह में उसका प्रतिभास या आभास देखने में आता है । देह के कार्यों का निर्वाह करने के लिए उक्त तथाकथित आभास ही केन्द्र रूप में परिगणित होने योग्य है । शून्य का बिना सहारा लिए चैतन्य बाह्यरूप में आत्मप्रकाश नहीं कर सकता । अर्थात् चैतन्य जबतक स्वरूप में विश्रान्त रहता है तबतक भीतर-बाहर का कोई भेद नहीं रहता । किन्तु स्वातंत्र्य के कारण जब विश्राम भंग हो जाता है तब सबसे पहले स्वभाव पर एक अभाव का आरोप होता है, इसी अभाव का अपर नाम है शून्य या महाशून्य । यही भविष्य की सृष्टि की नींव स्वरूप है । अर्थात् इस महाशून्य के ऊपर ही चैतन्य अपनी कर्तृत्व-शक्ति के प्रभाव से सृष्टि का निर्माण करता है । देह के अभ्यन्तर में इस प्रकार के शून्य मौजूद हैं । वहाँ से मूल चैतन्य की प्रतिभास स्वशक्ति विस्तार के साथ कार्य करती रहती है । यह शून्य मूलतः एक होने पर भी अर्थात् यह महाशून्यात्मक होने पर भी, खण्ड के रूप में बहुसंख्यक हैं । नाड़ी, हृदय, मस्तक आदि स्थानों पर इस शून्य की सत्ता की उपस्थिति को देखा जा सकता है । जहाँ-जहाँ शून्य मौजूद है, वहाँ-वहाँ यह समझ लेना पड़ेगा कि चैतन्यस्वरूप स्थिति में स्वकार्य-साधन की उपयोगी पीठ मौजूद है । उन पीठों पर आत्मचैतन्य तत्तत् शक्त्यात्मक किरण के रूप में विकीर्ण होकर शरीर की सभी क्रियाओं का सम्पादन करता है ।

(ख) प्रथम प्रश्न के उत्तर में इस प्रश्न का काफी हद्द तक समाधान हो सकता है । यह सच है कि हृदयाकाश में आत्मा विराजमान रहती है, दूसरी ओर मूलाधार चक्र में आत्मशक्ति सुप्त है—यह भी सत्य है । इन दोनों बातों में कोई असामंजस्य नहीं है । जबतक शक्ति अर्थात् चिन्मयी-शक्ति सुप्त रूप में मौजूद रहती है तबतक चैतन्य की क्रिया उपलब्ध नहीं होती । सुप्तिभंग के साथ-साथ ज्ञान का उदय अर्थात् जीवात्मा का जागरण सूचित होता है । जीवात्मा जाग जाने पर शिव रूप धारण करता है । शक्ति के प्रबुद्ध भाव को ही जीवात्मा का जागरण कहा जाता है । जबतक निद्रावस्था में रहती हैं तबतक आत्मा शिव के रूप में प्रकट नहीं हो सकती । पहले जितने देहस्थित शून्य मण्डलों के बारे में कहा गया है, इस अवस्था के पहले वे सब घोर तमसाच्छन्न रहते हैं । मन और प्राण आत्मशक्ति की प्रसुप्तावस्था में उद्दाम वेग से खेलता रहता है । जिन नाड़ियों के भीतर ये संचरण करते हैं, वे सब अत्यन्त जटिल एवं आपस में उलझे हैं, मछराहा के जाल की तरह समग्र शरीर में फैले हुए हैं । व्यष्टि देह और समष्टि देह अर्थात् पिण्ड और ब्रह्माण्ड एक ही

नियम के अधीन हैं । समग्र जगत् व्यापी इस जाल को मायाजाल कहा जाता है । इसी के भीतर भावानुयायी तन्तु आश्रय लेकर मन और प्राण विचरण करते रहते हैं । इसी का दूसरा नाम है—संसार भ्रमण । आत्मशक्ति जाग्रत होने पर मन और वायु का वेग मन्दीभूत होता है । जागरण की पूर्णावस्था में दोनों ही स्तंभित हो जाते हैं और अन्त में निष्क्रिय भाव धारण कर लेते हैं । उस समय सर्वत्र एक मात्र चैतन्य शक्ति कार्य करती है । मूलाधार में स्थिति तबतक है जबतक शक्ति निद्रित है । शक्ति के जाग जाने पर मूलाधार में वह नहीं रहती । फिर क्रमशः अन्तर्मुखी गति वृद्धि होती है । शक्ति के जागरण के साथ-साथ हृदयाकाश प्रकाश से उज्वल हो उठता है । आत्मा हृदय में स्वसत्ता का अनुभव तभी कर पाती है जब शक्ति जाग उठती है और अन्तर्मुखी गति का अवसान हो जाता है । हृदय से जिस गति का सूत्रपात होता है, वह ऊर्ध्वमुखी गति है । यह जाग्रत और एकाग्रीभूत चैतन्य कर्तृक परमेश्वर या परब्रह्म की ओर यात्रा है । जबतक अपने को साक्षी या द्रष्टा के रूप में या मुक्तरूप में न पाया जाय तबतक भगवदभिमुखी गति आरंभ नहीं होती । सुतरां तुम्हारे प्रश्न का उत्तर यों है—साक्षी रूपी आत्मा अर्थात् जीवन्मुक्त आत्मा हृदयाकाश में अपने को प्रकट करती है । किन्तु जबतक उसका जागरण सिद्ध नहीं हो जाता तबतक हृदय-सिंहासन शून्य रहता है । हृदय अन्धकार से घिरा रहता है । वहाँ खोजने पर कोई नहीं मिलता । यहाँ तक कि तलाश करते वक्त खुद ही आत्महारा हो जाना पड़ता है । कारण सुषुप्ति अवस्था में मन स्वभावतः हृदय का सहारा लेता है और नाड़ीचक्र का अतिक्रम कर जाता है । इससे क्या लाभ होता है ?—सुषुप्ति में मन जरूर स्थिर हो जाता है, किन्तु आत्मचैतन्य का विकास नहीं होता । अगर हृदय में मन के प्रवेश होने पर आत्मा का जागरण सिद्ध हो जाता तब तो सुषुप्ति और सम्प्रज्ञात समाधि में कोई पार्थक्य ही नहीं रहता । ज्ञान के अनुदय तक हृदय-मंदिर में इष्ट या स्वयं किसी को भी पाया नहीं जा सकता । उतने दिनों तक आत्मशक्ति सुप्त होकर मूलाधार में स्वयंलिंग को घेरकर मौजूद रहता है ।

(ग) द्वितीय प्रश्न के उत्तर से इस प्रश्न का किंचित समाधान हो सकता है । मानव द्वारा जितने लौकिक कार्य हो रहे हैं, वह शक्ति की चैतन्य-अवस्था के कार्य नहीं हैं । मनुष्य निद्रित हो जाने पर संस्कारवश जिस प्रकार स्वप्न देखता है, ठीक उसी प्रकार चैतन्य-शक्तिरूपा कुण्डलिनी की सुप्तावस्था में मानव का जो कुछ ज्ञान या क्रिया सम्पन्न होती है—सब कुछ स्वप्नवत—वह चैतन्य के द्वारा नहीं होता—आभास चैतन्य के द्वारा होता है । कुण्डलिनी जाग्रत होने पर क्रमशः यही आभास चैतन्य यथार्थ चैतन्य में परिणत हो जाता है । उस समय यह दीर्घ संसाररूपी स्वप्न भंग हो जाता है । कारण जिस प्रकार निद्रा के बिना स्वप्न देखा नहीं जाता, उसी प्रकार चैतन्य-शक्ति सुप्त न रहने पर संसाररूप स्वप्न-दर्शन हो नहीं सकता । सुतरां शक्ति के जागरण के साथ-साथ उसी अनुपात से संसार की निवृत्ति अवश्यंभावी है । किन्तु संसार के निवृत्त होने पर भी जगत् के निवृत्त होने की कोई बात नहीं है । कारण जीव सृष्टि न रहने पर भी ईश्वर सृष्टि अवश्य रहती है । ईश्वर सृष्टि

आपेक्षिक रूप में सत्य है । किन्तु जागरण के आत्यन्तिक प्रकर्ष से ईश्वर-सृष्टि भी नहीं रहती । उस समय समग्र-जगत् ही चिदात्मा की स्वरूपशक्ति का विलास जैसा लगता है । अज्ञान-कल्पित-जगत् उस समय नहीं रहता ।

(घ) काष्ठ से काष्ठ में संघर्षण होने पर अग्नि उत्पन्न होती है, कारण काष्ठ में अग्नि सुप्त रूप में रहती है । तीव्र संघर्षण के द्वारा वह अभिव्यक्त होती है । उसी प्रकार देह में चैतन्य-शक्ति ओतप्रोत रूप में विद्यमान है, पर अव्यक्त है । उसे अभिव्यक्त करने के लिए तीव्र संघर्ष आवश्यक है । यह तीव्र संघर्ष क्रिया-शक्ति का व्यापार है । जिसे दीक्षा कहा जाता है, वह इसी का दूसरा नाम है । दीक्षा कहने का मतलब कोई बाह्य व्यापार नहीं है । चित्शक्ति के क्रियांश का व्यापार न होने तक जीव का मोहनिद्रा दूर नहीं हो सकता । इस मामले की जड़ में शक्तिमान् परमेश्वर का स्वभावसिद्ध अनुग्रह रहता है । यह अर्थात् इस क्रियाशक्ति की लीला कोई बाह्य आधार का सहारा लेकर हो सकता है और बिना लिए भी हो सकता है । तीव्र वेग से हो सकता है और मन्द वेग से भी हो सकता है । बाह्य या आभ्यन्तरीण उपकरण सापेक्ष रूप से हो सकते हैं अथवा तन्निरपेक्ष रूप से हो सकते हैं । साक्षात् रूप में हो सकते हैं अथवा कर्म, ज्ञान आदि की परंपरा से हो सकते हैं । इसमें अनन्त प्रकार की विचित्रताएँ हैं । मुख्य बात यह है कि क्रिया के संघर्ष के बिना सोयी हुई शक्ति को जगाने का और कोई उपाय नहीं है । शक्ति के जागने पर उसका अव्यर्थ प्राथमिक चिह्न यह है कि सांसारिक आसक्ति में कमी होने लगती है । जगत् के किसी भी पदार्थ में रुचि अथवा आनन्द की अनुभूति नहीं होती । यहाँ तक कि न जाने किसके अभाव अथवा आकर्षण में चित्त एक अनजाने दिशा की ओर दौड़ने लगता है । इस प्रकार अनेक लक्षण प्रकट होते हैं । उन सबका वर्णन करना बेकार है ।

चित्शक्ति

चित् और चिदाकाश में तथा चिच्छक्ति और चित्साम्राज्य में क्या प्रभेद है ?

चित् और चिदाकाश एक ही वस्तु है, फिर भी दोनों में भागवत् तारतम्य है । 'चित्' यह भाव देश और काल से अतीत है । इसमें व्यापकता धर्म का आरोप लागू नहीं होता । लेकिन जब सृष्टि की भित्ति के रूप में इसे व्यापक सत्ता रूप में स्वीकार किया जाता है तब यह चिदाकाश पदवाच्य हो जाता है । चिदाकाश व्यापक—चित् व्यापक और अव्यापक दोनों से अतीत है । अगर किसी चक्र के केन्द्र को चित् मान लिया जाय तो समग्र-मण्डल चिदाकाश पदवाच्य होगा ।

चित् से चिदाकाश का प्रकाश चित्शक्ति का उन्मेष एवं क्रिया सापेक्ष है । कमरे में दीपक अगर हो और उसकी किरणधारा चारों ओर विकीर्ण न हो तो कमरा आलोकित नहीं होता, इसी प्रकार चित्त के रहते हुए भी चित्शक्ति की क्रिया के बिना चिदाकाश की अभिव्यक्ति संभव नहीं होता । चित् और चिदाकाश की मध्यावस्था

ही चिच्छक्ति है । चित् को अगर स्वरूप मान लिया जाय तो चित्शक्ति उसकी अन्तरंग शक्ति एवं चिदाकाश उसका वैभव है । चित्साम्राज्य पृथक वस्तु है, कारण चिदाकाश निराकार एवं चित्साम्राज्य साकार है । चिदाकाश में वैचित्र्य नहीं है—चित्साम्राज्य में अनन्त वैचित्र्य है । चिदाकाश का सहारा लेकर पृथक-पृथक चिन्मय राज्य आविर्भूत होते हैं । इन सभी राज्यों की समष्टि की चित्साम्राज्य है । ब्रह्मलोक एवं ब्रह्मस्वरूप में जो पार्थक्य है, चित्साम्राज्य और चिदाकाश में लगभग उसी तरह का पार्थक्य है । थोड़े शब्दों में इसलिए बताया कि चिदाकाश के साथ चित्शक्ति का इस प्रकार का पार्थक्य है । मौलिक क्रम यों है—चित्—चित्शक्ति—चिदाकाश—चित्साम्राज्य । संक्षेप में बताया ।

चित्शक्ति जीव की चिन्मय जिह्वा के अलावा अपना आनन्द स्वयं पाने में समर्थ है या नहीं ?

इसके जबाव में 'नहीं' कहा जा सकता है और 'हाँ' भी कहा जा सकता है । दृष्टि भेद से उत्तर पृथक होगा । वास्तव में चित्शक्ति का प्रकाश आनन्दात्मक हुए बिना रह नहीं सकता । यह स्वरूपभूत आनन्द है, इसलिए यहाँ हो सकता या नहीं हो सकता का कोई मतलब नहीं । कारण जो स्वप्रकाश है, उसके अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती । वास्तव में वास्तविक आस्वादन जीव करता रहता है, मगर यह भी सत्य है कि जीव जीवभाव को लेकर चिदानन्दमय राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता । वास्तविकता यह है कि भाव से अभाव में जाकर पुनरावर्तन कर सकने पर यह भाव स्वभाव रूप में परिणत होता है; इसलिए भावावस्था का आनन्द आस्वादनात्मक नहीं है, कारण भावावस्था में दुःखों की अनुभूति नहीं रहती । भावावस्था से अभाव में जाकर दुःखों की अनुभूति प्राप्त होने पर पुनः भावावस्था में वापस लौटकर वहाँ के स्वरूप आनन्द का आस्वादन करने में समर्थ होता है । प्रथम अवस्था में जीवभाव नहीं रहता और चरमावस्था में जीवभाव रहने के कारण प्रथमावस्था में ठीक-ठीक जो कुछ आस्वादित नहीं हुआ है, चरमावस्था में वह आस्वादित हो जाता है । इस विषय पर अधिक लिखना व्यर्थ है ।

सद्गुरु

सद्गुरु के लिए व्याकुल होना, आनन्द का विषय है । कारण चित्त की अत्यन्त व्याकुलता ही सद्गुरु-प्राप्ति का अव्यर्थ निदर्शन है । सद्गुरु की कृपा बिना इस प्रकार की व्याकुलता चित्त क्षेत्र में उत्पन्न नहीं होती । अभाव का तीव्र बोध ही स्वभाव प्राप्ति की पूर्व सूचना है । पहले समझ में नहीं आता कि कैसे सद्गुरु की प्राप्ति होगी, पर जो आपको ग्रहण करेंगे, वे पहले से ही आपको जानते हैं और आपको ग्रहण करने के लिए उपयुक्त समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं । समग्र सृष्टि-जगत् काल राज्य के अन्तर्गत है, इसीलिए प्राकृतिक जगत् में काल की उपेक्षा करके कोई काम नहीं किया जा सकता । सभी कार्यों के लिए एक निर्दिष्ट समय है । जब

वह समय आकर उपस्थित होता है तब कार्य की उत्पत्ति के उपयोगी विभिन्न कारण समूह स्वभाव के नियम से अपने आप संगठित हो जाते हैं । इसलिए धैर्य धारण करते हुए काल की प्रतीक्षा करनी चाहिए । व्याकुलता एवम् आन्तरिकता की मात्रा वृद्धि के साथ-साथ दूरवर्ती काल भी निकटवर्ती हो जाता है । सदाकांक्षा तथा व्याकुलता अच्छी चीज है, किन्तु चंचलता अच्छी नहीं है ।

एकमात्र भगवान् ही सद्गुरु हैं । जो उनके साथ योगयुक्त होते हैं, उन्हें भी इसीलिए सद्गुरु कहा जाता है । सद्गुरु किस रूप में, किसके निकट प्रकट होंगे, इसकी चिन्ता करने की जरूरत नहीं । कारण उनके अनन्त रूप हैं । वे किसी भी रूप में प्रकट हो सकते हैं । बिना किसी रूप का सहारा लिए भी वे कृपा नहीं कर सकते, ऐसी बात नहीं है । पर वह निराधार महाकृपा ग्रहण करने की योग्यता इस संसार में कम लोगों में है । इसीलिए सिद्ध नरदेह का अवलम्बन कर भगवान की करुणाशक्ति साधारणतः प्रकट होती है ।

श्री श्री गुरुदेव पहले जैसे थे, अभी भी वैसे ही हैं । योग्य अधिकारी के साथ उनका प्रकट सम्बन्ध अभी तक वैसा ही है, बल्कि पूर्वापेक्षा घनिष्ठ हो गया है । जिन गुह्य तत्वों को देह में रहते हुए उन्होंने प्रकाश नहीं किया था, इस समय उसे भी कर रहे हैं । इसे भी काल का महात्म्य समझें । कारण तब उन रहस्यों को प्रकट करने का समय नहीं था, किन्तु अब हुआ है ।

सद्गुरु का कृपा पात्र होना आवश्यक है । पहले आधार का निर्माण होना चाहिए । पता नहीं, किस अज्ञात क्षण में अनन्त का द्वार खुल जाय, यह बताया नहीं जा सकता । कृपा जब चाहे तब आये, पर उसके लिए सर्वदा उन्मुख रहना चाहिए । आध्यात्मिक-जगत् बड़ा ही रहस्यमय है । इस रहस्य का भेद करना लौकिक-बुद्धि अथवा विचार-शक्ति के बाहर की बात है । पर महाशक्ति की कृपा पाने पर इस दुर्भेद्य रहस्य को सरल बनाया जा सकता है । किसी तत्त्व पर किसी प्रकार का आवरण फिर शेष नहीं रहेगा । किन्तु जबतक अन्तर्जगत् में प्रविष्ट न हुआ जाय तबतक रहस्य का समाधान सम्भव नहीं है । कृत्रिम उपायों से जाल तोड़ने की कोशिश करना उचित नहीं है । कारण उसका फल विषमय होता है ।

गुरु-महात्म्य

"अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरुवै नमः ।।"

यह श्लोक श्रीगुरु के नमस्कार का श्लोक है । गौर करना होगा कि यहाँ गुरु को श्रीगुरु कहा गया है । श्री शब्द पराशक्ति वाचक है, अतएव श्रीसहित या श्रीयुक्त गुरु ही श्रीगुरु हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं । अगर गुरु शक्तिहीन हुए तो उनके द्वारा जीव या जगत् का कल्याण-साधन सम्भव नहीं है । वास्तव में वे जीव के उपास्य नहीं हैं, यहाँ तक कि नमस्कार के विषयीभूत नहीं हैं । कारण, शक्तिहीन

शिव अव्यक्त और जीव के लिए अनधिगम्य हैं । हठयोग एवं तंत्रशास्त्र दोनों में ही स्वरूपभूता शक्ति के साथ नित्यमिलित गुरु को लक्ष्य करके शास्त्र रहस्य वर्णित हुआ है । कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर समस्त आधार कमल बिद्ध एवं अतिक्रम करते हुए उत्थित होकर सहस्रदल के विन्दुस्थान में परमशिव के साथ मिलते हैं । यही मिलन ही नित्य का मिलन है । इस मिलन से शिवरूपी गुरु शक्तियुक्त रूप में साक्षी जीव के निकट निरन्तर अपरोक्षभाव में प्रकाशित होते हैं । जीव अपने साधन बल से या भगवत् कृपा से, किसी क्षण में इस महामिलन की अवस्था प्राप्त करता है । किन्तु श्रीगुरु नित्य ही निजशक्ति के द्वारा आलंगित रहते हैं । इसीलिए वे नमस्य हैं ।

"तस्मै श्री गुरुवे नमः' कहने का अर्थ इस चैतन्यरूपा शक्तिसंयुक्त परमगुरु तत्त्व ही जीव के नमस्कार के विषयरूप में लक्षित हुआ है । नमः का अर्थ है न मम, अर्थात् मेरा नहीं अर्थात् तुम्हारा या उनका । अहम् भाव एवं तन्मूलक ममतत्वभाव जिसे अर्पण किया जाय, वही अहम् के लिए नमस्य है । इस श्लोक में श्रीगुरु में आत्मसमर्पण की बात कही गयी है । केवल गुरु मात्र को नहीं ।

श्रीगुरु के स्वरूप को समझाने के लिए श्लोक का पूर्वांश उपदिष्ट है । इस स्थान पर परमतत्त्व उपेयरूप में एवं उपायरूप में, दोनों भाव में स्पष्टरूप से निर्दिष्ट है । जो उपेय हैं, उन्हें परमपद कहते हुए अर्थात् विष्णु का परमपद कहते हुए ग्रहण किया जा सकता है । यह भगवत्भाव के अतीत की परमावस्था है । जो परमपद को जीव के निकट प्रकाशित करते हैं, वे ही गुरु हैं । वास्तव में उपेयरूप परमपद एवं उपायरूप गुरु मूलतः अभिन्न हैं । कारण, दोनों में स्वरूपगत भेद रहने पर भी एक के द्वारा दूसरे की प्राप्ति या प्रकाशन सम्भव नहीं होता । जो वह नहीं है, उसे वह नहीं जानता एवं जता भी नहीं सकता । फलतः जो परमपद स्वरूप हैं, वे वास्तव में गुरुतत्त्व हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं । वे स्वप्रकाश हैं इसलिए अपने को जानते हैं एवं परप्रकाशक के रूप में जगत् के निकट अपने आपको प्रकाश करते हैं । यह जो प्रकाशकरूप है यही गुरुरूप है । यह जो स्वप्रकाशरूप है यही परमपद स्वरूप है । वास्तव में जीव या जगत् के निकट उस परम वस्तु का प्रकाश नहीं हो सकता । इसलिए मानना पड़ेगा कि गुरु जब स्वयं के स्वरूप को अर्थात् परमतत्त्व को दूसरों के निकट प्रकाशित करते हैं तब दूसरों को अपनाकर ही करते हैं वर्ना यह सम्भव न होता । इसीलिए जबतक जीव का तृतीय नेत्र अथवा ज्ञाननेत्र नहीं खुलता तबतक परमपद स्वप्रकाश होने पर भी उसके निकट प्रकाशित नहीं होते । श्रीगुरु ही इस ज्ञाननेत्र के उन्मेष के कारण हैं । अनादिकाल से अज्ञान-पाश में आबद्ध जीव जबतक श्रीगुरु की कृपा से इस ज्ञाननेत्र के खुलने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर लेता तबतक उसके लिए मिथ्या-दर्शन के अलावा परमार्थ-दर्शन की सम्भावना कहाँ है ? स्वप्रकाश ज्ञेय वस्तु नित्य ही सन्निहित है, किन्तु अन्धजीव सन्निहित पदार्थ भी देख नहीं पाता । सुप्तज्ञान के जाग्रत होने पर परमसत्य या परमपद को खोजना नहीं पड़ता । उन्हें नित्य प्राप्त रूप में ही प्राप्त किया जा सकता है ।

ऊपर जिस परमपद की चर्चा की गयी है, यही मुख्य विष्णुपद या विष्णु का परमपद है जिसे नित्यमुक्त पुरुष सर्वदा प्रत्यक्ष करते रहते हैं—सदा पश्यन्ति सूरयः । विष्णु किसे कहा जाता है ? जो व्यापक हैं, जो सम्यक् रूप में सर्वभूतों में अनुप्रविष्ट हैं, वे ही विष्णु हैं अर्थात् परमात्मा एवं विष्णु एक ही अभिन्न सत्ता हैं । सर्वभूत का मतलब स्थावर एवं जंगल, चर एवं अचर सभी पदार्थों को समझा जाता है । यह जो अखिल पदार्थ एवं उसकी समष्टि है, वही कार्य और कारण दोनों रूपों में अखण्ड-मण्डल रूप में प्रकाशित रहते हैं । अर्थात् चराचर अखण्ड-मण्डल के आकार में विद्यमान हैं । इसीलिए मण्डल की व्यापक रूप में जो अनन्त महासत्ता है, वही विष्णु है अर्थात् विष्णु या परमात्मा का अति क्षुद्र या परिच्छिन्न एक अंश में जंगमात्मक अखिल विश्व प्रतिष्ठित है । विष्णु या परमात्मा व्यापक हैं और जीव या जगत् उनका व्याप्य है । दोनों मिलकर चित्-अचित् और ईश्वर इन त्रिविध तत्त्वों के महासमष्टि में परिणत होते हैं । परमात्मा के पद का मतलब है—वही परमस्थिति जिसका आश्रय लेकर जीव और जगत् के अधिष्ठातृ स्वरूप स्वयं परमात्मा भी प्रकाशित होते हैं । यही तत्पद या विष्णुपद अथवा परमपद है । गीता में 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम' कहा गया है जो तत्पद को ही लक्ष्य है । जो इस तत्पद को प्रत्यक्षकर दिखाते हैं या प्रकाशित करते हैं, वे ही गुरु हैं । जीव के ज्ञानचक्षु के उन्मीलन के द्वारा ही यह निष्पन्न होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं । श्रीगुरु के अलावा यह असम्भव सम्भव करने की क्षमता अन्य किसी में नहीं है । यहाँ यह बात समझ में आती है कि अचर से चर श्रेष्ठ है, चर से विष्णु या परमात्मा श्रेष्ठ है, विष्णु या परमात्मा से तत्पद, विष्णुपद या परमपद श्रेष्ठ है, सच तो यह है कि एक हिसाब से परमपद से भी श्रीगुरु श्रेष्ठ हैं । गुरु और परमपद वास्तव में अभिन्न हैं, फिर भी जब गुरु या परमपद श्रीसंयुक्त होते हैं तभी उनका उत्कर्ष होता है, कारण श्रीगुरु बिना परमपद को जानते हुए जताने की क्षमता अन्य किसी में नहीं है और न हो सकती है । श्रीरहित गुरु वास्तव में गुरुपद वाच्य ही नहीं हैं जबकि वे परमसत्य के साथ अभिन्न हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

पूर्व वर्णन के अनुसार अचर का मतलब अचित्, चर का मतलब चित् एवं विष्णु का मतलब परमात्मा या ईश्वर एवं तत्पद का अर्थ ब्रह्मस्वरूप है, श्रीगुरु इन चारों तत्त्वों से उच्चतर तत्त्व हैं । गुरु के महात्म्य को इस प्रकार से अनुभव करते हुए उनके निकट आत्मसमर्पण करना ही इस श्लोक का उद्देश्य है । 'नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्' इस प्रसिद्ध वाक्य में भी गुरुभाव की श्रेष्ठता सूचित करती है ।

विन्दु-दर्शन का रहस्य

अलौकिक दर्शन का रहस्य क्या है, इसे मैं अपने श्रद्धास्पद गुरुभ्राता श्रीयुक्त फणीन्द्रनाथ घोष के अनुरोध पर विश्लेषण करने का प्रयत्न कर रहा हूँ । अलौकिक दर्शन नाना प्रकार के हो सकते हैं । लेकिन सभी दर्शन तत्त्व-दर्शन नहीं होते । मनोजगत् सूक्ष्मातिसूक्ष्म संस्कार पुंज के घात-प्रतिघात के फलस्वरूप अनेक प्रकार के

दर्शन प्राप्त होते हैं । किन्तु वे सब दर्शन अज्ञात रूप से होने पर भी स्थूल कल्पना से प्रसूत हैं, इसमें संदेह नहीं । घोष महाशय ने जिस दर्शन का विवरण दिया है, वह कल्पित दर्शन नहीं है । जिस महापुरुष (स्वामी विशुद्धानन्दजी) के अनुग्रह से वे स्थूल जगत् से मुक्त होकर क्रमशः ऊर्ध्वमुखी हो एक के बाद एक विभिन्न आवरण भेद करते हुए जाने में समर्थ हुए थे, वे एक सिद्ध महापुरुष थे, ऐसा नहीं लगता । वे ब्रह्मवित्, तत्त्वदर्शी, विश्वातीत, सत्तासम्पन्न, अत्यन्त उच्चकोटि के महापुरुष थे । वे चाहे जो कोई भी हों, समग्र प्राकृतिक-जगत् के लिए नमस्य हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं । जब वे फणीन्द्र दादा का हाथ पकड़कर ऊर्ध्वलोक में यात्रा करने लगे तब फणीन्द्र दादा का भौतिक स्थूल देह यथास्थान पड़े रहने पर भी उनके सूक्ष्म देह को अपने साथ ले गये थे । सवाल हो सकता है कि वे स्थूल देह में थे या सूक्ष्म देह में? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वे ठीक स्थूल देह में नहीं थे, यहाँ तक कि सूक्ष्म देह में भी नहीं थे । स्थूल नहीं थे, यह सहज ही समझ में आता है। यद्यपि उन्होंने स्थूल देह से फणी दादा के स्थूल देह को स्पर्श किया था, यह बात सच है, तद्यपि उनका देह स्थूल नहीं है । अगर ऐसा होता तो वे आकाश-मण्डल भेद करके पृथ्वी की कक्षा, मंगल ग्रह की कक्षा आदि का अतिक्रम करते हुए दूसरे मार्ग से ऊर्ध्व गमन में समर्थ न होते । इसके अलावा वे स्थूल विरहित सूक्ष्म शरीर में थे, यह भी नहीं कहा जा सकता । कारण उस स्थिति में स्थूल देह को स्पर्श करना और उस देह को स्पर्श का अनुभव कराना असंभव है । वे उत्थित होकर जिस स्थान से अग्रवर्ती मार्ग की ओर गमन करने के पूर्व उन्होंने फणी दादा को कुछ देर तक स्थिर भाव से रखा था, वह स्थान अशुद्ध और शुद्ध-जगत् का संधिस्थल था और इसीलिए वहाँ उपस्थित होने के साथ-साथ फणी दादा को एक अपरूप, अद्भुत अनुभूति प्राप्त हुई थी । कारण उन्हें ऐसा लगा था जैसे उस स्थान पर आकर्षण नहीं है, विकर्षण नहीं है, शैत्यबोध नहीं है, तापबोध नहीं है, प्रकाश नहीं, अंधकार भी नहीं है, एक अपरूप स्निग्ध प्रकाश मात्र मौजूद है । यहाँ से वे लोग अति द्रुत गति से ऊर्ध्व में उत्थित हुए थे । पहले वाली गति भी द्रुत जरूर थी, किन्तु इस समय के वेग से उसकी तुलना नहीं की जा सकती । जिस वेग से पृथ्वी, ग्रह, उपग्रह आदि अपनी-अपनी कक्षाओं में आवर्तन करते हैं, उसकी तुलना में आलोक रश्मि का वेग जिस प्रकार अधिक मात्रा में है, यहाँ भी उसी प्रकार समझना पड़ेगा । प्रकाश का वेग जागतिक सभी प्रकार के वेगों से अधिक है, किन्तु मन का वेग प्रकाश से अधिक है और मन भी जितना शुद्ध होता है, उसका वेग भी उतना अधिक होता है । प्रकाश के वेग से अधिक वेग की हम कल्पना नहीं कर सकते । किन्तु क्षिप्र मन के वेग के साथ तुलना करने पर प्रकाश का वेग भी मन्द मालूम पड़ता है । मन के तीव्र होने पर भी विशुद्ध मन का वेग और भी तीव्र होता है । शुद्धता की अधिकता के साथ-साथ वेग की तीव्रता बढ़ जाती है ।

उस स्थान से क्रमशः ऊर्ध्व की ओर उत्थित होने पर एक ऐसी शान्त जगह का प्रकाश दिखाई दिया जहाँ से महापुरुष अपने साथी को काफी ऊपर विन्दु दर्शन कराने में समर्थ हुए ।

योगियों को यह ज्ञात है कि इस विपुल सृष्टि में किसी भी स्थान से ऊर्ध्व में जाने के लिए सर्वप्रथम विरुद्ध शक्ति का क्षेत्र अनुभव करना चाहिए । इस क्षेत्र में परस्पर विरोधी शक्तिपुंज घात-प्रतिघातों द्वारा होने वाले विरोधों से मुक्त होकर साम्य अवस्था प्राप्त करके ऊर्ध्वगति की ओर बढ़ने में आता है । तीव्रगति के अवसान पर ऊर्ध्वगति के प्रान्त भाग में स्थित होने पर विन्दु दर्शन होता है । यही विन्दु ही ब्रह्मविन्दु है । यह मानव के तीसरे नेत्र अथवा गुप्त नेत्र के रूप में योगियों के निकट परिचित है । इस ब्रह्मविन्दु को भेद करना आवश्यक है, ऐसा न कर सकने पर ब्रह्म सत्ता तक पहुँचा नहीं जा सकता । यह विन्दु अत्यन्त शुभ्र है, यह सत्य है । समग्र सृष्टि में इस तरह की शुभ्रता और कहीं देखने में नहीं आती । यह विन्दु एक शुभ्र श्वेतवर्ण मण्डल का केन्द्र स्वरूप है । यह एक अति सूक्ष्म छिद्र के अनुरूप है । इसी को विद्ध करना ही योगी का लक्ष्यभेद है । वास्तव में यह शब्द ब्रह्म स्वरूप है । नीचे विराट् सृष्टि के प्रपंच से जो तीन धाराएँ अकार, उकार और मकार रूप में निरन्तर उठ रही हैं, वे सब विन्दु को लभ्य करके चल रही हैं । वे सब धाराएँ विन्दु को आघात कर रही हैं, फलस्वरूप विन्दु क्षुब्ध होकर असीम, अत्यन्त ज्योतिपुंज रूप में चारों ओर निःसृत हो रहा है । चारों ओर निरन्तर अनन्त शून्यमण्डल स्तंभित कर घोर गर्जन निःसृत हो रहे हैं । यह सृष्टि उन्मुख प्रणव का गर्जन है ।

जितनी ज्योतियाँ उस विन्दु से निःसृत होकर चारों ओर बिखर रही हैं, वे सब रंजनात्मक अर्थात् विभिन्न वर्णों का समष्टि रूप है । इन सब वर्णों के योगायोग से विश्व जगत् की सृष्टि हुई है या हो रही है । ये सभी वर्ण सृष्टि के उपादान हैं—"अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णम् ।" सृष्टि के ऊर्ध्व में वर्ण नहीं है । केवल मात्र विशुद्ध सत्त्व की शुभ्रता है । इस विन्दु के मध्यमार्ग से प्रकृत मध्यमार्ग निहित है । नाद से नादान्त तक उसका विस्तार है । इस मार्ग में नादान्त को भेद करके शक्ति का अवलम्बन पूर्वक महाशून्य को पार कर सकने पर समनाशक्ति के द्वारदेश पर हाजिर हुआ जा सकता है । तब समस्त आवरण से मुक्ति मिल जाती है । इसके बाद विशुद्ध आत्मा उन्मनी नामक शिव की शक्ति प्राप्त करती है । इसके बाद वह भी अतिक्रान्त हो जाती है । तभी पूर्णत्व में प्रतिष्ठा होती है, इसके पहले नहीं ।

विन्दु से नाद की ओर जाने के लिए अर्द्धचन्द्र पार करने के बाद निरोधिकार घाट अतिक्रम करना पड़ता है । महाशक्ति का साक्षात् अनुग्रह न रहने पर निरोधिका भेद नहीं किया जा सकता—इस पार से उस पार नहीं जा सकते, उस पार से इस पार कोई नहीं आ सकता । इस बात को लक्ष्य करके उक्त महापुरुष ने दादा से कहा था कि अभी उनके लिए विन्दु भेद करना असंभव है । आधार की योग्यता की वृद्धि होने पर वे स्वयं आकर उसे ले जायेंगे । उक्त महापुरुष कल्पित नहीं हैं, उसका प्रमाण यह है कि उन्होंने दादा को अनेक बार दर्शन देकर विभिन्न प्रकार की विपत्तियों से उन्हें बचाया था ।

साधना

साधना के लिए विशेष उग्र प्रयत्न नहीं करना चाहिए । साधना मात्र वायु घटित है । यहाँ तक कि प्राणायामादि न कर तीव्र रूप से ध्यान करने पर वायु की क्रिया अवश्य होगी । इस समय यथा सम्भव वायु की साम्यावस्था आवश्यक है इसलिए नित्य कार्य के लिए जितना आवश्यक है, उसके अतिरिक्त किसी प्रकार की क्रिया या चिन्ता वर्जनीय है ।

नित्य-कर्म के साथ भक्तिभाव और आत्म निवेदन के भावों को मिलाकर रखने का प्रयत्न करना चाहिए । तब कर्माभावजनित त्रुटियाँ नहीं होतीं । एक मात्र उनकी ओर लक्ष्य रखते हुए प्रकृति की स्रोत में अपने को छोड़ देना चाहिए, इससे अभिमान-शून्य द्रष्टा भाव में स्थिति होती है, तब कृत और अकृत कार्यों में कोई पार्थक्य नहीं रहता । कारण प्राकृतिक प्रवाह का चेतन साक्षी-स्वरूप जो अपने को समझता है, वह अकर्त्ता होकर भी 'कृत्स्नकर्मकृत्' हो जाता है । ज्ञान और कर्म के समन्वय का यही गूढ़ रहस्य है । शरीर में ताकत और उत्साह पाने पर निर्दिष्ट रुटिन के अनुसार चलने के लिए बाधा नहीं आयेगी ।

विन्दु

विन्दु में निहित शक्ति के विकास के साथ-साथ विन्दु रेखा के रूप परिणत हो जाता है । रेखा ही शक्ति का अभिव्यक्त रूप है । विन्दुनिष्ठ दो पृथक शक्तियों के विकास के साथ-साथ दो पृथक धारा के रूप में दो पृथक रेखाओं का आविर्भाव होता है । इन दोनों रेखाओं की मूलगत शक्ति द्वय का परस्पर व्यवधान या भेद-निबन्धन दोनों रेखाओं के परस्पर व्यवधान नियमित हो जाते हैं । यही कोण का आविर्भाव है । इस प्रकार तीन विन्दु से तीन कोणों का आविर्भाव होता है । ये तीन विन्दुएँ क्या हैं, इसके बारे में आगे कहूँगा । तीन कोणों के आविर्भाव होने पर समझ लेना चाहिए कि छः रेखाएँ निकली हैं । वास्तव में ये छः रेखाएँ छः नहीं हैं । ये तीन रेखाओं में परिणत हो जाती हैं । मध्यविन्दु की ओर लक्ष्य निविष्ट रहने पर एक विन्दु की एक रेखा दोनों की बगल के एक ओर की अन्य विन्दु से निकली रेखा के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है । इसी प्रकार दोनों ओर समझना पड़ेगा । निकलने का मामला युगपत् होने के कारण त्रिकोण एक ही समय में उद्भूत होने में समर्थ होता है । जब त्रिकोण अभिव्यक्त होता है तब मध्यविन्दु अपने आप प्रकट हो जाता है । त्रिकोण गौरीपट्ट और मध्यविन्दु शिवलिंग है ।

त्रिकोण के तीन विन्दु कौन-कौन से हैं ? इसे समझने के लिए पहले सृष्टि के मूल लक्ष्य को समझना पड़ेगा । ब्रह्मविन्दु एक है, जब वह स्वयं स्वातंत्र्यवश अपने को स्वयं उन्मीलित करता है तब एक ओर शिवरूप में और दूसरी ओर शक्तिरूप में प्रकट होता है । ब्रह्मावस्था में शिव और शक्ति में साम्यावस्था थी, इसीलिए

उस समय शिव और शक्ति इनमें से किसी का परिचय नहीं मिला था । सृष्टि के उन्मेष की आद्यावस्था में वैषम्यभाव की सूचना मिलती है । उस वक्त शिवभाव तथा शक्तिभाव में किंचित व्यवधान आता है । यद्यपि शिवभाव में शक्तिभाव निहित रहता है, शक्तिभाव में भी शिवभाव निहित रहता है । इसके बाद शिव प्रतिविम्ब के रूप में शक्ति के भीतर प्रविष्ट होकर विन्दु के रूप में बाहर निकलते हैं । उसी प्रकार शक्ति भी शिव में अनुप्रविष्ट होकर नादरूप में निकलती हैं । विन्दु मूल पुरुषभाव और नाद मूल प्रकृतिभाव है । विन्दु और नाद का अच्छेद सम्बन्ध है । विन्दु रहित नाद तथा नाद रहित विन्दु कभी नहीं रह सकते । इसे एक प्रकार से युगल अवस्था की आदिभूमि कहा जा सकता है । वही अर्द्ध नारीश्वर का भाव है । वास्तव में ये दोनों विन्दु नहीं हैं—एक ही विन्दु में दोनों के भावों का समावेश है । इसी का अपरनाम है—काम । यह सूर्यमण्डल के रूप में परिचित है । दूसरी तरह से विन्दु श्वेत और रक्तभेद से द्विविध है । श्वेत विन्दु पुरुष का शुक्र और रक्त विन्दु प्रकृति का शोणित है । ये दोनों विन्दुएँ मैथुनावस्था में संघर्ष प्राप्त करने पर मध्य से कलारूप में शक्ति का निर्गम होता है । इसी को चित्कला कहा जाता है । इसी का दूसरा नाम हार्द्धकला—अर्द्धकला है । पूर्ववर्णित काम एवं शुक्र तथा रक्त विन्दुद्वय और तदुद्भुत कला मिलकर कामकला का आविर्भाव होता है । काम नामक विन्दु को पहले ही सूर्य-मण्डल बताया जा चुका है । श्वेत विन्दु चन्द्र-मण्डल और रक्त विन्दु अग्नि-मण्डल है । कामकला शब्द के मूल को कामिनीतत्त्व समझना चाहिए । यही सृष्टि का आदि है । इसके बिना सृष्टि का कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता । इसकी देहरूप में कल्पना करने पर काम या सूर्य-मण्डल इसका मस्तक, शुक्र तथा रक्त-विन्दु रूप चन्द्र और अग्नि-मण्डल इसके स्तनद्वय शोभित वक्षःस्थल एवं कला या अर्द्धकला इसका योनिद्वार या गुप्तेन्द्रिय है, ऐसा समझना चाहिए । यह जो कामकला देवी हैं, इसी में से सभी प्रकार के शब्द तथा सभी प्रकार के अर्थ आविर्भूत हुए हैं । वास्तव में ये परावाक्, यहाँ तक कि परावाक् की आद्यावस्था हैं । ये कौन हैं ? वर्णमाला का प्रथम अक्षर 'अ' और अन्तिम अक्षर 'ह' है । इन दोनों के समाहार में समग्र वर्णमाला ही समाहृत है, ऐसा समझना चाहिए । सुतरां सभी शब्दराशियाँ इसके अन्तर्गत हैं, कारण सभी शब्द वर्ण घटित हैं । विन्दुरूप में गण्डीबद्ध होकर यह अनन्त शब्दराशि ही अहंरूप में प्रकट है । यही कामकला का स्वरूप है । कामकला ही अहंरूप है । कामकला की क्रिया के बिना अहंभाव या व्यक्तित्व का आविर्भाव नहीं हो सकता । इसी अहंभाव की पूर्णता ही पूर्णहन्ता है जो परमेश्वर का अनादि सिद्ध ऐश्वर्य रूप है ।

पूर्णमिदं

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"

इस श्लोक में पूर्णवस्तु के स्वरूप का निर्देश करने का प्रयत्न किया गया है । वास्तव में पूर्ण का स्वरूप जागतिक ज्ञान के लिए धारणा के अगोचर है । नाना प्रकार के इंगितों के द्वारा उसके बारे में, आभास देने पर भी मानवीय-बुद्धि उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं होती ।

पूर्णवस्तु चिरपूर्ण है, उसमें कभी अपूर्णता नहीं आती । ह्रास-वृद्धि, उपचय-अपचय, आगम-अपाय—कोई भी उसे स्पर्श नहीं कर पाता । यही पूर्ण ही नित्य स्थिति रूप में स्वयंप्रकाश सत्तारूप में सर्वदा और सर्वत्र अखण्ड रूप में विद्यमान है । सृष्टि और प्रलय इसका आश्रय लेकर शक्ति की लीला के रूप में प्रकट हो रहे हैं । किन्तु पूर्णवस्तु शक्ति की क्रीड़ा से शक्तिमान की भाँति प्रतिभात होते हुए भी नित्य ही लीलातीत स्वरूप में अवस्थित रहती है । 'अदः और इदं' इन दोनों पदों के द्वारा विप्रकृष्ट तथा सन्निकृष्ट दोनों प्रकार की सत्ता को ग्रहण कर रहे हैं । जो कुछ इन्द्रिय-गोचर है, वह सब इदं पदार्थ है और जो सब इन्द्रिय से अगोचर हैं अर्थात् अतीन्द्रिय हैं, वे सब अदः पदार्थ हैं । साधारण रूप में इन्द्रियों की शक्ति के प्रभाव से जो कभी अतीन्द्रिय सत्ता रूप में मौजूद रहता है, वह भी इन्द्रियों के निकट गोचर हो जाता है । यह क्रिया का फल है । उसी प्रकार विपरीत क्रिया के द्वारा जो कभी इन्द्रिय भी गोचर था, वह भी इन्द्रियों के अग्राह्य अतीन्द्रिय सत्ता रूप में स्थिति प्राप्त करता है । वास्तव में कौन इन्द्रिय-गोचर है और कौन अगोचर है, इसका निर्देश संभव नहीं है । शक्ति का आकुंचन और प्रसारण के फलस्वरूप इन्द्रिय-गोचर सत्ता का अतीन्द्रिय रूप में आत्मप्रकाश एवं अतीन्द्रिय-सत्ता का इन्द्रिय-गोचर रूप में स्फुरण निष्पन्न होता रहता है । किन्तु पारमार्थिक-स्वरूप की ओर गौर करने पर समझ में आ जायगा कि शक्ति का आकुंचन और प्रसारण के अन्तराल में स्वरूप एक ही रहता है । यह स्वरूप पूर्णवस्तु है । यह निर्विकार है ।

इन्द्रियों के गोचर में जो है, वही लोक है—कारण वही आलोकित होता है । जो इन्द्रियों के अगोचर है वह अलोक है, कारण वह आलोकित नहीं होता । इस दृष्टि से समग्र विश्व को देखने पर लोकालोक इन दो भावों में विभक्त दिखाई देता है । जिसे प्रचलित भाषा में यहलोक और परलोक कहा जाता है । यह वास्तव में लोकालोक के अन्तर्गत लोक की दो दिशाएँ हैं । जो दिशा जिस समय एवं जिसके निकट इन्द्रिय-गोचर भाव में वर्तमान रहता है, वह दिशा उसकी दृष्टि में "यहलोक" के रूप में प्रतीत होता है । उसके विपरीत दिशा को वह उस समय परलोक मान लेता है । एक अखण्ड पूर्ण सत्य ही देश-काल और अनन्त प्रकार के आधार के द्वारा अपरिच्छिन्न रूप में विद्यमान है—वही पूर्णतत्त्व है । वह एक होते हुए भी अनन्त है, क्योंकि उसका किसी देश से यद्यपि सम्बन्ध नहीं है तथापि अनन्त देशों के प्रत्येक देश के साथ पृथक-पृथक रूप में प्रतिभासमान है जबकि पृथक-पृथक प्रतिभासमान होते हुए वह खण्डित नहीं होता । वह जैसा है, वैसा रहता है । पूर्ण का विज्ञान इसी प्रकार आयत्त करना चाहिए । उस वक्त देखने में आता है कि वही पूर्ण सत्य सर्वत्र समरूप में विराजमान है । वह इहलोक में जैसा है,

परलोक में भी वैसा ही है । इन्द्रिय के द्वारा भी उसे प्राप्त किया जा सकता है और इन्द्रिय की अतीत-भूमि में भी उसे प्राप्त किया जा सकता है । वह एक एवं अविभक्त सत्ता है । इन्द्रियों के गोचर अंश को लक्ष्य करके दार्शनिक कहते हैं कि सब वही है अर्थात् सभी पूर्ण है । आँखें जिसे ग्रहण करती हैं, वही पूर्ण है, कान जिसे ग्रहण करते हैं, वे भी पूर्ण हैं, अन्यान्य इन्द्रियाँ जिसे ग्रहण करती हैं, वे भी पूर्ण हैं । एक प्रकार से कहा जा सकता है कि रूप भी पूर्ण है, रस भी पूर्ण है, शब्द भी पूर्ण है । एक ही पूर्ण-सत्ता प्रत्येक इन्द्रिय के द्वार पर प्रतिभासमान हो रहा है । इस प्रकार पक्षान्तर से इन्द्रिय के अंश को लक्ष्य करके दार्शनिक गण कहते हैं कि पूर्ण-सत्ता इन्द्रियों के निकट अगोचर है अर्थात् वह आँखों के लिए अविषय है, कर्ण के लिए अविषय एवं अन्यान्य सभी इन्द्रियों के लिए अविषय है, अर्थात् अरूप, अशब्द, अस्पर्श इत्यादि । इसीलिए नेति-नेति के अलावा अन्य किसी प्रकार से उसका निर्देश का प्रयत्न करना संभव नहीं है ।

'पूर्णमिदं' से यह समझ में आता है कि पूर्ण ही इदं रूप में अर्थात् इन्द्रियों के गोचर रूप में विद्यमान है । उसी प्रकार 'पूर्णमदः' इस वाक्यांश का तात्पर्य है कि पूर्ण ही इन्द्रियों के लिए अगोचर है अर्थात् एक ही पूर्ण इन्द्रियों के निकट गोचर है जरूर, मगर इन्द्रियों के निकट अगोचर भी है—दोनों ही युगपत् सत्य है । वह एक समय में साकार और निराकार, सगुण और निर्गुण, पास और दूर, विश्वरूप में और विश्वातीत रूप में विद्यमान है । पूर्ण अद्वय अनन्त-अखण्ड है, वह एक ही है, दो नहीं । इस पूर्ण से जो निःसृत होता है, वह भी पूर्ण है । यह पहले ही कहा जा चुका है कि पूर्ण एक के अलावा दो नहीं होता । सुतरां यह समझ लेना चाहिए कि जिससे निःसरण होता है तथा जिसका निःसरण होता है, एक ही सत्ता एवं समरूप में वह पूर्ण है । गणित-शास्त्र में जिस प्रकार अनन्त से किसी परिमित या अपरिमित संख्या को घटाने पर अनन्त ही शेष रहता है, यह भी ठीक उसी तरह का है । पूर्ण से धारा निर्गत होता है एवं जो निर्गत होता है, वह पूर्ण है, फिर भी पूर्ण का ह्रास नहीं होता, कारण पूर्ण निर्विकार होता है । अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसा कैसे होता है ? इसका उत्तर यों है—यही है एक का अनन्त होने की लीला । जिस प्रकार एक ही चन्द्र सहस्र दर्पण में सहस्र चन्द्र रूप में प्रतिविम्बित होता है जबकि चन्द्र का मौलिक एकत्व अखण्ड रह जाता है—यह भी उसी तरह का है । चन्द्र सहस्र होकर भी एक बना रहता है । सहस्र बनना एक खेल है । सहस्र चन्द्र का प्रत्येक चन्द्र भी वही एक ही चन्द्र है । कारण सहस्र एक के अलावा अन्य कुछ नहीं है । एक ही सहस्र गुणित होकर सहस्र रूप में प्रकट होता है । गुणा में एक का आविर्भाव होने पर अनन्त एक प्रकट हो जाता है । यही सृष्टि की लीला है । मूल एक जैसा है, एक गुणस्थ एक भी उसी प्रकार का है, इसमें कोई पार्थक्य नहीं है । मगर यह केवल ज्ञानी के निकट, अज्ञानी इसे नहीं समझ पाते । ठीक इसी प्रकार पूर्ण में, अपूर्णता तो दूर की बात है, पूर्ण आकर अगर सम्मिलित हो जाय तो पूर्ण के स्वरूप में गतिवृद्धि नहीं होती । अनन्त के साथ किसी परिमित संख्या को जोड़ने पर, यहाँ तक कि अनन्त को भी जोड़ने

पर योगफल अनन्त ही होता है, यह भी उसी प्रकार का है । बाहर भी पूर्ण और भीतर भी पूर्ण । जिस प्रकार बाहर से पूर्ण को भीतर ले जाने पर भीतर वाले पूर्ण में वृद्धि नहीं होती और न बाहरी पूर्ण का ह्रास होता है, उसी प्रकार भीतर से पूर्ण को बाहर ले आने पर भीतर वाले पूर्ण का ह्रास नहीं होता और न बाहर वाले पूर्ण की वृद्धि होती है । अन्तर वाला पूर्ण जैसा रहता है, उसी प्रकार का रह जाता है, बाहर वाला पूर्ण भी जैसा था, वैसा ही रहता है । इसका रहस्य यह है कि पूर्ण दो नहीं हैं । एक ही पूर्ण दोनों स्थानों पर विराजमान हैं ।

इस दृष्टि से देखने पर समझ में आ जायगा कि पूर्ण वस्तु सभी देशों में अतीत होने पर भी प्रत्येक देश में निर्लिप्त रूप में वर्तमान है । इसी प्रकार वह अतीत, अनागत और वर्तमान त्रिविध काल के अतीत होने पर भी प्रति काल में समरूप में वर्तमान रहता है । काल में पूर्ण का विकास नहीं है । जो अनागत अवस्था में अपूर्ण रहते हुए क्रमशः विकास प्राप्त करता है और वर्तमान को भेदकर अतीत की ओर धारा रूप में प्रवाहित होता है—वह पूर्ण नहीं है । वस्तुतः पूर्ण का विकास नहीं है । इस प्रकार सभी आधार या उपाधि, कोई भी पूर्ण को स्पर्श नहीं कर पाता । जबकि प्रत्येक आधार के साथ अभिन्न रूप में ओतप्रोत होकर पूर्ण नित्य विराजमान है । यही पूर्ण ही आत्मा या ब्रह्म है ।

द्रष्टा-रूप

ईश्वरः सर्वभूतानां इत्यादि—

इस श्लोक में ईश्वर तत्त्व, जीव और जगत् तत्त्व, एवं जीव और जगत् के साथ ईश्वर-सम्बन्धी तत्त्वों का निर्देश किया गया है । सर्वभूतों में ईश्वर की सत्ता विराजमान है, किन्तु इस सत्ता की उपलब्धि सहज साध्य नहीं है । जबतक भौतिक सत्ता देह के रूप में परिणत न हो जाय तबतक भगवत्सत्ता सर्वत्र व्याप्त रहने पर भी उपलब्धि गोचर हो नहीं सकती । जब भौतिक-सत्ता दैहिक पिण्ड रूप में परिणत होती है तब चैतन्य-शक्ति उस देह के सहारे दो रूप में प्रकट होती है । पहले देहसृष्टि के साथ ही चैतन्य उसमें अनुप्रविष्ट होकर उसी में अभिमान पूर्वक जीव रूप में प्रकट होता है । उस वक्त उक्त देह या देहाश्रित इन्द्रियादि का अवलम्बन करते हुए अहन्त्व का विकास होता है । यह अहन्त्व या अभिमान क्रिया ही जीवभाव की लीला है । इसे यों कहा जा सकता है कि चैतन्यशक्ति जीवभाव ग्रहण करने के साथ ही साथ देह के साथ किसी प्रकार का लिप्तभाव या संश्लेष न रखकर देह या दैहिक और मानसिक क्रियादि के द्रष्टारूप में शरीर के भीतर ही अवस्थान करती है । यह द्रष्टा या साक्षी परमात्मा का ही एक भाग है जो शुद्ध और अभिमान शून्य है । जीवात्मा भोक्ता और देहस्थ निर्लिप्त परमात्मा ही केवल द्रष्टा हैं । जिस देहस्थ निर्लिप्त परमात्मा की चर्चा की गयी, इन्हें अन्तर्यामी पुरुष कहा जाता है । आप देह के भीतर हैं जबकि प्रत्यक्ष रूप में देह के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है—आप

केवल द्रष्टा हैं । ये भीतर से केवल दृष्टि दे रहे हैं और उस दृष्टि के प्रभाव से देहरूपी यंत्र चालित हो रहा है । अन्तर्यामी पुरुष की दृष्टि के बिना जड़देह क्रियाशील नहीं हो सकता । देह और मन के सभी वृत्तियों के मूल से अन्तर्यामी की दृष्टिरूपी रश्मि का सम्बन्ध है । इसके बावजूद अन्तर्यामी को दैहिक कार्यों के कर्त्ता तथा कार्यों के फलों का उपभोक्ता के रूप में वर्णन नहीं किया जा सकता । कारण, एक ओर जैसे उनमें कर्तृत्व का अभिमान नहीं है, वहीं दूसरी ओर उनमें भोक्तृत्व का भी अभिमान नहीं है । वे अहन्त्वविहीन, चिदात्मक, साक्षी-पुरुष हैं । कर्त्ता न होने पर भी सभी कर्तृत्व की जड़ें उनमें हैं । अभी जिस दृष्टिरूपी रश्मि के बारे में कहा गया, इसी के द्वारा देह की समस्त क्रियाएँ विभिन्न आधार और उपाधि की विशिष्टता के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में निष्पन्न हो रहे हैं । यही अन्तर्यामी पुरुष ही दैहिक प्रकृति के अधिष्ठाता हैं, किन्तु अहंकार-मुग्ध जीव अपने को सर्व कार्यकर्त्ता मानते हुए कर्मफल भोगने को बाध्य होता है और गृहस्थी में फँसता है ।

अब प्रश्न उठता है कि यह अन्तर्यामी पुरुषरूप ईश्वर-देह में किस स्थान पर हैं और जीव उन्हें किस प्रकार प्राप्त कर सकता है ? सम्पूर्ण देह में जहाँ शून्य स्थान है, जहाँ किसी प्रकार की वासनारूपी वायु की तरंगें उत्पन्न नहीं होतीं, जो स्थिर है, जो आकाश के समान निर्मल और निष्कम्प है, वही स्थान ही परमात्मा का अधिष्ठान क्षेत्र है । इस स्थान को हृदय कहते हैं । "यतो निर्याति विषयो यस्मिंश्चैव प्रलीयते । हृदयं तद्विजानीयात् मनसः स्थितिकारणम् ।" —जिस स्थान पर विषय नहीं है, जहाँ से विषय का उद्गम होता है, जहाँ विषय लीन हो जाता है, जहाँ जाने पर मन फिर मन नहीं रहता—उन्मनी भाव प्राप्त होता है, वही निर्मल शून्य स्थान हृदय का पदवाच्य है । इसी स्थान से परमात्मा की शक्ति शरीर में सर्वत्र नाड़ी के माध्यम से स्थूल और सूक्ष्म रूप में संचारित होती है और शरीर का संचालन करती है ।

यही मायायंत्र का व्यापार है । मायायंत्र के सूक्ष्म-रहस्य को यहाँ प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है । यहाँ यह याद रखना होगा कि जिस अन्तर्यामी ईश्वर की चर्चा की गयी, वे इस मायायंत्र के यंत्री हैं ।

जो अनाहत-ध्वनि अथवा नाद निरन्तर चिदाकाश में प्रतिध्वनित हो रही है और जिसे योगीगण अन्तर्मुख होकर सुनते हैं, वह पूर्वोक्त नाड़ियों के भीतर से संचरणशील अन्तर्यामी पुरुष की दृष्टिरूपी रश्मि की अनन्त धारा मात्र है । उक्त रश्मि एक ओर ज्योतिरूप में और दूसरी ओर शब्दरूप में साधक के निकट अन्तर्मुख हालत में अनुभूत होता है । साधक यदि नादरूपी उस धारा में अपने शरीर को छोड़ सके तो उस धारा के प्रवाह में यथा समय उसके उत्पत्ति स्थान में उपस्थित होने में समर्थ हो सकता है । अगर नाद का सहारा न लिया जा सके तो भौतिक देह के अभिमान से अपने को मुक्त कर साक्षीस्वरूप में, शून्य के रूप में हृदय के स्थान में प्रवेश करने का सामर्थ्य नहीं होता । नाद के विकास और उसके साथ-साथ मन का अभिभव संभव होने से कर्त्ता एवं भोक्ता, जीव कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व-हीन होकर केवल द्रष्टा के रूप में निरालम्ब भाव से अवस्थान करते हैं । शून्य में स्थिति

होने के साथ-साथ जीव चैतन्य अवलम्बन शून्य होकर जीवभाव परित्याग करता है और उसका सारा अभिमान विगलित हो जाता है । फिलहाल हृदय को विन्दुस्थान समझना होगा । विन्दु में नाद का अवसान होने पर जब आत्मज्ञान का विकास होता है तब आत्मा द्रष्टारूप में उस महाशून्य से सूक्ष्मरूप में देहरूप अखण्ड जगत् को देख पाता है । केवल यही नहीं, साथ-साथ यह भी देखता है कि उस विन्दुस्थान से रश्मिरूपी शक्तिप्रवाह संचारित होकर सम्पूर्ण यंत्र को चला रही है । आत्मा स्वयं इस विशाल यंत्र के केन्द्र में है। साधना के प्रथम स्तर में साक्षीरूप में प्रतिष्ठित होने पर यह विराट् दर्शन खुल जाता है । उस वक्त जीव भाव नहीं रहता । आत्मा स्वयं ही द्रष्टारूप में रहती है—यहाँ तक मुक्तभक्त की अनुभूति है । इसके बाद द्रष्टा से जो रश्मि निकलकर सम्पूर्ण यंत्र को चलाती है, वह दिखाई देने लगती है । उस समय साक्षी रहते हुए भी ऐश्वर्य में प्रतिष्ठित रहती है यानी ईश्वरभाव में रहती है । उस समय द्रष्टा केवल द्रष्टा नहीं, स्वयं अन्तर्यामी पुरुष होता है । इस देहयंत्र का वही एक मात्र यंत्री है । वह उस समय गुरु के आसन पर बैठा रहता है । जिस नाद के सहारे वह इस स्थिति में आया है, वह जैसा था वैसा ही है । वह फिर प्राप्त नहीं होता—उस वक्त वह नादातीत है ।

आत्मदर्शन

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वंच मयि पश्यति ।"

उपरोक्त श्लोक में सर्वत्र आत्मदर्शन एवं तदनन्तर आत्मा में सर्वदर्शन का उल्लेख किया गया है । इन दोनों आत्मदर्शनों में सर्वत्र आत्मदर्शन प्रमुख माना जाता है । इसमें एक रहस्य है । सर्वत्र अर्थात् सर्वभूतों में आत्मदर्शन होता है—यहाँ भी द्विविध दर्शन है, कारण अनुयोगी सर्वभूत का दर्शन न होने पर उसमें आत्मदर्शन की संभावना नहीं रहती । अतएव सर्वत्र आत्मदर्शन कहने का तात्पर्य यह है कि सर्वभूतों का दर्शन अवश्य होता है । उसके साथ प्रति भूत में अभिन्न रूप में आत्मदर्शन होता है । इस स्थान पर सर्वदर्शन भेददर्शन है और आत्मदर्शन अभेददर्शन । घट में आत्मदर्शन हो रहा है, वृक्ष में आत्मदर्शन हो रहा है, मनुष्य में आत्मदर्शन हो रहा है । इन सभी स्थानों में घट, वृक्ष, मनुष्य आदि भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, इनके दर्शन बाह्येन्द्रिय रूपी नेत्रों के द्वारा निष्पन्न होते हैं । किन्तु आत्मदर्शन अन्तर्दृष्टि के द्वारा सम्पन्न होता है। बहिर्दृष्टि-अन्तर्दृष्टि दोनों के उन्मुक्त रहने पर सर्वभूतों में आत्मदर्शन होते हैं । यहाँ दोनों दृष्टि की मात्रा में तारतम्य है समझना चाहिए । बहिर्दृष्टि अगर किंचित अन्तर्मुखी न हो तो अन्तर्दृष्टि का उन्मेष नहीं होता । जिस मात्रा में बहिर्दृष्टि अन्तर्मुखी होती है, ठीक उसी परिणाम में अन्तर्दृष्टि जाग्रत होती है । यदि २५ पैसे बहिर्दृष्टि का निरोध स्वीकार कर लिया जाय एवं उसी समय आत्मदर्शन के तत्त्व को लक्ष्य किया जाय तो वह २५ पैसे ही होगा । इसी प्रकार पूर्ण आत्मदर्शन तभी होगा जब बहिर्दृष्टि सम्पूर्ण रूप से निरुद्ध होगी, वही शुद्ध चैतन्यरूपी आत्मा का दर्शन है । उस अवस्था में केवल आत्मदर्शन रहता है,

बाह्य-पदार्थों का दर्शन नहीं रहता। यही विशुद्ध चैतन्य है । इस अवस्था में बुत्त्थान नहीं होता, जगद्दर्शन भी नहीं होता । यहाँ तक कि बाधित अनुवृत्ति रूप में भी नहीं होता । बाधित अनुवृत्ति रूप में दर्शन तभी होता है जब बाह्य दर्शन-संस्कार सम्पूर्ण रूप से क्षीण नहीं हो जाता । भोग के द्वारा हो या ज्ञान की प्रबलता द्वारा हो, जब बाह्य दर्शन की संभावना सदा के लिए निवृत्त हो जाता है तब एक मात्र शुद्ध आत्मदर्शन रह जाता है । यही है निर्विकल्प-ज्ञान । इसके बाद जब इस ज्ञान का निरोध हो जाता है तब शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिति होती है— शुद्ध आत्मदर्शन भी नहीं रहता ।

उपरोक्त विवरण से समझ में आता है कि सर्वत्र आत्मदर्शन से क्रमशः शुद्ध आत्मदर्शन उदित होता है एवं चरम अवस्था में वह भी नहीं रहता । अब सवाल यह है कि आत्मा में सर्वभूत दर्शन कब होगा ? सर्वभूत में आत्मदर्शन के लिए जिस प्रकार यह आवश्यक था कि पहले सर्वभूतों का दर्शन होकर तदनन्तर उसमें आत्मदर्शन उदित होगा, उसी प्रकार आत्मा में सर्वभूत दर्शन के लिए यह आवश्यक है कि पहले आत्मदर्शन होकर उसके बाद उसमें सर्वभूतों का दर्शन होगा, किन्तु सर्वभूतों का दर्शन इन्द्रियों के अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है । इन्द्रियाँ चिरकाल के लिए निरुद्ध होने के कारण आत्मा में सर्वभूतों का दर्शन असम्भव हो जाता है ।

यही वजह है कि यथार्थ रहस्यविद इन्द्रियों का निरोध नहीं करते और न करने की इच्छा रखते हैं । वे इन्द्रियों की अशुद्धि या मल अपसारण कर उसे शुद्ध चित्शक्ति के रूप में परिणत करने का प्रयत्न करते हैं । ऐसे मौके पर इन्द्रिय का जो दोष है, वह दूर हो जाता है जबकि उसकी जो वैशिष्ट्य या गुण है, वह नित्यसिद्ध रूप में रह जाता है । शुद्ध इन्द्रिय की कभी निवृत्ति नहीं होती । नित्य लीला में इस शुद्ध इन्द्रिय के कार्यों को देखा जाता है । शुद्ध इन्द्रिय के बिना नित्य लीला का आस्वादन संभव नहीं होता ।

अतएव जिस प्रकार अन्तर्दृष्टि सत्य है, उसी प्रकार बहिर्दृष्टि भी सत्य है । मिथ्या कोई भी नहीं है । अगर कुछ मिथ्या रह जाता है तो केवल मलिनता है । अन्तर्दृष्टि से जो एक है, वही बहिर्दृष्टि में नाना या अनन्त है । एक ही अनन्त है और अनन्त ही एक है । असत्य कोई भी नहीं है । इन्द्रिय-संस्कार पहले से करके रख लेने पर शुद्ध चैतन्य में अवगाहन कर वृत्तिहीन होना नहीं पड़ता । वहाँ अनन्त शुद्धवृत्ति की लीला का अनुभव किया जा सकता है । इन सभी शुद्धवृत्ति को चिन्मरीचि के नाम से वर्णन किया गया है । इस स्थिति में आत्मा में सर्वभूत का दर्शन होता है, कारण सर्वभूत आत्मा के चित्मार्ग की लीला है ।

''सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म'' एवं ''सर्व्वं च मयि पश्यति'' एक अवस्था की अनुभूति नहीं है । पहला इदंरूप में प्रतीत होता है, वह असंस्कृत इन्द्रिय की वृत्ति के लिए ज्ञान के समकाल में उदित ब्रह्मज्ञानाभास का निर्देशन है । किन्तु दूसरा विशुद्ध चैतन्य रूप में आत्म साक्षात्कार के बाद विशुद्ध चित्शक्तिरूप में अनन्त वैचित्र्य का

साक्षात्कार है । एक अपने को बहुरूप में देखता है— यह देखना इदंरूप में नहीं, बल्कि आत्मरूप में । यही दोनों में अन्तर है ।

चैतन्यावस्था

शब्द से ज्योति, ज्योति से रूप, दृश्य आदि आविर्भूत होते रहते हैं । शब्द का आश्रय बिना लिए ज्योति के राज्य में प्रवेश नहीं किया जा सकता । हम लोगों की विकल्प चिन्ता, स्मृति, अन्य सभी जागतिक वृत्तियाँ, विक्षिप्तता आदि अशुद्ध शब्दों की लीला है । अशुद्ध शब्दों ने अनन्त प्रकार के विकल्पों के आकार में हमें घेर रखा है । जब विशुद्ध शब्द प्रकट होता है तब क्रमशः तमाम मलिन शब्दों के विकार उससे आकृष्ट होकर, ईंधन जिस प्रकार प्रदीप्त अनल में दग्ध होता है, उसी प्रकार दग्ध हो जाता है । शुद्ध शब्द के क्रम विकास में पहले अस्पष्ट प्रकाश—इसके बाद स्पष्ट प्रकाश—इसके बाद ज्योति की अभिव्यक्ति होती है । आलोकभाव की वृद्धि के साथ-साथ शब्दभाव क्षीण होता जाता है । क्रमशः एक ऐसा समय आता है जब वह शब्द फिर सुनने में नहीं आता । एक मात्र ज्योति ही तब देदीप्यमान होकर प्रकट हो जाता है । यह दृश्य वास्तव में ज्योति द्वारा गठित है, मानो ज्योति ही घनीभूत होकर दृश्यरूप में परिणत हो जाती है । बाहरी ज्योति जरा हल्का न होने पर यह आभ्यन्तरीण घनीभाव या वैचित्र्यमय दृश्यरूप में आविर्भाव नहीं हो सकता । यह दृश्य अनन्त प्रकार के हो सकते हैं । मूर्ति, मंदिर, फल, पुष्पादि, उद्यान, सरोवर, पहाड़, पर्वत आदि सभी आकारों में यह प्रकट हो सकते हैं । इस अवस्था में यह सब दृश्य स्वयं ज्योतिर्मय होकर भी अपेक्षाकृत हल्की ज्योति से घिरे दिखाई देते हैं । इसके बाद दीर्घ यात्रा के पश्चात् उक्त सभी घनीभूत रूप इतने अधिक घनीभूत हो जाते हैं कि एक क्षण के लिए बाहर के सभी आलोक मानो उसमें अन्तर्निविष्ट हो जाते हैं । इसके बाद उक्त सभी दृश्य ठीक बाह्य जगत् की भाँति सुष्ठुभाव में प्रस्फुटित हो जाते हैं । एक ज्योति उसे जरूर घेरे रहती है, पर यह समझ में आ जाता है कि वह ज्योति दृश्य से ही आविर्भूत है । मानो यह दृश्य ज्योति की घनीभूत स्थिति नहीं है । इसके बाद वेष्टनकारी ज्योति भी क्षीण हो जाती है । फिर वह बिल्कुल लुप्त हो जाती है तब अनन्त आकाश में उक्त चिदानन्दमय दृश्य उभर जाता है । बाद में आकाश भी नहीं रहता । वही साधक की आत्मा है—वही साधक स्वयं है—वही पूर्ण है—वही षोड़शी है । जो निराधार और अव्यक्त निराकार सत्ता इस पूर्णत्व का द्रष्टा और पथप्रदर्शक है, वही गुरु है, फिलहाल मान लो वही सप्तदशी है । किन्तु इसकी भी परावस्था है—अभी उसे बताना नहीं चाहता । यही स्वप्रकाश चैतन्यावस्था है । अनन्त कोटि जगत्, भूत-भविष्य और वर्तमान समग्रकाल इसी महाचैतन्य में तैर रहे हैं ।

+ \+ \+ \+

चैतन्य-शक्ति स्वेच्छावशतः न्यूनता या संकोच ग्रहण करती है । यही अणुत्व या पशुभाव का उद्‌भव है । उनका स्वरूप नित्य पूर्ण है—उसमें स्वभावतः संकोच का नाम मात्र नहीं है । फिर भी वे अभिनय के माध्यम से 'आहार्य' से संकोच ग्रहण कर अपने को परिच्छन्न करते हैं अर्थात् वे अणु या पशु बन जाते हैं । इसके साथ ही यह स्मरण रखना होगा कि अभिनय के जरिये वे परिमित पशुरूप में आत्मप्रकाश करते हैं, फिर भी वे अपरिमित शिवरूप में विद्यमान रहते हैं । अणु होने के साथ-साथ बहुभाव एवं आपेक्षिक मलिनता प्रकट होती है । बोध और स्वातंत्र्य का अभिन्न स्वरूप ही पूर्णत्व है । यही शिव-शक्ति का सामरस्य है । यही नित्य है । पूर्ण जब स्वेच्छा से अपूर्ण बन जाता है तब यह बोध और स्वातंत्र्य जो स्वरूप में अभिन्न और एक है, वह अपृथक रहते हुए मानो पृथक हो जाता है । उस वक्त बोध केवल बोध रह जाता है । उसमें स्वातंत्र्य या क्रियाशक्ति जाग्रत नहीं रहती । दूसरी ओर स्वातंत्र्य या क्रियाशक्ति बोधहीन होकर अणुत्व में बदल जाता है । एक होता है पुरुष और दूसरी प्रकृति । पुरुष शुद्ध बोधरूप किन्तु क्रियाहीन है । प्रकृति नित्य परिणामिनी होने के कारण क्रियारूप है, किन्तु बोधहीन । दोनों ही अपूर्ण हैं । अणुभाव आने के बाद इस शुद्ध बोध क्षेत्र में विकल्प का उदय होता है । उस समय विन्दु या महामाया का क्षोभजनित मातृकामण्डल उस पर आक्रमण करता है । वासनादि की अभिव्यक्ति के यही मूल कारण हैं । इसे शब्दजाल कहा जा सकता है । वास्तव में यही कर्मबीज या कर्ममल है । इसके बाद माया के क्षुब्ध होने पर मायिक तत्त्वों के द्वारा एक आच्छादन का जन्म होता है तब संसार में प्रवेश होता है और तब कर्मानुष्ठान तथा कृतकर्मों का फलभोग सम्भव होता है ।

चैतन्य-शक्ति इस प्रकार क्रमशः संकुचित और सीमाबद्ध होकर गृहस्थ बनते हैं । यही उसका आत्मनिग्रह है । इसी प्रकार सीमाबद्ध स्थिति से सीमातीत अवस्था में जाना उनकी स्वेच्छा की बात है, मानना चाहिए । कारण वे स्वतंत्र और अन्यनिरपेक्ष हैं । यह उनके अनुग्रह का व्यापार है । इसके कारण संकोच दूर हो जाता है एवं क्रमशः आत्मा का स्वभाव सिद्ध पूर्णता उन्मीलित होता है । कैवल्यावस्था में कर्म और माया दूर हो जाने पर भी संकोच दूर नहीं होता । अणुभाव रह जाता है । यही कारण है कि निष्फल विज्ञान स्वरूप में स्थिति होने, माया अतिक्रम करने पर भी स्वातंत्र्य का उन्मेष नहीं होता, क्रियाशक्ति उद्‌बुद्ध नहीं होती । उस वक्त आत्मा मायातीत चित्स्वरूप में प्रतिष्ठित है—निष्क्रिय तथा केवली, फिर भी पशु । वैराग्य, विवेक-ख्याति, तत्त्वभेद के फलस्वरूप मायातीत अवस्था जरूर प्राप्त होती है, पर जबतक ऊर्ध्वशक्ति का संचार नहीं होता, जबतक मलपाक के कारण भगवद्‌नुग्रह अवतीर्ण नहीं होता तबतक भगवद्‌भाव का उपचार नहीं हो पाता । वास्तविक भगवत्ता-लाभ दूर की बात है, अर्थात् पूर्ण गुरु-शक्ति का विकास आवश्यक है । यही है—आत्मानुग्रह ।

जिस प्रकार निग्रह चैतन्य की स्वेच्छा का विलास है, उसी प्रकार अनुग्रह भी उनकी स्वेच्छा का विलास है । इसे 'स्वेच्छा' न कहकर शब्दान्तर के द्वारा उस भाव

का प्रकाश कह सकते हो, 'स्वभाव' या 'ख्याल' कह सकते हो । अर्थात् वस्तु एक ही है, केवल क्रम विपरीत है । एक से बहु होने की जड़ में जिस प्रकार स्वेच्छा मौजूद है, उसी प्रकार बहु से पुनः एक होने की जड़ में वही एक ही 'स्वेच्छा' मौजूद है । केवल क्रम विपरीत है । पहला एक से बहु की ओर, अन्तर से बाहर की ओर, तथा दूसरा बहु की ओर से एक की ओर, बाहर से भीतर की ओर । क्रिया या गति की दिशा विपरीत मात्र है । इसीलिए 'विपरीत क्रम' कहा गया है ।

अभिनय के दौरान जो 'द्रष्टा' बनकर बैठे हैं—स्वयं बाहर आना और भीतर जाना देख निष्क्रिय द्रष्टा के रूप में देख रहे हैं, पर वे भीतर और बाहर समरस हैं । उनके लिए भीतर-बाहर का कोई भेद नहीं है । वे एक होकर भी अनेक हैं और अनेक होकर भी एक हैं । वे स्थिति स्वरूप हैं । एक से अनेक होना = सृष्टि । अनेक से एक होना = संहार । स्थिति तो विन्दु है, सृष्टि और संहार स्थिति का विसर्गभाव मूलक क्रीड़ा मात्र है ।

विपरीत क्रम की क्रिया बाह्य जगत् से निरपेक्ष रूप से सिद्ध हो सकती है या नहीं इसके उत्तर में मेरा कहना है कि यह आंशिक रूप से हो सकती है । पूर्ण रूप से नहीं । गुरु नित्यसिद्ध हैं । किन्तु जब अन्तर और बाहर इन दोनों प्रतिद्वन्द्वी भावों की ओर से उनकी ओर देखा जाय तब वे सिद्ध होकर भी साध्य ज्ञात होते हैं । अर्थात् एक ओर नित्यप्राप्त, दूसरी ओर उन्हें कर्म के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । जबतक भीतर बाहर का भेद है, तबतक ज्ञान के साथ कर्म को भी स्वीकार करना पड़ेगा । ज्ञान के द्वारा आवरण दूर होने पर भी कर्म की अपूर्णता अगर रह जाती है तो उस आवरण से स्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती । अर्थात् आवरण दूर हो जाने पर भी 'दूर हो गया है', यह अनुभव नहीं होता । किम्बा नित्यसिद्ध अनावृत अवस्था में स्थित होकर भी अपनी वह उपलब्धि जागृत नहीं होती । बाहर को अलग कर केवल भीतर ही भीतर वास्तविक पूर्णत्व प्राप्त नहीं किया जा सकता । वैराग्य, त्याग या संन्यास के मार्ग में इसी प्रकार से पूर्णत्व की चेष्टा करते हैं । अगर इसे प्राप्त कर लिया जाय तो यह आंशिक सिद्धि मात्र होगी, पूर्ण सिद्धि नहीं । भीतर और बाहर के जो व्यवधान हैं, वह एक हिसाब से कल्पित एवं अन्य हिसाब से सत्य है । कल्पित व्यवधान ज्ञान के उन्मीलन के साथ-साथ दूर हो जाता है, सत्य का साक्षात्कार होने के साथ-साथ कल्पना का इन्द्रजाल न जाने कहाँ गायब हो जाता है । किन्तु जिस दृष्टि से व्यवधान सत्य है, उस दृष्टि से कर्म के अलावा उसे दूर करने का अन्य कोई उपाय नहीं है । जब ज्ञान का आयत्त हो जाय और कर्म भी पूर्ण हो जाय तभी ज्ञान और कर्म अभिन्न होकर पूर्ण चैतन्य की अभिव्यक्ति करते हैं । यही है शिव-शक्ति का मिलन । जिस प्रकार बाहर भीतर नहीं है यह सत्य है, भीतर बाहर है यह भी उसी प्रकार सत्य है । जबकि दोनों सत्यों के मूल में कोई भेद नहीं है । ज्ञान के पूर्व जिस प्रकार कर्म है, उसी प्रकार ज्ञान के बाद भी कर्म है । चाहे जिस प्रकार से हो, कर्म को पूर्ण कर ज्ञान के साथ युक्त होना ही है । अथवा ज्ञान के साथ युक्त होकर कर्म को पूर्ण करना होगा । अन्यथा चैतन्य का आस्वाद प्राप्त नहीं होगा ।

जब वस्तुस्थिति इस प्रकार है तब गुरु सदा वर्तमान रहने पर भी केवल अन्तर्जगत् के विपरीत क्रम की क्रिया बाह्य निरपेक्ष रूप से सफल नहीं हो सकता ।

जब तीसरा नेत्र खुल जाता है तब बाह्य नेत्र निमीलितवत् रहता है । जब बाह्य क्रियाशील रहता है तब तृतीय नेत्र कार्य नहीं करता । किन्तु पूर्णत्व के मार्ग पर चलने के लिए ज्ञाननेत्र को जगाकर बाह्य अज्ञान नेत्र को भी ज्ञान-नेत्र के साथ-साथ समभाव से जगाकर रखना पड़ता है । अगर ऐसा कर सकने में समर्थ हो जायँ तो भीतर बाहर का व्यवधान दूर होकर तथा ज्ञान तथा कर्म के भेद विगलित हो एक अद्वय जगत् में प्रवेश किया जा सकता है ।

पुनश्च—अणुभाव परिग्रह के साथ-साथ बहुभाव होता है । मगर अणुत्व का अवलम्बन किये बिना बहुत्व हो सकता है । विभु स्वरूप में बहुत्व उपपन्न होता है । नैयायिक और सांख्याचार्य लोग बहुआत्मा स्वीकार करते हैं । शैव लोग (द्वैतवादी) अनेक शिव स्वीकार करते हैं । वैष्णव लोग जीवात्मा को अणु मानने पर भी परमेश्वर या भगवान् को विभु समझते हैं । गौड़ीय लोग भगवान् का स्वयंरूप में बहु 'प्रकाश' स्वीकार करते हैं । ये सभी 'प्रकाश' स्वयंरूप के साथ तदेकात्मरूप है । किसी में नवीनता नहीं है । देखिये— "लघु भागवतामृत" ।

विरह

श्री श्री मां (आनन्दमयी मां) कुछ दिनों के लिए आप लोगों को छोड़कर अन्यत्र कहीं चली गयी हैं सुनकर दुःख में भी आनन्द का पूर्वाभास प्राप्त कर रहा हूँ । श्रीकृष्ण जब अपने परमभक्त ब्रजवासियों को त्यागकर मथुरा चले गये तब ब्रज की जैसी हालत हो गयी थी, वर्तमान समय में अल्मोड़ा आश्रम की कुछ हद तक वैसी ही स्थिति हो गयी है । आप तो यह जानते ही हैं कि श्रीकृष्ण मथुरा गये थे, यह जिस प्रकार सत्य है, उसी प्रकार यह भी सत्य है कि उन्होंने ब्रजभूमि का परित्याग नहीं किया था । जगत् की दृष्टि में उनका मथुरा-गमन था, पर वास्तविकता यह थी कि वृन्दावन के श्रीकृष्ण वृन्दावन छोड़कर नहीं जाते—"वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति ।" उसी प्रकार यह समझ लीजिए कि बाह्य दृष्टि से मां कहीं भी क्यों न जायँ, पर मां अपने भक्तजनों का हृदय छोड़कर कहीं नहीं जातीं । लौकिक दृष्टि से जहाँ मां का विच्छेद है, अन्तर्दृष्टि में वहाँ विच्छेद तनिक भी नहीं है । अतएव आप अपनी दृष्टि को बाहर से वापस भीतर की ओर लाने का प्रयत्न करिये ताकि वहाँ आप उसे स्थापित कर सकें । ऐसा कर सकने पर आप मां को अपने हृदय में देखकर चिरमिलन के आनन्द से उल्लसित होंगे । यदि अन्तर्दृष्टि के बावजूद आप मां का दर्शन नहीं कर पाते हैं तो ऐसी स्थिति में सचमुच विच्छेद मान लीजिएगा । किन्तु यह भी मंगलमय है । विच्छेद की यह वेदना जितनी तीव्र होगी, उतना ही इसमें से एक अपूर्व मधुर रस प्रकट होकर बाहर प्रवाहित होने लगेगा । उस समय मिलन की अपेक्षा विच्छेद ही अधिकतर सहनीय प्रतीत होगा । कारण इसके फलस्वरूप

प्रियजन को मिलन-अवस्था में निर्दिष्ट देश और निर्दिष्ट काल में आंशिक रूप से पाया जा सकता है । सर्वदेश और सर्वकालव्यापी रूप में उनसे पूर्णभाव में साक्षात्कार किया जा सकता है । यही महामिलन का पूर्वसूत्र है । इस प्रकार का तीव्र विच्छेद-बोध न रहने पर अनन्त-मिलन संभव नहीं होता । यही वजह है भक्तों का जब विच्छेद दूर हो जाता है तब वे व्याकुल हो उठते हैं ।

"विच्छेद सुमधुर हल दूर केन रे
मिलन दावानले गेल ज्वले येन रे ।"

पक्षान्तर से जिस मिलन का आप लोग अभिनन्दन करते हैं, भक्तगण को उस मिलन में विच्छेद दिखाई देता है । कारण— "दुहूँ कोरे दुहूँ कांदे विच्छेद भाविया ।" दो व्यक्ति एक ही प्रदेश में रहने पर उनका मिलन हो जाता है, ऐसा नहीं है । भाव के साथ भाव, गुण के साथ गुण एवं स्वरूप के साथ स्वरूप का योग न होने पर मिलन कैसे होगा ? लौकिक मिलन में भी विरह प्रच्छन्न रह जाता है । वह विरह भी तो एक प्रकार का रस है । उसका माधुर्य अनुपम है । मगर हर कोई उसका आस्वादन कर नहीं पाता, कारण उक्त विरह-बोध सभी को नहीं होता । यह विरह उन्हें अर्पण करना पड़ता है । यह रस उन्हीं के लिए है—यही है वास्तविक समर्पण । इसे अगर ठीक रूप से किया जाय तो हृदय के सभी खेद मिट जायँगे । इसीलिए कवि ने कहा है—

"मिलनेर पात्रटि
पूर्ण जे विच्छेद वेदनाय
अर्पिनु हाथे ताँर
खेद नाइ आर मोर खेद नाइ ।"

पराशक्ति

"मां" कहने का तात्पर्य उसी पराशक्ति से है जो समग्र-सृष्टि आदि जागतिक व्यापार के मूल में हैं । व्यष्टि भाव में हैं, समष्टि भाव में हैं और तदतीत भाव में भी हैं । यह पराशक्ति श्री भगवान् की स्वरूपभूता शक्ति एवं विशुद्ध चिन्मयी हैं । श्री भगवान् जैसे सच्चिदानन्दमय हैं, उसी प्रकार उनकी शक्ति भी सच्चिदानन्दमयी है ।

स्वरूपतः ये एक और अभिन्न हैं । जिस प्रकार भगवान् एक हैं, उसी प्रकार उनकी शक्ति भी एक हैं । यह मूलभूत शक्ति अव्यक्त और निराकार है । ये व्यक्ति भावापन्न नहीं हैं । इस मूल शक्ति को विश्वातीत चित्शक्ति समझना चाहिए । इनके साथ श्री भगवान् का अद्भुत सम्बन्ध है । शक्ति से सृष्टि होती है, इसीलिए अनन्त सृष्टि के ऊर्ध्व में, अतीत प्रदेश में ये उपस्थित हैं । सृष्टि इनकी ही अभिव्यक्ति है । इसलिए ये अव्यक्त होने पर भी अंशतः व्यक्त हो जाते हैं । किन्तु श्री भगवान् नित्य अव्यक्त, परम रहस्यमय (Ever Unmanifest Mystery of The Supreme) हैं ।

श्री भगवान् के साथ सृष्ट जगत् के सम्बन्ध का द्वार यही पराशक्ति है । चित्शक्ति अगर मध्यस्थ न रहे तो श्री भगवान् का जगत् के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता । अर्थात् इनका नित्य चैतन्य (Eternal Consciousness) में श्री भगवान् विधृत हैं (The Supreme Divine) । सुतरां इस पराशक्ति का आश्रय लिए बिना भगवान् का स्वरूप ज्ञान उद्भूत नहीं हो सकता । पराशक्ति रूपिणी मां परमेश्वर का ही स्वीय ज्ञान और शक्तिभूत हैं ।

इस बात को और स्पष्ट कर रहा हूँ । पूर्ण की एक दिशा है जो स्वप्रकाशमय है और एक अन्य दिशा है जो परमाव्यक्त रहस्यमय है । पूर्ण अखण्ड है, इसीलिए इन दोनों दिशाओं के बारे में बताया गया ताकि हमें समझने में आसानी हो । वास्तव में वहाँ भेद-कल्पना की गुंजाइश नहीं है । इनमें जो रहस्यमय और अप्रकाश है, वही अव्यक्त भगवान् हैं, जो स्वप्रकाशमय है, वही भगवत्-शक्ति है । अप्रकाश वाली दिशा भी शक्ति है, पर चिराव्यक्त और परिपूर्ण है (Absolute Power) । यह दिशा सत्ता जरूर है, पर चिराव्यक्त सत्ता है (Ineffable Presence) । आपात दृष्टि से यह विचार मन में आ सकता है कि "मां", शक्ति, पराशक्ति—भगवान् शक्ति नहीं हैं । वे शक्तिमान हैं । वास्तव में भगवान् भी शक्ति हैं—पर परिपूर्ण और नित्य अव्यक्त शक्ति हैं, इसीलिए साधारणतः उसे शक्ति नहीं कहा जाता । शक्ति कार्यानुमेय है । उनका साक्षात् कोई कार्य नहीं है । भगवान् और भगवती एक ही वस्तु हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं । मन में आ सकता है कि "मां" ही सत्ता हैं, कारण "मां" में ही नित्य सिद्ध स्वाभाविक प्रकाशमानता मौजूद है । भगवान् सत्तातीत हैं । अतएव "असत्" । वास्तव में ऐसा नहीं है । भगवान् भी सत्तास्वरूप हैं । शून्य नहीं हैं और न असत् ही— Ineffable Presence । वे नित्य अव्यक्त हैं ।

पराशक्तिरूपिणी सत्ता प्रकाशमयी है, वे चिर अप्रकाशात्मक हैं । यही चिर अव्यक्त शक्ति और सत्ता का संधान एक मात्र "मां" ही जानती हैं—महारहस्य केवल "मां" को ही ज्ञात है । गुप्तरूप से निहित (Hidden) सृष्टि का व्यापार क्या है जानते हो ? रहस्यमय महासत्ता से अनन्त खण्ड-सत्ता का आविर्भाव हुआ है । यह अनन्त खण्ड-सत्ता "मां" में ही है या भगवान् में है—दोनों ही कहा जा सकता है (Containing या Calling) । वास्तव में दोनों एक ही हैं । किन्तु इस आविर्भाव के कारण "मां" हैं । कारण गुप्त अवस्था से बाहर निकालना "मां" का कार्य है । बाहर निकलने के साथ ही साथ उक्त खण्ड सत्ताएँ पराशक्ति के अनन्त आलोक में, चैतन्य के शुद्ध प्रकाश में, सुष्ठ रूप में तैरने लगती हैं—चेतनभाव से, व्यक्तभाव से प्रकट हो जाती हैं । इसी समय उक्त सत्ताएँ शक्ति का आकार धारण करती हैं । पराशक्ति के प्रभाव से ऐसा होता है । अनन्त चैतन्य पाकर इन्हें चेतना प्राप्त होती है । अब तक जानकारी मिली कि सत्ताएँ शक्ति और चैतन्यमय हैं । इसके बाद वे साकार—देह विशिष्ट होती हैं । यह विश्व की अग्रवर्ती दशा है ।

खण्ड सत्ताओं की तीन अवस्थाएँ प्राप्त हुईं—

(१) गुप्त, अव्यक्त । इस अवस्था में खण्डसत्ता महासत्ता में प्रच्छन्न रहती हैं । गही महासत्ता = भगवान् या भगवती है ।

(२) प्रकट, चिदालोक में आलोकित । इस अवस्था में खण्ड सत्ताएँ चैतन्यमय और शक्तिमय रूप में मौजूद हैं । ये सब अनन्त चिन्मय राशि हैं जिसे तांत्रिकों ने "चिन्मरीचि" कहा है । यह पराशक्ति की भूमि में है । दस्तुतः ये सभी शक्तिपुंज स्वांशभूत निराकार हैं ।

(३) साकार । यह विश्व या सृष्टि में प्रकटित रूप है ।

पराशक्ति के हृदय में परभगवान् नित्य ही अखण्ड सच्चिदानन्दरूप में प्रकाशमान हैं । यही प्रकाशमानता स्वभावसिद्ध है । पराशक्ति का जो अतीत स्वरूप है, वह रहस्यमय, चिर अज्ञात और अज्ञेय, परमाव्यक्त है ।

पराशक्ति भगवान् को लेकर लीला करती है । वे उन्हें व्यक्त करती हैं और आकार देती हैं । सृष्टि में व्यक्त करती हैं—

(क) ईश्वर और शक्तिरूप में । यह अखण्ड चैतन्य स्वरूप है । एक होकर भी युगलरूप में प्रकाशित है ।

(ख) पुरुष और प्रकृतिरूप में । इनका भिन्न स्वरूप है । द्वैतभाव में स्थित है । दोनों ही निराकार हैं ।

फिर आकार दान करते हैं— अनन्त रूप में, कोटि ब्रह्माण्ड रूप में, तदन्तःपाती लोक लोकान्तर रूप में, तदन्तःस्थ देवता तत्शक्ति रूप में ।

इस प्रकार पराशक्ति के प्रभाव से ज्ञाताज्ञात अनन्त जगत् में जो कुछ है "सभी तो भगवान् हैं" इस सत्य की प्रतिष्ठा होती है । "सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म" यह पराशक्ति की महिमा है । जहाँ जो कुछ है, सभी शक्ति द्वारा अनन्त रहस्य का उद्घाटन मात्र है ।

वास्तव में समस्त विश्व ही चित्शक्ति का अंश होने के कारण उनसे अभिन्न है । जो कुछ जहाँ भी रहे, सब उनके ऊपर निर्भर है—कारण शक्ति जैसा निर्णय करने की इच्छा करती है, शिव उसका अनुमोदन करते हैं । वही जगत् में सत्ता प्राप्त करता है ।

वस्तु मात्र का आविर्भावगत मूल रहस्य ये हैं—

(क) भगवान् की क्षोभप्रेरणा पराशक्ति पर है ।

(ख) भगवत् प्रेरित पराशक्ति का ईक्षण, दर्शन ।

(ग) शक्तिदृष्ट तदभिन्न दृश्य की शक्ति के द्वारा ही सृष्टिकारी आनन्द में प्रक्षेप ।

(घ) उक्त प्रक्षिप्त दृश्य के बीजभाव की प्राप्ति ।

(ङ) उक्त बीज का आकार प्राप्त करना ।

(च) आकार की स्थूलत्वापत्ति, मूर्तता ।

अतएव सृष्टि में सर्वत्र शक्ति की ही नाना प्रकट अवस्था मौजूद है । चित्शक्ति ने जीव और जगत् को पकड़ रखा है । इसके तीन क्षेत्र हैं—

(१) विश्वातीत-पराशक्ति ।

(२) विश्वात्मिका-महाशक्ति । विश्वमाता । ये विश्व की आत्मा हैं । पराशक्ति की पर्सनाल्टी ।

(३) व्यष्टिरूपा-शण्डशक्ति (जीव हृदयवासिनी) ।

(१) ये सृष्टि के अतीत हैं, सृष्टि के साथ अव्यक्त भगवान् की योजिका हैं ।

(२) आप सभी जीवों की सृष्टि करती हैं और अनन्त प्रक्रिया तथा शक्ति की धारण, अनुप्रवेश, बलाधान एवं संचालन करती हैं ।

(३) आप उपर्युक्त दो प्रकार की शक्तियों को रूप देती हैं, दोनों को हमारे निकट जीवन्त और सन्निहित करती हैं एवं मनुष्य (Human Personality) और भगवत्-शक्ति के बीच मध्यस्थता करती हैं ।

अब महाशक्ति के तत्त्व को अच्छी तरह से समझने का प्रयत्न करिये । महाशक्ति के कार्य तबतक आरब्ध नहीं होते जबतक पराशक्ति कार्य नहीं करती । पराशक्ति महाशक्ति का "अव्यक्त चैतन्य" मात्र है । पराशक्ति भगवत् सत्ता से 'सत्ता' को आकर्षित कर संचार करने पर उसे महाशक्ति धारण करती है और उसे कार्यरूप में परिणत कर उसका गठन करती है । यह जो कार्यरूप में परिणाम है, वही कोटि-कोटि अण्डों की रचना है । इसके बाद उन सभी अण्डों में वे अनुप्रवेश करते हैं । तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । इस अनुप्रवेश के फलस्वरूप सभी अण्डों में भागवती सत्ता (Divine Spirit), सर्वधारिणी भागवती शक्ति और भागवत आनन्द परिव्याप्त होता है । अगर सृष्टि में यह आनन्द न रहता तो कोई भी पदार्थ जीवित नहीं रह सकता था, किसी की सत्ता नहीं रहती । "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।"

महाशक्ति के दो रूप हैं—

(१) आन्तर । चैतन्यात्मकरूपा । यही "शक्ति" है ।

(२) बाह्य । क्रियात्मकरूपा । इन्हीं का नाम प्रकृति है । महाँशक्ति ही प्रकृति का संचालन करती हैं एवं प्रकृति की प्रत्येक क्रिया में प्रकट या गुप्तरूप से लीला करती हैं । सभी शक्ति और क्रियाओं का सामंजस्य महाशक्ति ही करती हैं ।

प्रत्येक ब्रह्माण्ड विश्वव्यापी महाशक्ति की एक लीला है । प्रत्येक जागतिक वस्तु क्या है ?

(१) महाशक्ति जिसके दर्शन से साक्षात्कार करती हैं । (पराशक्ति संचारित महा अव्यक्त सत्ता से)

(२) दर्शन करने के पश्चात् जिसे स्वीय सौन्दर्य और शक्तिमय हृदय में संचय करती हैं और—

(३) स्वीय आनन्द से जो सृजन करती हैं ।

महाशक्ति की सृष्टि का स्तर विन्यास—

(१) सर्वोपरी शिखर देश में—हम लोग विश्व के जिस हिस्से में हैं, उसके ऊर्ध्व में—असंख्य जगत् है । सर्वत्र अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द है ।
इन सभी जगत् के ऊर्ध्व में "मां" स्वप्रकाश नित्य और अनन्त शक्तिरूप में विराज रही हैं । इन सभी जगत् में बहु सत्त्व है । सभी वहाँ निवास कर रहे हैं एवं संचार कर रहे हैं—जैसे अचिन्त्य अनन्तरूप में (Ineffable Completeness) और अपरिवर्तनीय अद्वैतरूप में (Unalterable Oneness) है । कारण सभी सर्वदा मां की गोद में निश्चिन्त हैं (She Carries Them Safe in Her Arms For Ever) ।

(२) उसके नीचे, हम लोगों के आसपास—असंख्य लोग हैं । सभी पूर्ण और अतिमानस सृष्टि हैं । इन सभी जगतों में "मां" ही अतिमानस महाशक्ति हैं । आप भागवत् इच्छा (जिसमें सर्वज्ञत्व है) और ज्ञान (जिसमें सर्वशक्ति है) रूपाशक्ति हैं । उनके सभी कार्य अव्यर्थ है—सर्वत्र उनकी सत्ता से परिपूर्ण है । प्रति प्रक्रिया में महाशक्ति स्वभावलिंग है । इस जगत् में सभी क्रियाएँ सत्य की स्फुरणरूपा हैं । सत्ता सत्ता ही भागवत् ज्योति की आत्मा (Soul), शक्ति (Power) और देह (Body) है । वहाँ सभी अनुभव ही पूर्ण आनन्द की वन्या और लहरी हैं ।

(३) हमारा जगत् असंख्य ब्रह्माण्ड हैं । सभी अज्ञान में हैं । इन सभी अण्डों में मन, प्राण और देह मूल से पृथक रूप में प्रतीत होते हैं (Sepaiated in Consciousness) । हमारी यह पृथ्वी इस अज्ञान जगत् का एक केन्द्र है । इस जगत् में संघर्ष, आवरण और अपूर्णता है । किन्तु इसे भी विश्वमाता धारण किये हुई हैं । महाशक्ति की प्रेरणा से यह परम लक्ष्य स्थान में उपनीत होता है ।

परामय चिन्मयी । इसीलिए वे चित्शक्ति हैं ।

महाशक्ति ज्ञानक्रियामयी हैं । सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व की मिलित अवस्था ही महाशक्ति हैं । आप स्तरों की रचना करती हैं । एक-एक लोक समष्टि (System of Worlds), एक-एक जगत् (Universe) हैं, वह उस जगत् की लीला है । उसकी आत्मा के रूप में वे लीला कर रही हैं । आप ही हैं Cosmic Soul, आप ही विश्वात्मा और विश्वातीत तथा अरूप की Personality हैं ।

ये सब लोक-लोकान्तर पराशक्ति की सृष्टि नहीं करते । किन्तु पराशक्ति ही भावरूप में पहले पहल प्रदर्शन करती है । महाशक्ति उसे देखकर आनन्द से सृजन करती हैं ।

इसमें एक गंभीर रहस्य है । सृष्टि की धारा इस प्रकार है—ज्ञान, इसके बाद भाव, इसके बाद शक्ति, इसके बाद कर्म । मस्तिष्क, हृदय, नाभि और करण (आनन्देन्द्रिय) है । पहले मस्तिष्क में ज्ञानरूप में संचार होता है (Vision), इसके बाद हृदय में भावरूप में उदय होता है (Gathering in Heart of Hearts), इसके बाद नाभि में आकर शक्ति रूप धारण करती है (Power), इसके बाद आनन्द में सृजन होता है । यही जागतिक व्यापार है । महासृष्टि में भी इसी व्यापार को समझना चाहिए ।

प्रत्येक रचना के स्तर के ऊर्ध्व में महाशक्ति हैं, ऐसा लगता है ।

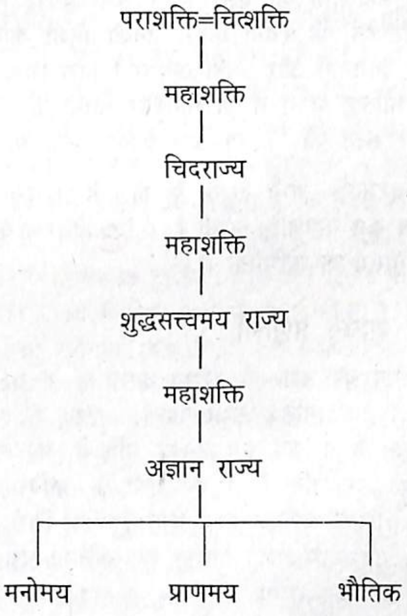

अज्ञान राज्य सोपानमय है । चैतन्य का स्तर क्रमशः अवरोहण कर चुका है—चरम में जड़ के अचैतन्य में मग्न हो गया है, पक्षान्तर से आरोहण करता जा रहा है । चरम में अनन्त, चैतन्य में अदृश्य हो गया है (Infinity of Spirit) । आरोहण के मार्ग में प्राण (Life), आत्मा (Soul) और मन (Mind) का क्रम-विकास देखने में आता है ।

इस अज्ञान-जगत् के ऊर्ध्व में हैं—महाशक्ति । ये सभी देवगणों से अतीत हैं । इस अज्ञान-जगत् की घटनाएँ और अभिव्यक्ति या विकास की नियामिका वही

महाशक्ति है— उनका दर्शन, अनुभव और दान (Pours from Her)— यह नियत है ।

(१) इस महाकार्य के साधन के लिए वे अपनी सभी शक्ति और रूप (Powers and Personalities) प्रकट करती हैं । ये सभी अज्ञान जगत् के ऊर्ध्व में रहते हैं—महाशक्ति के सामने उनके आवरण के रूप में । यह सब शक्ति और रूप या मूर्ति के अंशों (Emanations–उद्गम) को वे जगत् प्रेरित करते हैं । इनका उद्देश्य हस्तक्षेप करना (Intervene), पालन करना (Govern), संग्राम करना (Battle) और विजयी होना, युगपरिवर्तन करना, शक्तिपुंज की व्यष्टि और समष्टि की सभी धाराओं का संचालन करना । विभिन्न युगों में, विभिन्न देशों में लोग महाशक्ति की भिन्न-भिन्न नामों और रूपों में उपासना करते आ रहे हैं ।

(२) महाशक्ति के और भी काम हैं । ईश्वर की सभी विभूतियों के मन और देह की रचना करना महाशक्ति का कार्य है । इसी प्रकार महाशक्ति की अपनी विभूतियों के मन और देह की रचना करना उनका निजी कार्य है । अपने इस कार्य को वे पूर्ववर्णित शक्तिवर्ग और उनके अवतरण द्वारा सिद्ध करती हैं । इसका उद्देश्य यह है कि वे भौतिक जगत् में भी मानवीय चेतना के आवरण में भी अपनी निजी शक्ति, गुण और सत्ता का किंचित अंश प्रकट करना चाहती हैं ।

(३) जागतिक घटनाएँ—सभी नाटक के खेल हैं । इस नाटक की व्यवस्था अभिनयादि व्यापार सब कुछ महाशक्ति करती हैं । विश्वदेवगण केवल उनकी सहायता मात्र करते हैं । वे वास्तविक अभिनेत्री हैं ।

महाशक्ति की शासन प्रणाली

(क) वे सृष्ट जगत् का ऊपर से शासन करती हैं । यही उनका भाववाचक (Impersonal) क्षेत्र है । जागतिक सभी पदार्थ, अज्ञान के कार्य भी वे स्वयं हैं, पर उनकी शक्ति आवृत है । यह सब उनकी सृष्टि है, पर सत्ता न्यून है । यह सब उनकी प्राकृत देह और शक्ति है । इन सभी के आविर्भाव का रहस्य यह है कि पूर्ण सोलह आने सत्ता की सम्भाव्यता में ऐसा कुछ था जिसे कार्य रूप में परिणत करने या गठन करने की जिम्मेदारी भगवान् के अचिन्त्य-अज्ञान के कारण उनके ऊपर न्यस्त हो गया । उस समय वे महान् आत्मबलि के लिए सम्मत हुईं । फलस्वरूप उन्हें अज्ञान की आत्मा और आकार को मुखौटे के रूप में धारण करना पड़ा ।

(ख) दूसरी ओर वे त्रिविध लोकों में अवतीर्ण होकर शासन भी करती हैं । यह उनका पर्सनल (व्यक्तिगत) क्षेत्र है । कृपा करके वे इस अंधकार में उतर आयी हैं, मिथ्या और भ्रम में उतर आयी हैं, मृत्यु में उतर आयी हैं । उनका उद्देश्य है कि इन सबको आलोक, सत्य और अमरत्व में परिणत करेंगी । जगत् के अनन्त दुःख में उतर आयी हैं, मानो इसे परमानन्द में परिणत कर सकती हैं । संतान के प्रति प्रेम होने के कारण उन्होंने इस तरह छद्म वेश धारण कर लिया है ।

चित्तशुद्धि

चित्त अगर शुद्ध नहीं है तो उपासना में अधिकार नहीं होता । चित्त अनादि संस्कार और वासना के आवरण में निरन्तर आच्छन्न है । ये सभी संस्कार भौतिक खण्डसत्ता के छायामात्र हैं । जबतक चित्त से इस भौतिक आवरण का अपसारण नहीं किया जायगा तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि चित्त शुद्ध हो गया है । संस्कार सभी वृत्तियों से उत्पन्न होता है । यहाँ हमने क्लिष्ट संस्कार को ही संस्कार मान लिया है । अक्लिष्ट संस्कार भी संस्कार का पदवाच्य है । वह भी चित्त का आगन्तुक धर्म है । चित्त जब वृत्ति रूप में परिणत होता है तब उस वृत्ति के सम्मुख जो आत्मा उपस्थित रहती है, उसके द्वारा उक्त वृत्ति रंजित होती है । वृत्ति के उपशम होने पर भी रंग का किंचित आभास रेणु के रूप में चित्त में मौजूद रहता है । ये सब चित्त को जाल की तरह फँसाये रखते हैं और पुनः इनकी सजातीय वृत्तियों के उत्पादन के लिए प्रणोदित करते हैं । सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ये सब संस्कार कोहरे की तरह चित्त को ढक लेते हैं । जितने दिनों तक ये सब कोहरारूपी वाष्प चित्त से दूर नहीं हो जाते, उतने दिनों तक चित्त शुद्धि असंभव है । पहले ही कहा जा चुका है कि अन्तःकरण वृत्ति का जो विषय है, वही विक्षिप्त होकर चित्त के क्षेत्र में संस्कार के रूप में आहित होता है । वास्तव में यह विषय का ही अंश-स्वरूप है । इससे समझा जा सकता है कि चित्त में पंचभूत अथवा भौतिक सत्ता का जो अंश है, वही चित्त का आवरण है । पक्षान्तर से भौतिक सत्ता के बारे में भी यही नियम समझना चाहिए । सकाम पुरुष का चित्त वृत्तिरूप में जो पदार्थ बनता है, वही पदार्थ किंचित अंश में प्रविष्ट होता है और वह पदार्थ के अंश रूप में हमेशा के लिए वर्तमान रहता है । इस प्रकार हमारी दृष्टि या भोगवृत्ति के तारतम्यानुसार दृश्य और भोग्य पदार्थों में चित्त का किंचित अंश निहित रहता है । चित्त का अंश भूत में रहने के कारण भूत अशुद्ध रहता है और भूत का अंश चित्त में रहने के कारण चित्त अशुद्ध रहता है । चित्त स्वच्छ पदार्थ है, इसमें भौतिक पदार्थ का अंश मिलने पर यह बराबर मलिन होता जाता है । भौतिक पदार्थ का जो अंश इसमें रहता है, ठीक उसी में इसी चित्त का अंश पतित होता है । इसीलिए चित्त से भौतिक अंश का अपसारण करने पर वह अपनापन आश्रम में वापस चला जाता है । फलस्वरूप उन सभी आश्रयों में विद्यमान चित्तों का अंश वापस आ जाता है और पुनः वे चित्त में प्रतिष्ठित होते हैं । इस प्रकार विक्षिप्त चित्त एकाग्रता प्राप्त करता है । कारण, चित्त के सभी अंश जो विक्षिप्त रूप में चारों ओर विकीर्ण थे, चित्त में वापस आने पर चित्त की दुर्बलता विदूरित होती है और वह पूर्ण होकर अखण्ड विन्दु रूप में एकाग्र अवस्था को प्राप्त करता है । पक्षान्तर से पंचभूत से चित्त का अंश चल जाने के कारण एक ओर जिस प्रकार पंचभूत शुद्ध होता है, दूसरी ओर उसी प्रकार भौतिक अंश के वापस आने के साथ-साथ पंचभूत को पूर्णता प्राप्त होती है । यह शरीर पंचभूत से निर्मित है, मूलाधार आदि पंचचक्र के केन्द्र में पंचभूतों का अधिष्ठान है । जबतक भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि नहीं होती है तबतक

भूत और चित्त का आपसी सम्बन्ध नष्ट नहीं होता । भूत के शुद्ध हो जाने पर न केवल पंचभूत से चित्त का अंश दूर होता है, बल्कि पंचभूतों में से परस्पर का अंश भी दूर हो जाता है । पंचभूतों की अशुद्धि नष्ट होने पर शुद्ध भूत-देह अवशिष्ट रह जाता है । इसमें चित्त का अंश नहीं रहता, साथ ही पंचभूतों में परस्पर साम्यभाव रहता है । वस्तुतः यही विशुद्ध देह है इसमें संदेह नहीं । पक्षान्तर से चित्तशुद्धि सम्पन्न होने पर भी उसमें से भौतिक-अंश अपसृत होने के कारण वह शुद्ध चित्तरूप में प्रकाशमान रहता है । इस प्रकार चरम अवस्था में भूत एवं चित्त दोनों में ही साम्यावस्था प्रतिष्ठित होता है । यही साम्यमय देह ही शुद्ध देह है । इसमें सब कुछ है, फिर भी एक पर दूसरे की प्रधानता नहीं है । शुद्ध देह की प्राप्ति रूप इस साम्यावस्था की उपलब्धि करने के बाद उपासना में प्रवृत्त होना चाहिए । तब इस साम्यमय आधार में महाज्योति प्रतिफलित होने पर ज्ञान का विकास सम्पन्न होता है ।

साधारण तौर पर चित्तशुद्धि कहने का मतलब लोग जो कुछ समझते हैं, वास्तव में चित्तशुद्धि उसकी अपेक्षा अनेक रूप में अधिक है । वास्तविक भूतशुद्धि भी ऐसा ही है । उपासना के लिए सर्वप्रथम शुद्ध आधार का आश्रय लेना अत्यावश्यक है वर्ना दिव्यज्ञान रूप-अमृत धारण नहीं किया जा सकता ।

जब भौतिक सत्ता से चित्त का अंश दूरीभूत होता है तब वह शुद्धिलाभ करता है । वास्तव में चित्त जिस प्रकार स्वभावतः शुद्ध है, उसी प्रकार भूत भी स्वभावतः शुद्ध है । जबतक भौतिक देह भूत समष्टियों का साम्यावस्था रूप में विद्यमान रहता है तबतक वह शुद्ध देह और निर्विकार है । उसमें गुणप्रधान भाव नहीं है । लौकिक दृष्टि से अलक्ष्य रहने पर भी अत्यन्त सत्यवस्तु है । साम्यावस्था के कारण एक मात्र वही चैतन्य शक्ति धारण के योग्य है । यह शुद्ध देह लौकिक इन्द्रिय गोचर नहीं होता । इसी साम्यमय आधार को एक ओर जैसे शुद्ध देह कहा जा सकता है, दूसरी ओर उसे शुद्ध चित्त भी कहा जा सकता है । वास्तव में शुद्ध देह और शुद्ध चित्त में कोई भेद नहीं है । आधार अगर शुद्ध न हो तो उसमें अमृत नहीं उड़ेला जा सकता ।

आत्मज्ञान

योग का निर्विकल्प साक्षात्कार है । योग कहने का आशय है—पातंजल योग दर्शन । इस बात को स्वीकार करते हुए मैं विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा । यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि भारतवर्ष में प्राचीनकाल से अनेक प्रकार के योग-दर्शन और साधन-प्रणाली प्रचलित हैं । पातंजल-योग की भाँति मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ आदि प्रवर्तित योग, हीनयानी बौद्धों का योग, महायानी सम्प्रदाय का, विज्ञानवादियों का तथा शून्यवादियों का अनुमत योग, जैन दार्शनिक-साहित्य में गृहीत एवं समालोचित योग, पाशुपत योग, शैव योग, तांत्रिक योग आदि असंख्य प्रकार

के योग-साधन प्रणाली एवं उसी के अनुरूप योग विषयक दार्शनिक सिद्धान्त प्रचलित हैं ।

पातंजल मत से सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेद से समाधि दो प्रकार के हैं । सम्प्रज्ञात समाधि में भी कई प्रकार के भेद हैं । समाधि से प्रज्ञा की अभिव्यक्ति होती है । समाधि के तारतम्यवश प्रज्ञा की विशुद्धि के बारे में तारतम्य होता रहता है । सम्प्रज्ञात समाधि ग्राह्य, ग्रहण अथवा ग्रहीता का अवलम्बन कर आविर्भूत होती है । एक हिसाब से इसी आलम्बन को समाधि-प्रज्ञा का विषय कहा जा सकता है। मगर यह लौकिक वृत्ति-ज्ञान विषय की भाँति नहीं है । दोनों में पार्थक्य है। एक हिसाब से प्रज्ञा मात्र ही साक्षात्कारात्मक है । इसमें कोई सन्देह नहीं । किन्तु इस साक्षात्कार में उत्कर्ष का न्यूनाधिक भाव है । स्थूल या सूक्ष्म विषय अवलम्बन करने पर एवं उसमें से जो प्रज्ञा का विकास होता है, उसमें सविकल्प और निर्विकल्प दो प्रकार के भेद हैं । शब्द, अर्थ और ज्ञान का परस्पर सांकर्य रहने पर विकल्प की निवृत्ति न होने के कारण उस ज्ञान को सविकल्प ज्ञान कहते हैं । किन्तु शब्द, अर्थ और ज्ञान का परस्पर सांकर्य न रहने पर अर्थात् जिसे योगीगण स्मृति परिशुद्धि कहते हैं, वह सिद्ध हो जाने पर उक्त ज्ञान निर्विकल्प रूप में परिणत हो जाता है ।

अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्ध है एवं ज्ञान का भी सम्बन्ध है । इनमें एक वाच्यवाचक भाव और दूसरा विषयविषयी भाव है । इस सम्बन्ध सूत्र से शब्द और ज्ञान के साथ साधारणतः एक सम्बन्ध रहता है । इसीलिए साधारण स्थिति में, यहाँ तक कि समाधि की निम्नावस्था में, ज्ञान सविकल्प रह जाता है । कारण उस अवस्था में ज्ञान की शब्दानुविद्धता निवृत्त नहीं होती । ज्ञान जब सम्यक् ढंग से शुद्ध हो जाता है तब शब्द का अनुवेध न रहने के कारण वह विकल्पहीन रूप में गृहीत होने योग्य हो जाता है । इसीलिए पातंजल दर्शन के निर्वितर्क और निर्विचार समाधिजनित प्रज्ञा निर्विकल्प है । अगर यही निर्विकल्प साक्षात्कार है तो यह वर्तमान आलोचना का विषयीभूत निर्विकल्प साक्षात्कार नहीं है । कारण उक्त ज्ञान आत्मज्ञान नहीं है । सम्प्रज्ञात-समाधि का चरम-उत्कर्ष सिद्ध होने पर अर्थात् सास्मिता-समाधि आयत्त होने पर प्रज्ञा का चरम विकास सिद्ध होता है । यह प्रज्ञा एक प्रकार से आत्मज्ञान का ही नामान्तर है । किन्तु यह आत्मज्ञान विशुद्ध आत्मज्ञान नहीं है, कारण ग्राह्य और ग्रहण दोनों का उपसंहार होने पर भी ग्रहीता रूप सास्मिता में, यह ज्ञान प्रतिष्ठित रहता है । अस्मिता शुद्ध आत्मा नहीं है, यह कहना व्यर्थ है । सुतरां शुद्ध अस्मितारूप में सम्प्रज्ञात योग के चरम उत्कर्ष-जनित ज्ञान का उदय होने पर भी उसे शुद्ध-आत्मज्ञान नहीं कहा जा सकता । आत्मा या पुरुष के साथ गुणात्मिका प्रकृति की अविवेक अस्मिता-अवस्था रह जाती है । वास्तव में यही चित् और अचित् की ग्रंथियाँ हैं । एक दृष्टि से इसे हृदय-ग्रंथि कहा जा सकता है । जबतक इस ग्रंथि का मोचन नहीं हो जाता अर्थात् गुणों के साथ पुरुष का विवेक सिद्ध नहीं हो जाता तबतक यथार्थ आत्मज्ञान की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती । जब गुरुकृपा से अस्मिता-ग्रंथि भिन्न होती है तब इसके अन्तर्गत चित् और अचित् दोनों अंश अर्थात् पुरुषांश और गुणांश परस्पर विविक्त होते रहते हैं । यही है

विवेक ख्याति का प्रारंभ । दीर्घकाल तक यथाविधि अभ्यास के फलस्वरूप यह ख्याति निर्मल होती रहती है । इस ख्याति में पुरुष का साक्षात्कार होता है । पुरुष गुण से विविक्त रूप में साक्षात्कृत होता है, इसमें कोई संदेह नहीं । लेकिन गुण को अलग करके नहीं, कारण गुण की क्रिया के बिना पुरुष का साक्षात्कार आकाश कुसुम की भाँति अलीक हो जाता है । यह पुरुष साक्षात्कार गुण-विरहित न होने पर भी अस्मिता का प्रज्ञारूप आत्मज्ञान से पूर्ण रूप से अलग चीज है । क्योंकि अस्मिता ज्ञान के मूल में अविवेक विद्यमान रहता है जिसे योगीगण अविद्या के नाम से आदिक्लेश कहते हैं । किन्तु विद्यारूपी इस ख्याति में विवेकज्ञान सूचित होने के कारण गुण से विविक्त रूप में पुरुष का दर्शन होता है । यद्यपि इस दर्शन में गौण रूप से गुण भी विद्यमान रहता है । यह साक्षात्कार पुनः-पुनः आवृत्त होते-होते अत्यन्त विशुद्ध बन जाता है और गुण क्रमशः क्षीण हो जाता है । चरम अवस्था में गुण को, अर्थात् सत्त्वगुण की क्षीणतम दशा में जो साक्षात्कार प्राप्त होता है, वही चरम साक्षात्कार है और वही योगी का आत्मसाक्षात्कार है । इसके तुरंत बाद वास्तव में इसके फलस्वरूप अन्तिम गुण-कला अपसृत हो जाता है तब साक्षात्कार भी नहीं रहता । वही पुरुष या आत्मा की स्वरूपास्थिति है । उस वक्त समझ में आता है कि आत्मा स्वयं द्रष्टा या साक्षी है, विषयरूप में उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता । अगर ऐसा कभी हो जाता है तो उसे गुणयुक्त आत्मा का साक्षात्कार कहना पड़ेगा, गुणातीत शुद्ध आत्मा का नहीं । इस चरम साक्षात्कार के फलस्वरूप शुद्ध आत्मा की स्वरूपस्थिति होती है, इस कारण उसे कैवल्य के हेतुभूत आत्मसाक्षात्कार के रूप में स्वीकार कियां जा सकता है । वेदान्त का ब्रह्मज्ञान इससे विलक्षण हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं । पातंजल उपदिष्ट कैवल्य अवस्था में भी पुरुष का बहुत्व रह जाता है, किन्तु वेदान्त के ब्रह्मसाक्षात्कार के फलस्वरूप तथा प्रारब्ध कर्मों के अवसान से जो स्थिति प्राप्त होती है, उसमें बहुत्व नहीं रहता । वेदान्त के ब्रह्म साक्षात्कार की जड़ में महावाक्यों के विचार, पर योग का आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करने के लिए सम्यक् ढंग से चित्तवृत्ति का निरोध के अलावा अन्य किसी उपाय की आवश्यकता नहीं होती ।

उपरोक्ष ज्ञान के स्वरूप के बारे में सभी सम्प्रदाओं में किंचित विलक्षणता है । वास्तव में कोई भी मत अमूलक या अप्रामाणिक नहीं है, विचित्र है केवल साधक का अधिकार मूलक । वेदान्त के अपरोक्ष ज्ञान के बारे में साधारण चर्चा पंचदशी में प्राप्य है ।

प्रकाश और ज्योति

स्थूल दृष्टि से प्रकाश और ज्योति एक ही पदार्थ का बोधक प्रतीत होने पर भी वास्तव में दोनों में किंचित पार्थक्य है । इस पार्थक्य को जान लेने पर जो प्रकाश है, वह समझ में आता है । गोकि उस महाप्रकाश को कुछ लोग ज्योति कहते हैं, इससे कुछ आता-जाता नहीं । मैं यहाँ इन दोनों को पृथक-पृथक मानकर

उनके स्वरूपों की चर्चा कर रहा हूँ । पातंजल-योग की परिभाषा के अनुसार कहा जा सकता है कि चित्तत्त्व प्रकाश, किन्तु वह ज्योति नहीं है । किन्तु जिसे अस्मिता कहा जाता है, वह ज्योति है । जो लोग अस्मिता को आत्मा मानते हैं, उनकी दृष्टि में आत्मा ज्योतिस्वरूप है । किन्तु जो लोग अस्मिता को भेदकर शुद्ध पुरुष को आत्मा के रूप में समझते हैं, उनकी दृष्टि में आत्मा प्रकाशस्वरूप होने पर भी ज्योति नहीं है । चित् के साथ सत्त्वगुणों का योग होने पर ज्योति का आविर्भाव होता है । सुतरां ज्योति में भी नित्य एवं अनित्य रूप-भेद है । विशुद्ध सत्त्व के साथ अर्थात् जो सत्त्व अप्राकृतिक हैं एवं जिसमें रज और तमोगुण जरा भी नहीं है, तादृश सत्त्व के साथ चित् के योग से जिस ज्योति का उदय होता है, वह नित्य ज्योति है । कारण चित् भी नित्य है, विशुद्ध सत्त्व भी नित्य है एवं इन दोनों का योग सम्बन्ध भी नित्य है । साधारण तौर पर इसी महाज्योति को भक्त तथा उपासक लोग अपने-अपने इष्टभाव के अनुसार विभिन्न नामों से आख्यात करते हैं । वैकुण्ठ, कैलास, चिदाकाश, परव्योम, नित्य ध्रुवलोक आदि अनेक नाम शास्त्रों तथा महाजनगणों के व्यवहार में देखने में आता है ।

जिस सत्त्व के साथ रजोगुण और तमोगुण मिश्रित है, उसके साथ चित् के योग से जिस ज्योति का आविर्भाव होता है, वह अनित्य ज्योति है । इसी अनन्त ज्योति में ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड चक्कर काट रहे हैं । भगवान् के चतुष्पाद विभूतियों में नित्य ज्योति, त्रिपाद विभूति एवं अनित्य ज्योति एकपाद विभूति है ।

यद्यपि अनित्य ज्योति से पृथक रूप में नित्य ज्योति का महामण्डल प्रकाशित है तथापि स्मरण रखना होगा कि गुप्त रूप से अनित्य ज्योति के अन्तराल में भी नित्य ज्योति मौजूद है ।

क्या नित्य ज्योति अन्तिम है ? ऐसा नहीं है, कारण ज्योति का अतीत प्रकाश है, यह पहले ही कहा जा चुका है । जो लोग आगमोक्त साधना में अग्रसर हुए हैं, वे समझ सकते हैं कि इस प्रकाश में भी दो चीज है । ज्योति में जिस तरह चित् के साथ सत्त्व गुणों का सम्बन्ध है, उसी प्रकाश में भी दो चीजों का परस्पर सम्बन्ध है । आगमवादी इन दोनों चीजों को प्रकाश और विमर्श कहते हैं अर्थात् विमर्श के साथ जुड़ने से प्रकाश का प्रकाशत्व है । विमर्श के बिना प्रकाश भी अप्रकाश तुल्य है । प्रकाश शिव, विमर्श शक्ति । दोनों ही चित्स्वरूप हैं, इसमें सन्देह नहीं । फिर भी यह सत्य है कि शक्ति के बिना शिव शिवपद वाच्य नहीं होते, केवल शव मात्र रह जाते हैं । प्रकाश की प्रकाशमयता विमर्श सापेक्ष है । यह विमर्श ही परावाक् है जिसकी महिमा अद्वैतागम में विशेष रूप से वर्णित है । भर्तृहरि ने कहा है— "वाग्रूपता चेद्भुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती । न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमिर्शिणी ।" अर्थात् प्रकाश या बोध की वागरूपता नित्यसिद्ध अर्थात् प्रकाश स्वभावतः विमर्शमय है । अगर यह न होता तो प्रकाश स्वरूपतः प्रकाश होकर भी प्रकाशमान नहीं हो सकता था । बोध (Consciousness) और आत्मबोध (Self-Consciousness) इनमें जो प्रकार भेद है, विमर्श-हीन प्रकाश और विमर्शयुक्त प्रकाश में भी ठीक इसी प्रकार का भेद सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ज्ञात हो जाता है ।

यही प्रकाश और विमर्श ही वैदिकों के निकट परब्रह्म और शब्दब्रह्म है । शब्दब्रह्म के आश्रय के बिना परब्रह्म की स्वरूपसत्ता भी सिद्ध नहीं होती । परब्रह्म की स्वयं प्रकाशता की जड़ में नित्यसिद्ध शब्दब्रह्म की यही महिमा है ।

+ + + +

प्रकाशरूप और स्फुरणरूप मूलतः दोनों ही अभिन्न हैं । कारण स्फुरण प्रकाश का स्वभाव है । स्फुरत्ता ही प्रकाश का प्रकाशमानता है । अर्थात् हम जिसे चित् एवं अचित् कहते हैं, वह वास्तव में एक ही अखण्ड महासत्ता के अलावा अन्य कुछ नहीं है । उसी महासत्ता में विमर्श अथवा स्वात्म-परामर्श-रूप जो स्वाभाविक धर्म है, उसके प्रभाव से वही सत्ता चित्-रूप में वर्णित होने योग्य हो जाता है । वस्तुतः सत्य का स्फुरण ही चित् एवं चित् का स्फुरण आनन्द है । आनन्द से स्फुरण का परिहार कर देने पर (जबकि परिहार करना संभव नहीं है ।) जो शेष बचा रहता है, वही चित् है । वह न तो अनुकूल है और न प्रतिकूल, मगर प्रकाशमान है । सुख और दुःख से अनुकूलता और प्रतिकूलता विश्लेषण पूर्वक अलग-अलग कर लेने के बाद जो शेष रह जाता है, वही स्वयंप्रकाश चिद्भाव मात्र है । वस्तुतः स्फुरत्ता पूर्ण भाव से विश्लिष्ट होने पर चिद्भाव भी नहीं रहता । यह अप्राकृत सद्भाव है । यह अप्राकृत सत्ता योगी के साक्षात्कार से भी अगम्य है । वस्तुतः इसे ठीक-ठीक सत् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा होने पर किंचित विमर्श का प्रभाव है, स्वीकार करना पड़ेगा । फिर भी आस्तिक दृष्टि के अनुसार इसे अस्ति के नाम से निर्देश करना पड़ेगा । अन्यथा मिथ्या का अधिष्ठानरूपी स्थिर सत्य की प्रतिष्ठा नहीं रहेगी ।

प्रकाश विमर्श के कारण अपने को स्वयं ही प्रकाश करता है । यही प्रकाश की आत्म-विश्रान्ति है । सृष्टि की पूर्वावस्था में, इदंरूप में आभास के पहले विशुद्ध अहंभाव की सत्ता नित्यसिद्ध के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा । यह अहंभाव त्रिगुणात्मिका प्रकृति की परिणामभूत अस्मिता का नामान्तर नहीं है । अस्मिता एवं उसका कार्यभूत अहंकार दोनों ही इस पूर्ण अहन्ता से भिन्न हैं । अहंकार निवृत्त हो जाने के बाद भी अस्मिता रह जाती है, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि अस्मिता भी प्रकृति का परिणाम मात्र है । अस्मिता एक प्रकार से ग्रंथिरूप में है । साधारणतः अहंकार ग्रंथिरूप में वर्णित है । अस्मिता में कार्यरूपी अहंकार स्थूल ग्रन्थि, अस्मिता सूक्ष्म ग्रंथि है । अतएव चिदात्मक पुरुष एवं गुणमयी प्रकृति इन दोनों को परस्पर विविक्त कर कब्जे में न रख सके तो पुरुष स्वस्वरूप में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकता । सत्त्वगुण और पुरुष पृथक होने पर भी अविवेक के कारण अपृथक के रूप में प्रतीत होता है । यही है अस्मिता । किन्तु जिसे अहन्ता या स्फुरत्ता के नाम से वर्णन किया गया है, वे दो पृथक पदार्थ अविवेकजनित तादात्म्य भ्रम नहीं हैं । गुण और पुरुष जिस प्रकार परस्पर भिन्न हैं, प्रकाश और विमर्श ठीक उसी प्रकार भिन्न नहीं हैं । गुण और पुरुष भिन्न होने के कारण विवेक ज्ञान के प्रभाव से दोनों की अभिन्नता का भ्रम निवृत्त हो जाता है । किन्तु प्रकाश और विमर्श तात्त्विक दृष्टि से परस्पर भिन्न न होने के कारण पूर्ण अहन्ता कभी भी विश्लिष्ट होकर अहंभाव में उसकी निवृत्ति होने की संभावना नहीं है । यही अहंभाव ही

आत्मभाव है, यह न तो अस्मिता है और न अहंकार । प्रकाश और विमर्श अविनाभूत न होकर प्रकृति-पुरुष की भाँति पृथक पदार्थ होता तो आत्मभाव की अहंरूपता नित्यसिद्ध रूप में गृहीत होने योग्य न होता । प्रकाश की स्वरूपभूता शक्ति ही विमर्श है । यह शक्ति स्वरूपभूता होने के कारण कभी किसी समय प्रकाश से इसका अपाय नहीं हो सकता । इसीलिए प्रकाश नित्य ही स्वप्रकाश है । वस्तुतः शिव-शक्ति का नित्य अविनाभाव अथवा सामरस्य बहिरंग दृष्टि से स्वयंप्रकाश ब्रह्मरूप में वर्णित है । किन्तु जो लोग गुह्य उपासना पथ पर न जाकर केवल विचारों के द्वारा तत्त्व निर्णय करने का प्रयास करते हैं, वे ब्रह्मतत्त्व में सामरस्य देख नहीं पाते और पूर्ण अहंभाव की सत्ता की उपलब्धि नहीं कर पाते । कारण स्वीय स्वभाव सहित प्रकाश को ग्रहण नहीं कर पाते, पर इसके बिना अन्य कोई उपाय नहीं है । यह सत्य है कि अस्मिता और अहंकार में जिस प्रकार के भेद हैं, प्रकाश और विमर्श में उस प्रकार के भेद नहीं हैं, बल्कि मुक्त पुरुष और अस्मिता में जिस प्रकार के भेद हैं, प्रकाश और विमर्श में कुछ हद तक उसी प्रकार के भेद प्रतीत होते हैं । कुछ हद तक इसलिए कहा गया, क्योंकि अस्मिता के मूल में अविवेक मौजूद है, किन्तु विमर्श अथवा अहन्ता के मूल में तादृश अविवेक वर्तमान नहीं है । प्रकाश भी चिदरूप है, विमर्श भी चिदरूप है । दोनों में स्वरूपगत किसी प्रकार की विलक्षणता नहीं है, तथापि एक हिसाब से कहा जा सकता है कि प्रकाश धर्मी, विमर्श धर्म है । पक्षान्तर से अवस्थाभेद पर गौर करके यह भी कहा जा सकता है कि कभी-कभी विमर्श होता है धर्मी, प्रकाश होता है धर्म । इन धर्म-धर्मी भाव के मूल में अविवेक नहीं है—"नास्त्यव सा चिदपि यद्यविसृष्ट रूपा । धर्मस्ततो भवति चिच्च विमशर्शक्तिः ।" अथवा— "धर्मे स्वके स्वरसवाहिनी वाक् स्वरूपे लग्नं परं गगनमप्युपयाति सत्तां । सत्त्वाय नित्यमुपगूढ़विमर्शतत्त्वं तद्धर्मतां गगनमप्युपयाति चित्रम् ।" किन्तु इस प्रकार के सम्बन्ध पुरुष के साथ गुण अथवा अस्मिता में संभव नहीं होता, कारण पुरुष चिदात्मा, गुण अचिदात्मक है । अविवेक के अलावा दोनों में तादात्म्य हो नहीं सकता । पक्षान्तर से प्रकाश और विमर्श अभिन्न स्वरूप होने से—दोनों में स्वाभाविक तादात्म्य है । नित्यसिद्ध स्वयंप्रकाश आत्मभाव का यही मूल है । सभी मंत्र विज्ञान और मातृका रहस्य इसी के ऊपर प्रतिष्ठित है ।

यह जो प्रकाश और विमर्श के बारे में अविनाभावरूप यामल सत्ता के बारे में कहा गया, इसकी अतीत अवस्था भी है । किन्तु वह शब्दों से अतीत है, उसके बारे में कुछ कहना निष्प्रयोजन है ।

स्तम्भवृत्ति

पातंजल-सम्प्रदाय के योगियों ने बाह्य और आभ्यन्तर वृत्ति की भाँति स्तंभवृत्ति नामक एक वृत्ति को स्वीकार किया है । बाह्यवृत्ति ठीक रेचक नहीं है और आभ्यन्तरवृत्ति भी ठीक-ठीक पूरक नहीं है । दोनों ही वायु के निरोध उद्दिष्ट हैं । आकुंचन और प्रसारण इन दोनों प्रकार के कार्यों के फलस्वरूप आभ्यन्तर और बाह्य दोनों की वृत्ति

संभव होता है । दृष्टिभेद से इसे विपरीत करके ग्रहण किया जा सकता है । किन्तु वायु की धारणा धारक-प्रयत्न के बिना संभव नहीं है । रेचक-प्रयत्न के बाद धारक-प्रयत्न द्वारा बहिराकाश में वायु का अवरोध किया जा सकता है । उसी प्रकार पूरक-प्रयत्न के बाद अर्थात् जिस प्रयत्न के कारण पूरण-क्रिया निष्पन्न होती है, उसके बाद धारक-प्रयत्न के प्रभाव से अन्तराकाश में वायु को स्थिर किया जाता है । किन्तु इन दोनों प्रकार के निरोध यथार्थ स्तम्भस्वरूप नहीं है । यथार्थ स्तम्भ सिद्ध करने के लिए युगपत् रेचक और पूरक उभयविध क्रिया के अभाव को करना आवश्यक है ।

बात को जरा और साफ करके कह रहा हूँ । प्राकृतिक नियम से बहिर्गति के बाद अर्थात् बहिर्गति की परिसमाप्ति होने पर अन्तर्गति का सूत्रपात होता है । ठीक इसी प्रकार अन्तर्गति के बाद अर्थात् अन्तर्मुखी गति समाप्त होने के बाद बहिर्मुखी गति आरब्ध होती है । किन्तु बहिर्गति का अवसान एवं अन्तर्गति का प्रारम्भ, इन दोनों में एक स्थितिविन्दु है । उसी प्रकार अन्तर्गति का अवसान एवं बहिर्गति का आरंभ, इन दोनों के बीच भी एक और स्थितिविन्दु है । उस स्थितिविन्दु में वायु अस्तमित रहता है अर्थात् आपेक्षिक दृष्टि में रहने के कारण आकाश तत्त्व का स्फुरण होता है । जो आकाश सर्वत्र समरूप में विद्यमान है, उसे गति की सहायता से प्राप्त करने के लिए या तो उसे बहिराकाश रूप में अथवा उसे अन्तराकाश रूप में प्राप्त करना पड़ता है । रेचक क्रिया के बाद वायु की जो स्थिति है, उसे समझने की सुविधा के लिए बहिराकाश की स्थिति समझकर ग्रहण किया जा सकता है । उसी प्रकार पूरक क्रिया के बाद जो स्थिति है, उसे अन्तराकाश स्थिति समझकर ग्रहण किया जाता है । ये दोनों स्थितियाँ स्वभावसिद्ध हैं । साधना के द्वारा स्थितिकाल को केवल बढ़ाया जा सकता है, यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि इन दोनों स्थितियों में किसी में भी साम्यभाव नहीं है । कारण बहिराकाश में स्थिति के बाद अन्तर्मुखी गति आरंभ होगी ही । इसी प्रकार अन्तराकाश में स्थिति के बाद बहिर्मुखी गति बिना हुए रह नहीं सकती । इन दोनों स्थितियों में भविष्य की विपरीत गति का एक सूक्ष्म संस्कार रहता है ।

किन्तु स्तम्भवृत्ति इस प्रकार का नहीं है । स्तम्भवृत्ति से महाकाश में स्थिति होती है । इसके मूल में धारक प्रयत्न है, यह सच है, पर उसके सहायक रूप में रेचक-प्रयत्न भी नहीं है, पूरक-प्रयत्न भी नहीं है । साधक किसी भी समय, प्राण की गति की किसी भी अवस्था में, ख्याल होने पर ठीक उसी अवस्था में स्थिर रह सकता है । प्राण की गति रेचक रूप में हो या पूरक रूप में हो—उस समय तक जितना हुआ था, वहीं वह कुछ देर के लिए निवृत्त हो जाता है । इस स्तम्भवृत्ति के मूल प्रयत्न को महाधारक प्रयत्न कहा गया है । यह एक अद्‌भुत रहस्य है । इस प्रयत्न के प्रभाव से एक क्षण में सर्वतोमुखी संकोच-शक्ति की क्रिया होती है । सुतरां अन्तर्मुख एवं बहिर्मुख में निरोध सिद्ध करने के लिए पृथक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती । एक ही प्रयत्न से सभी प्रकार की गति समरूप में शुद्ध हो जाता है । इस अवस्था में आकाश प्रकट होता है, वह न तो अन्तराकाश है और न बहिराकाश, उसे महाकाश कहा जा सकता है जो आन्तर और बाह्य है, दोनों आकाश में ही समरूप में व्याप्त रहता है । इसलिए यथार्थ साम्यभाव

यहीं सम्भव है । कैवल्य और प्रकृति के लय में जिस प्रकार का भेद है—इस साम्यरूपी आकाश में वायु के स्तंभन एवं अन्तराकाश एवं बहिराकाश में वायु के स्तंभन में भी वैसा ही भेद है ।

जिस महाप्रयत्न के प्रभाव से यह सर्वतोमुखी संकोच-शक्ति क्रिया करती है, आगम शास्त्र में उसका पारिभाषिक नाम है— "उद्यम" । शिव शास्त्र में "उद्यमो भैरव" उल्लेख करते हुए प्रकारान्तर से इसी का वर्णन किया गया है ।

पहले यह बताया जा चुका है कि बहिराकाश या अन्तराकाश में गति का अवसान एवं बहिराकाश या अन्तराकाश से अभिनव गति की सूचना होती है । ये दोनों आकाश विन्दुस्वरूप हैं, इसलिए दोनों की गति के संधिस्थल में इसे प्राप्त किया जा सकता है । लेकिन मैंने जिस महाकाश का उल्लेख किया है, उसे किसी भी गति में, किसी भी क्षण पकड़ा जा सकता है । अर्थात् गति के बीच स्थिति को देखने का यही कौशल है । गति को छोड़कर स्थिति नहीं है । गति के आदि से लेकर अन्त तक सर्वत्र अखण्ड स्थिति विद्यमान है, किन्तु उसे बाहर निकालना पड़ेगा । इसी के लिए महाप्रयत्न या उद्यम करना पड़ता है । इसे एक बार के अलावा दोबारा नहीं करना पड़ता । क्योंकि एक ही प्रयत्न से अनन्त गति का अवसान हो जाता है एवं शुद्ध स्थिति प्राप्त किया जा सकता है । केवल स्थिति-काल को बढ़ाकर परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होना पड़ता है । उस समय भी अभ्यास की जरूरत रहती है, कारण बार-बार अनुशीलन न करने पर साम्य में स्थिति भी स्थायी नहीं होती । मगर बहु प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है, एक ही प्रयत्न के द्वारा गति मात्र में स्थिति आविष्कृत हो सकती है । गीता में "कर्मण्यकर्म यः पश्येत्" की चर्चा करते हुए जिस कर्म के भीतर अकर्म साक्षात्कार का उपदेश दिया गया है, वह भी एक हिसाब से इसके ही अनुरूप है । अर्थात् निष्क्रिय को पाने के लिए क्रियासमाप्ति की आवश्यकता नहीं है, कारण क्रियासमाप्ति आपेक्षिक है । केवल यही नहीं, क्रियासमाप्ति के बाद जो निष्क्रियता है, वह भी आपेक्षिक है । कारण उसके बाद ही विपरीत क्रिया की सूचना मिलती है । इसी वजह से क्रिया की किसी भी अवस्था में निष्क्रिय को खोजकर बाहर निकालना पड़ेगा । यही साम्य-साधना का लक्ष्य है ।

क्षण और काल में जो भेद है, उसे योगी गण अनुभव करते रहते हैं । काल बौद्ध पदार्थ किन्तु क्षण वास्तविक है । किन्तु व्युत्थित अवस्था में क्षण का पता नहीं चलता, काल को ही ग्रहण किया जाता है । काल के भीतर काल का अवसान खोजने से नहीं मिलता । एक ओर अनादि एवं दूसरी ओर अनन्त—ऐसी स्थिति में साधक की बुद्धि अग्रसर होने में समर्थ नहीं होता । किन्तु वृत्ति को संकोच कर यदि महाउद्यम में क्षण को साक्षात्कार किया जा सके तो एक ही क्षण में अनन्त काल के दर्शन प्राप्त हो सकते हैं । अतीत, वर्तमान और भविष्य ये तीनों काल सम्मिलित रूप में एक महाकाल बनकर आत्मप्रकाश करते हैं । किन्तु क्रमशः क्रम के सहारे काल की समाप्ति करना क्षुद्र पक्षी के चंचुपुट से समुद्र-शोषण की भाँति हास्यास्पद क्रिया है । 'एकस्मिन एव क्षणे सर्वं जगत् परिणाम मनुभवति' यही योगियों के सिद्धान्त हैं । ठीक इसी प्रकार एक ही महाप्रयत्न से महाकाश में स्थितिलाभ होता है । इसके लिए प्राणापान की गति का विच्छेद करने की जरूरत नहीं होती ।

वाच्य और वाचक

एक प्रयत्न के द्वारा वाच्य और वाचक के युगपत् विलापन—यह एक अद्भुत व्यापार है । वाच्य और वाचक जब ये दोनों भाव निवृत्त हो जाते हैं तब जो शेष रहता है, वही है भावातीत परब्रह्म । योगशास्त्र में प्रसिद्ध है कि प्राण और मन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, अगर इनमें से किसी एक को कौशल से निरुद्ध किया जाय तो युगपत् दोनों का निरोध होता है, ठीक उसी प्रकार वाच्य और वाचक के सम्बन्ध में यही बात है । योग्यता और अधिकार के तारतम्य के अनुसार कोई प्राण का और कोई मन का रोध करके उभय रोध रूप फल प्राप्त करते हैं । वाच्य और वाचक इन दोनों के भावों की निवृत्ति भी एक ही प्रयत्न के द्वारा एक ही समय हो जाता है । इस प्रयत्न का स्वरूप निर्णय करने के लिए वाच्य और वाचक का आविर्भाव किस प्रकार होता है, उस पर गौर करना होगा । आगम शास्त्र में इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से चर्चा की गयी है । विन्दु अथवा चिदाकाश में जब परमेश्वर के स्वातंत्र्यवश चित्शक्ति पतित होता है तब यह विक्षुब्ध होती है । इस विक्षोभ से एक ओर वागात्मक शब्द और दूसरी ओर अर्थ आविर्भूत होते रहते हैं । शब्द की धारा प्रवर्तित होकर प्रत्येक स्तर से स्थूलत्व की ओर अग्रसर होती रहती है । साथ ही साथ अर्थ की धारा में यही बात होती रहती है । ये दोनों धाराएँ समानन्तराल रूप से प्रवाहित होती हैं—इसमें संदेह नहीं । दोनों के साथ वाच्य-वाचक का संबंध विद्यमान है । शब्द वाचक, अर्थ वाच्य । वाच्य-वाचक भाव स्वाभाविक है । किन्तु मायिक-जगत् में कृत्रिम वाच्य-वाचक भाव भी है । मायातीत वाच्य-वाचक भाव से परस्पर सापेक्षतारूप स्वाभाविक संबंध मौजूद है । संकेत के द्वारा उक्त संबंध व्यवहार-जगत् में अभिव्यक्त होता है । शब्द और अर्थ नित्य संबंध होने के कारण जब प्रवृत्ति होती है तब जैसे दोनों की युगपत् प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार निरोधकाल में दोनों का युगपत् निरोध होता रहता है । व्यवहार भूमि में शब्द से अर्थ या अर्थ से शब्द किसी-किसी विशेष दृष्टिकोण से कोई-कोई स्वीकार करते हैं और कर सकते हैं । किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से शब्द और अर्थ की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों ही युगपत् है । खण्ड साधना की ओर से एक क्रम स्वीकृत किया जाता है, मगर यह क्रम भी कल्पित है ।

बात को जरा स्पष्ट करके कह रहा हूँ । पहले ही कहा जा चुका है कि चित्शक्ति के द्वारा जब विन्दु क्षुब्ध हो जाता है तब विन्दु से शब्द और अर्थ दोनों ही आविर्भूत होते हैं । शब्द और अर्थ दोनों का मूल उत्पादन विन्दु है—दूसरा कोई नहीं । इसलिए दोनों में आत्यन्तिक भेद स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं होती । देवता, मंत्रात्मिका जैसा कि मीमांसगण कहते हैं अथवा विग्रहात्मिका जैसा कि वेदान्तादि शास्त्र कहते हैं—इस प्रश्न की आलोचना करने पर विन्दु तत्त्व का यथार्थ ज्ञान से इसकी मीमांसा के संबंध में यथेष्ट प्रकाश पड़ सकता है । कारण मंत्र विन्दु का परिणाम है और विग्रह भी विन्दु का परिणाम है । जो एक दृष्टि से मंत्र रूप में प्रतीत होता है, वहीं दूसरी दृष्टि से विग्रह रूप में आत्मप्रकाश करता

है । अर्थात् एक ओर जो शब्द है, वही दूसरी ओर अर्थ हैं । चित्शक्ति विन्दु में अनुप्रविष्ट होकर जहाँ विन्दु का उत्पादन होता है, वहाँ से शब्द और अर्थ दोनों की रचना करता है । ब्रह्मरूपी शुद्ध चैतन्य तत्त्व में स्थिति प्राप्त करने के लिए विन्दु को अतीत होना पड़ेगा । वेदान्त की माया को महामाया रूप में समझ लेने पर यह जटिल रहस्य उद्घाटित हो सकता है । चित्शक्ति के सकृत् प्रयत्न के द्वारा जिस प्रकार विन्दु-क्षोभ को द्वार बनाकर शब्द-अर्थ अर्थात् नाम और रूप अर्थात् वाचक और वाच्य—दोनों की सृष्टि होती है; ठीक उसी प्रकार चित्शक्ति का सकृत् प्रयत्न के द्वारा ही विन्दु के निरोध से तथा शब्दार्थ सृष्टि का उपसंहार करने के बाद, विन्द्वतीत परब्रह्मस्वरूप में स्थिति हो सकती है । जो शक्ति विन्दु को क्षुब्ध करती है और सृष्टि उन्मुख करती है, उसी शक्ति को ऊर्ध्व आकर्षण बल से उपसंहार करने पर विन्दु क्षोभहीन होता है और साथ ही साथ शब्द और अर्थ की अर्थात् वाचक और वाच्य की निवृत्ति होती है । चित्शक्ति का उन्मेष यदि क्षोभित होता है तो निमिष मात्र में क्षोभ निवृत्त हो जाता है । जिस प्रकार उन्मेष एक प्रयत्न है, निमिष भी उसी प्रकार एक प्रयत्न है, अर्थात् विन्दु से संकोच पूर्वक चित्शक्ति को आकर्षण कर लेने पर क्षण भर में नामरूपात्मक समग्र जगत् अस्तमित हो जाता है । कारण विन्दु में क्षोभ न रहे तो सृष्टिरूपी जगत् कहाँ रहता ?

अब प्रश्न यह है कि यह प्रयत्न कौन करे अथवा कौन कर सकता है ? यह प्रयत्न साधारण जीवों का लौकिक प्रयत्न नहीं है—यह कहना व्यर्थ है । कारण जीव के लौकिक प्रयत्न के द्वारा विन्दु कम्पित नहीं होता, चिदाकाश ध्वनि में भी नहीं होती । वस्तुतः विन्दु जीव दृष्टि के लिए गोचर नहीं है, अगर किसी विशिष्ट प्रणाली से गोचरीभूत होता है तो जीव प्रयत्न-विन्दु को क्षुब्ध नहीं कर सकता । जीवभाव के अन्तराल में जो शिवभाव मौजूद है, यह प्रयत्न उनका ही है और यह प्रयत्न उनकी उद्यमरूपी भैरवावस्था है । प्रत्येक जीव में यह सामर्थ है, किन्तु जीव में नहीं, शिव में है । तीव्र पुरुषाकार रूप में जब वह अभिव्यक्त होता है तब वह सत्य-संकल्प रूप में अमोघ होकर प्रकाशमान होता है । पृथक-पृथक प्रयत्नों के द्वारा अनन्त शब्द और अनन्त अर्थों को रोध करने की चेष्टा नहीं करनी पड़ती । जिस बहिर्मुख के विराट प्रयत्न से महाशक्ति का आविर्भाव होता है, ठीक उसी प्रकार अन्तर्मुख के विराट प्रयत्न से महासृष्टि का उपसंहार होता है । एक-एक कर क्रम अवलम्बन पूर्वक धीरे-धीरे तोड़ना पड़ता है । काल के साथ कालिक सृष्टि उसी महा आकर्षण से सिमटता जाता है ।

पूर्वोक्त विवरण से समझ में आ जायगा कि जब अभिधान और अभिधेय का युगपत् विलापन आवश्यक है तब वह पृथक प्रयत्न द्वारा निष्पन्न नहीं होता, एक ही प्रयत्न के द्वारा निष्पन्न होता है । अभिधान और अभिधेय रूप दोनों भावों का विलोप सिद्ध होने पर एक मात्र भावातीत परमसत्ता ही विराज करते हैं । वही परब्रह्म हैं जो शब्द और अर्थ दोनों के अतीत हैं ।

कर्मकाण्ड

एक सज्जन ने कर्मकाण्ड के बारे में प्रश्न किया है । कर्मकाण्ड शब्द में उन्होंने साधना-पद्धति पर विचार किया है ।

लौकिक कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में हम लोगों का सम्प्रदायगत कुछ भी विधि-निषेध नहीं है । साधन-पद्धति लोकोत्तर है, सुतरां इसे किसी विशेष धारा के अन्तर्गत है, माना नहीं जाता । दूसरी ओर भारतीय-साधना की मुख्य धाराओं के विशेष धर्म-समूह इसमें लक्षित होने के कारण इसे किसी धारा से सम्बन्ध-हीन भी नहीं कहा जा सकता । यह मूलतः निगम-आगम अर्थात् वैदिक और तांत्रिक साधना दोनों के साथ जुड़ा हुआ है । ब्रह्म गायत्री, वर्ण विचार तथा वैदिक-युग के ब्राह्मण-आदर्शों का पूर्ण रूप से अंगीकार, यथाविधि संध्या-उपासना आदि वैदिक साधना का मूल हमारी साधनाधारा के अन्तर्देश में लक्षित होते हैं । दूसरी ओर दीक्षा, बीजमंत्र, गुरुतत्त्व और इष्टतत्त्वों का विन्यास एवं आनुषंगिक साधना-पद्धति मूलतः आगम-सम्मत है । जिस क्रमानुसार वैदिक-समाज में आश्रम-समूह परस्पर अंगीकृत होता था, उस क्रम के अनुसार ज्ञानगंज की प्रणाली में अनुश्रुत नहीं होता । कारण ब्रह्मचर्य, दण्डग्रहण, संन्यास, तीर्थस्वामी अवस्था, परमहंसावस्था एवं केवली अवस्था—इस क्रम से श्री गुरुदेव के जागतिक एवं प्रकट-जीवन में स्पष्ट रूप से देख चुका हूँ । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह ठीक वैदिक नहीं है । कारण वैदिक-धारा में ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम एवं उसके बाद वनवास और अन्त में संन्यास होता है । परमहंसावस्था संन्यास के अन्तर्गत अथवा अत्याश्रमी अवस्था कहा जा सकता है । किन्तु ज्ञानगंज की धारा में ब्रह्मचर्य के बाद दण्डग्रहण और तब संन्यास है । संन्यास अवस्था पार करने के बाद तीर्थस्वामी अवस्था में गृहधर्म में अधिकार होता है । इसके बाद परमहंस अवस्था । इसमें गूढ़ रहस्य है, यहाँ उसकी चर्चा करने की आवश्यकता नहीं ।

इस प्रकार समझा जा सकता है कि कौन-कौन से अंश वैदिक धारा से कुछ अलग-सा है । उसी प्रकार किसी-किसी अंश में तांत्रिक धारा के साथ भेद है, ज्ञात होता है । कारण हमारी साम्प्रदायिक दीक्षा में प्रचलित होम का कोई स्थान नहीं है जबकि होम जारी है । अग्नि में घी नहीं डालना चाहिए । पाँच छँटाक घी की जो आवश्यकता होती है, उसे कुमारी को अर्पण करना चाहिए । कुमारी ही अग्निस्वरूपा है । इसीलिए दीक्षा के समय अनादि कुमारी शक्ति पूर्वोक्त घृत एवं वस्त्र ग्रहण करने पर दीक्षा सफल समझना चाहिए । तांत्रिक साधना में भी कुमारी-पूजा का स्थान है एवं इसका महात्म्य कीर्तित हुआ है । साधारणतः कुमारी का प्रसाद ग्रहण नहीं किया जाता, परन्तु हमारी साधना में यही मुख्य है । जगन्माता सधवा या कुमारी रूप में पूजिता होती हैं । सधवा रूप जीव और मायिक जगत् का मातृस्वरूप है, किन्तु कुमारी रूप शिव और महामाया जगत् का मातृस्वरूपा है । इसी से इसकी विशिष्टता समझी जा सकती है ।

सविकल्प-निर्विकल्प

तुमने सविकल्प से निर्विकल्प अवस्था में उपनीत होने की बातें लिखते हुए उस मार्ग के प्रधान अन्तराय के बारे में जानना चाहा है । इस सम्बन्ध में जबतक तुम्हारे साधन-जीवन का पूर्ण इतिहास ज्ञात न हो तबतक निर्दिष्ट रूप से कुछ कहना निष्फल है।

निर्विकल्प अवस्था में जाने के अनेक मार्ग हैं, किन्तु सविकल्प अवस्था के शिखर देश में प्रतिष्ठित न होने तक उन सब पथों में से कोई भी दिखाई नहीं देता । चित्पथ का उन्मेष एवं इसका क्रम-विकास—यही है विकल्प परिहार का सर्वश्रेष्ठ उपाय । वस्तुतः शुद्ध विकल्प का आश्रय लेकर अशुद्ध विकल्प से सुरक्षा प्राप्त करनी चाहिए । शुद्ध विकल्प की अन्तर्लीन अवस्था ही निर्विकल्प परमपद है । निर्विकल्प की कोई साधना नहीं है । सविकल्प भूमि की आखिरी छोर तक आने पर क्रमशः विकल्प क्षीण होता रहता है । उस वक्त निर्विकल्प आत्मस्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त करने में विलम्ब नहीं होता । पूर्णिमा तक न पहुँचकर चन्द्र की कला-क्षय की प्रत्याशा करना जैसे नीतिविरुद्ध है, उसी प्रकार विकल्प भूमि का पूर्ण विकास सिद्ध न होने तक विकल्प के उपशम की आशा करना असंगत है । स्वभाव निर्दिष्ट पथ ही प्रकृत पथ है । स्वभाव के विरुद्ध कृत्रिम उपाय से लक्ष्यप्राप्ति करने में दुर्घटना होगी । विकल्प की पुष्टि भी स्वभाव से होती है एवं पुष्टि की पूर्णता हो जाने पर विकल्प का उपशम स्वभाव से हो जाता है । कृत्रिम साधना के द्वारा कुछ कहने की आवश्यकता नहीं होती । एकाग्रता के पूर्ण विकास से ज्ञानाग्नि का आविर्भाव अवश्य होगा । जबतक ऐसा नहीं होता है तबतक निर्विकल्प महाशक्तिमय अवस्थाप्राप्ति का द्वार कहाँ है ? वास्तव में निर्विकल्प अवस्था का कोई भी अन्तराय नहीं है । ज्ञान की पूर्णताप्राप्ति के लिए जो अन्तराय है, वही निर्विकल्प अवस्थाप्राप्ति का अन्तराय है, इसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए ।

ज्ञान की पूर्णताप्राप्ति के मार्ग में भिन्न-भिन्न स्तर हैं । इन सभी को एक के बाद एक करके पार करना पड़ता है । अगर तगड़ा अधिकार बल हो तो द्रुतगति से यह कार्य सम्पन्न हो सकता है । चाहे जैसे भी हो, इन स्तरों को बिना पार किये विशुद्ध ज्ञान आत्मप्रकाश नहीं करता । अगर किसी स्तर को दबाकर कोई आगे बढ़ जाता है तो वह स्तर उसे आकर्षित कर उसकी गति का पथ अवरोध करता है । कहने का मतलब यह है कि स्वभाव के मार्ग का अवलम्बन करना उचित है । इससे अतृप्ति की ताड़ना नहीं रहती और न गति में अवरोध होता है । कला-कला में चित्शक्ति का विकास करना चाहिए । दूध को मथने पर जिस प्रकार नवनीत निकलता है, ठीक उसी प्रकार इस पिण्ड को मन्थन करके उसकी सार ज्योति को निष्कर्षण करना चाहिए । यही ज्योति गन्तव्य पथ का सहायक है । यही सभी अन्तराय का नाश करती है और साधक को चरम लक्ष्य तक पहुँचाती है ।

आत्मोन्नति

साधना एवं आत्मोन्नति के लिए ऐकान्तिक प्रयत्न शुभ कर्म है, इसमें सन्देह नहीं । किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि यह भी पुरुषाकार है, स्वयं के कर्तृत्व अभिमान से यह उत्पन्न होता है । कर्तृत्व अभिमान दूर हो जाने के बाद साधना का कोई मूल्य नहीं रहता । उस वक्त समझ में आता है कि उनकी इच्छा ही सर्वमूल है और यही इच्छा मंगलमय है । उनकी इच्छा के साथ अपनी इच्छा का संघर्ष न करके उनके प्रति अनुगत भाव ग्रहण करते हुए जीवन-पथ पर चलने का अभ्यास करना चाहिए । वे मंगलमय हैं, मेरे लिए सर्वापेक्षा अपने हैं, इस सत्य को अगर मन में रख सको तो देखोगे कि गोबर में भी कमल खिलते हैं । अनुगत होकर चातक की भाँति तृषित रूप से उनकी ओर देखते रहना पड़ेगा, ऐसा करते रहने पर एक न एक दिन अपूर्व रूप में तथा अचिन्त्य उपाय से उसी महाकरुणा सिन्धु की कृपा-विन्दु अवश्य पाओगे । उनकी ओर से आशा करके रहने पर और सरल-पथ पर चलना सीखने से समझ सकोगे कि यह संसार कितना ही भीषण आकार क्यों न धारण कर ले, वह तुम्हें अभिभूत नहीं कर सकेगा । उस समय समझ सकोगे कि एक दिन जिसे तृषित मरु समझते रहे, वह तो रसाल नन्दन है । दृष्टि में बिना परिवर्तन हुए यह अनुभव प्राप्त नहीं होता । इसलिए मुझे ऐसा लगता है कि अपनी इच्छा को उनकी इच्छा में विसर्जन देकर उसी महाइच्छा के छन्दों से स्पन्दित होते रहो । कभी विश्वास से डगमग मत होना और न लक्ष्यभ्रष्ट । ऐसा करने पर सहस्र दुःखों में भी उद्धार का मार्ग अपने आप उद्‌बुद्ध हो उठेगा तब तुम्हारी अजानकारी में एक अज्ञात हाथ तुम्हें चलाता रहेगा । तुम्हारी समस्त चिन्ताओं को वे ग्रास कर लेंगे । तुम निश्चिन्त रूप से उनका अनुगामी बनकर सुख-दुःख के अन्तराल में मध्यमार्ग का अवलम्बन करते हुए प्रतिदिन उनके निकट होते जाओगे ।

जन्म-जन्मान्तर

एक सज्जन पूछते हैं कि सद्‌गुरु से दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद ऊर्ध्वसंख्या में तीन जन्म में मुक्ति अवश्य मिल जाती है, ऐसा लोगों का कहना है । क्या यह बात सच है ? यह वे जानना चाहते हैं । इस सम्बन्ध में विस्तार से बताया जा सकता है, उतना लिखना कठिन है ।

कुछ लोग तीन जन्म के बदले सात जन्म स्वीकार करते हैं । कुछ ऐसे लोग हैं जो मानते हैं कि सद्‌गुरु से दीक्षा प्राप्त शिष्य के लिए वर्तमान जन्म के बाद आगे जन्म नहीं होता । इस प्रकार के नाना मत हैं । इसका रहस्य जानने के लिए सद्‌गुरु के स्वरूप और लक्षण को जानना आवश्यक है । जो दीक्षा देते हैं, उनकी प्रकृति एवं प्रवृत्ति की अच्छी तरह से अनुधावन करना आवश्यक है । साधारण रूप से किसी सिद्धान्त को सार्वजनिक समझकर ग्रहण नहीं करना चाहिए ।

दीक्षा तत्त्व के बारे में शास्त्रीय सिद्धान्त के कुछ आभास मैं "दीक्षा रहस्य"[१] नामक पुस्तक में दे चुका हूँ । उसे पढ़ना चाहिए । जीव के लिए दीक्षा भगवत्-प्राप्ति के लिए आवश्यक है । आणवमल, कार्म्मिमल और मायीयमल—ये त्रिविध मल जीव के पाशस्वरूप हैं । इसके प्रभाव से जीव पशुपदवाच्य हो जाता है । इन तीनों प्रकार के मलों से मुक्ति पाने के लिए दीक्षा के अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है । कर्म और माया से मुक्त होने पर सम्यक् प्रकार पाशमुक्ति सिद्ध नहीं होती, कारण आणवमल शेष रह जाता है । आणवमल ऐश्वरिक सत्ता में संकोच लाकर जीवभाव प्रतिष्ठित करता है, अतएव जबतक यह मल निवृत्त नहीं होता तबतक पशुत्व निवृत्त नहीं होता । परमेश्वरत्व प्राप्त करना दूर की बात है । दीक्षा में द्विविध बातें हैं—पशुत्व एवं आनुषंगिक आवरण से मुक्तिलाभ और अपने को परमेश्वरत्व रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करना । यही है दीक्षा का मुख्य फल । सुतरां कर्म से अतीत होने, यहाँ तक कि माया से अतीत होकर कैवल्य में स्थित हो जाने पर भी परमपुरुषार्थ प्राप्ति का कुछ भी नहीं होता । कारण आणवमल बाकी रहता है एवं इसके बाद पूर्ण ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति या परमेश्वरत्व का विकास बाकी रह जाता है । इसीलिए दीक्षा की इतनी महिमा है । पौरुष अज्ञान एवं बौद्ध अज्ञान—इन दोनों प्रकारों के अज्ञानों से जीव आच्छन्न रहता है । दीक्षा के बिना पौरुष अज्ञान दूर नहीं होता । सुतरां दीक्षा के बिना किसी प्रकार की साधन प्रणाली क्यों न अपनायी जाय, उससे पौरुष-अज्ञान रह जाता है । जिस अज्ञान के प्रभाव से स्वयं परमेश्वर जीव बनकर अभिनय करने के लिए बाहर निकले हैं जबतक वह अज्ञान दूर नहीं होगा तबतक परमेश्वरत्व स्वरूप अप्राप्त रह जाता है । केवल बौद्ध अज्ञान दूर होने का कोई मूंल्य नहीं है । पौरुष अज्ञान दूर कर बौद्ध अज्ञान, देहावस्थान काल में ही, दूर कर लेने पर चिदानन्द रस की अभिव्यक्ति होती है और जीवन्मुक्ति मिलती है । इसके बाद भोगावसान पर देहान्तकाल में, पौरुष ज्ञान का उदय होने पर परमेश्वरत्व स्वरूप में स्थिति होती है । भोग-वासना के प्रकृतिगत भेद के अनुसार देहावसान के पश्चात् ऊर्ध्वलोक में भी भोग हो सकता है । भोग समाप्त हो जाने पर पूर्णत्व की प्राप्ति अवश्य होती है । पौरुष-अज्ञान के निवृत्त होने पर शीघ्र हो अथवा विलम्ब से हो, पूर्णत्व होगा ही । भोगाकांक्षा रहने पर पूर्णत्व प्राप्ति में किंचित विलम्ब मात्र होता है, किन्तु कोई बाधा नहीं आती । केवल बौद्ध ज्ञान में बौद्ध अज्ञान निवृत्त होता है, अन्य कोई फल नहीं मिलता । सद्गुरु की दीक्षा मुख्यतः निष्फल होती है, पर दैहिक प्रकृति में भोगाकांक्षा रहने पर तदनन्तर 'सकल' दीक्षा भी वे देते हैं । दीक्षा के द्वारा अध्वशुद्धि होती है । इस प्रकार अशेष पाश निवृत्त होकर चरम में शिवत्व योजनारूपी पूर्णत्व की अभिव्यक्ति होती है ।

+ \+ \+ \+

इस विषय में पत्र के द्वारा लिखने पर अनेक बातों का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है । जहाँ प्रचलित धारणा के किसी अंश से विरोध है, वहाँ विश्लेषण कर सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन करना अत्यन्त आवश्यक है । अखण्ड सत्य का

---

[१] दीक्षा, अनुराग प्रकाशन, चौक, वाराणसी ।

वास्तविक रूप दर्शन कर सकने पर वास्तव में विरोध का कोई कारण नहीं रहता। विभिन्न सम्प्रदाय—दार्शनिक-सम्प्रदाय एवं योगी-सम्प्रदाय में भी अनेक विषयों में, सिद्धान्त और साधन में नाना प्रकार जो विरोध उपलब्ध होते हैं, उनका समन्वय अखण्ड दृष्टि में सहज साध्य है।

जन्मान्तर के प्रश्नों का समाधान बहुत कठिन नहीं है। किन्तु कठिन न होने पर भी उसे गहरी अनुभूति के द्वारा हृदयंगम करना होगा। मैं हमारी धाराओं के अनुमत सिद्धान्त और विचार प्रणाली को समझाने के पहले शास्त्रीय सिद्धान्तों को बताना चाहूँगा। कारण मेरे ख्याल से शास्त्रों के सिद्धान्तों को भी जन सामान्य ठीक से नहीं जानते। स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह और कारणदेह की बातें लोग सुनते हैं, उनमें नैयायिक और वैशेषिक आचार्यगण केवल स्थूलदेह की सत्ता को स्वीकार करते हैं। सांख्य और योग की भूमि पर स्थूल के अलावा सूक्ष्म या लिंग-शरीर भी स्वीकृत होता है। सांख्य के पश्चात् वेदान्त भूमि पर स्थूल और सूक्ष्म के अलावा कारण-शरीर भी अंगीकृत होता है। इसके बाद फिर किसी की गति नहीं है। वास्तव में कारण शरीर के बाद महाकारण शरीर या वैन्दव शरीर भी है, महाकारण शरीर के बाद कैवल्य-शरीर नहीं है, ऐसी बात नहीं है। कैवल्य-शरीर निराकार और विशुद्ध चिन्मय है, किन्तु महाकारण से सभी शरीर साकार और जड़ हैं। इनमें महाकारण शरीर निर्मल है, क्योंकि यह महामाया के उपादानों से रचित है। महामाया अचित् होने पर भी अत्यन्त स्वच्छ है। महाकारण शरीर के बाद निम्नवर्ती त्रिविध शरीर अशुद्ध जड़ के उपादानों से निर्मित है। सुतरां ये तीनों सामयिक हैं, इनमें कारण शरीर मायामय एवं कार्य शरीर माया से उद्भूत तत्त्वमय है। फिलहाल माया और प्रकृति को अभिन्न मान लेने पर इन उद्भूत तत्त्वों की संख्या २३ होगी। कार्य-शरीर में जो स्थूल भाग है अर्थात् स्थूल शरीर, यह पंचभूत नामक पाँच तत्वों से निर्मित है। कार्य-शरीर में जो सूक्ष्म हिस्सा है, वह शेष १८ तत्त्वों से निर्मित है। इस प्रकार चिन्मय और अचिन्मय पंचविध शरीर की बातों का उल्लेख किया गया। किन्तु आत्मा का परमस्वरूप इससे अतीत है, कारण वह तत्त्वातीत है।

महाकारण शरीर, कैवल्य शरीर एवं हंस शरीर या परमस्वरूप की यहाँ चर्चा नहीं है। कारण योगमार्ग में उन्हें प्रकट करना पड़ता है। मायागर्भ में अवतीर्ण होते ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीनों मायिक शरीर मौजूद रहेंगे। अब प्रश्न यह है कि माया में कौन अवतीर्ण होता है ? जो सत्ता माया से अतीत है, वही माया में अवतीर्ण होती है। अतएव यह मान लेना चाहिए कि माया से अतीत एक क्षरणशील सत्ता है जो क्षरित होकर माया में पतित होती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह क्षरण एक अक्षर-सत्ता से होता रहता है। अर्थात् एक ऐसी सत्ता है जिसमें से निरन्तर क्षरण हो रहा है, जबकि वह रिक्त नहीं हो रही है। "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाव शिष्यते" —यह क्षरण निरन्तर क्यों हो रहा है, इसका समाधान और इसकी मूल बातें, हमारी धाराओं के तत्त्वालोचना प्रसंग में जाना जा सकता है।

जो विभु और अपरिच्छन्न सत्ता हैं, वे यदि स्वेच्छावश अथवा किसी रहस्यमय कारणवश संकुचित होकर अणुत्व रूप न ले लें तो मायागर्भ में प्रवेश नहीं कर सकते । स्वरूप के संस्कारवश स्वरूपगत अपरिच्छन्नता भी संकुचित होता है । यही है आत्मविस्मृत जीवरूपी अणु की माया में पतित होने का पूर्ववर्ती आत्मपरिचय । तांत्रिक आचार्यों ने अणुभाव प्राप्ति की प्रणाली के बारे में संक्षिप्त निर्देश कहीं-कहीं दिया है, उसकी चर्चा यहाँ करना आवश्यक है । हमारी धारा में अणु-भाव प्राप्ति के पूर्व की, अनेक अवस्थाओं के भीतर से अवतरण के रहस्यमयी आलोचना है—यहाँ उन सबके बारे में नहीं कहूँगा । मेरा कहना केवल यह है कि मायागर्भ में जो आ जाता है, वह एक चिदाणु है । इसे अगर जीव कहना चाहते हो तो कह सकते हो । यह अणुभाव दूर न होने तक जीव ही रहता है । कैसे और कब दूर होता है, इसके बारे में आगे बताऊँगा । यह सत्य है कि यह अणु या परमाणु एक हिसाब से नित्य है । वैष्णव लोग इसीलिए अणुरूपी जीव के नित्यतावादी हैं ।

अभी जिस परमाणु के बारे में कहा गया, इसका कोई कर्म नहीं है, कर्म न होने के कारण कर्मजनित देहग्रहण इसके लिए संभव नहीं है । मायागर्भ में प्रवेश हो जाने पर कर्म का उदय संभव होता है । सुतरां समझ में आता है कि मायागर्भ में पतित होना ही प्रकृत जन्म है—यह एक बार होता है—यह अनेक बार नहीं होता । माया का भेद करके अगर महामाया में स्थिति हो जाय तो विदेह कैवल्य की अवस्था प्राप्त होती है । सुतरां माया भेद करना ही मृत्यु हो तो मृत्यु के बाद जन्मान्तर कैसे होगा ? इसके अलावा विदेह कैवल्य बिना भी मायातीत की अन्य अवस्थाएँ हैं और वही श्रेष्ठ अवस्था है । कारण उस अवस्था में परमाणु को शरीर प्राप्त होता है । वह विदेह-अवस्था नहीं है । उसी का नाम महाकारण शरीर है । गुरु-कृपा बिना उक्त शरीर प्राप्त नहीं होता । माया से जो शरीर उत्पन्न होता है, उसका जनक पिता अर्थात् ईश्वर या काल है । महामाया से जो शरीर उत्पन्न होता है, उसका जनक गुरु होता है । गोकि जो गुरु हैं, वही पिता हैं । फिर भी भेद है, इसे नहीं भूलना चाहिए । यहाँ जन्म कहने पर मैं पितृदत्त देह-ग्रहण समझ रहा हूँ—यह एक बार ही होता है—द्वितीय बार नहीं होता । पिता-रूप में ईश्वर के द्वारा माया के क्षुब्ध होने पर इस मायिक देह का जन्म होता है । मायिक देह का तिरोधान हो जाने पर अर्थात् महामाया में विदेह कैवल्य अवस्था अथवा वैन्दव-जगत् में गुरुवर्ग का अन्यतम, किम्बा मंत्रवर्गों का अन्यतम या तदनुरूप भावापन्न देह प्राप्त होने पर फिर माया में उतरकर देह-ग्रहण नहीं करना पड़ता । केवल यही नहीं, माया में लीन होकर रहने पर भी प्रायः वैसा ही होता है । सुतरां मुख्य जन्म एक बार और मृत्यु भी एक बार होती है । किन्तु कर्म से अतीत न होने पर कर्मजनित भोगदेह ग्रहण करनी पड़ती है—इसकी कोई संख्या नहीं । फलतः कर्म के साथ जन्मान्तर का संबंध है । कर्म के वैचित्र्य की वजह से विभिन्न जन्म होते रहते हैं, किन्तु मूल जन्म जो है, वह कर्म के अधीन नहीं है । कारण माया में परमाणु का प्रवेश करना ही मूल जन्म है । माया में प्रविष्ट होने के पूर्व मायातीत शुद्ध परमाणु का कर्म कहाँ है ? कर्मजनित विचित्र देह-संबंध उसी एक देह का अवान्तर व्यापार

है—वह गौण है, मुख्य नहीं । जिस प्रकार जाग्रत और स्वप्न में भेद है, उसी प्रकार मुख्य देह और गौण देह में भेद है—इसे जान लेना चाहिए । जन्मान्तरवाद मिथ्या नहीं है, दूसरी ओर एक जन्मवाद भी मिथ्या नहीं है । किन्तु इस धारणा (Conception) में अनेक पार्थक हैं । इसे समझ लेने पर अजातिवाद भी सत्य है, यह समझ में आ जायगा । गौड़पाद ने इसका उल्लेख किया है ।

अमर देह

जरा और मृत्यु से देह को मुक्त करना ही देह-सिद्धि का तात्पर्य है । यह नाना उपायों से हो सकता है । उपायभेद से देहसिद्धि के स्वरूप में कुछ वैशिष्ट्य आ जाते हैं । देह-साधना अत्यन्त कठिन और दुःसाध्य साधना है । बहुत कम लोग इसमें सफल हो पाते हैं । कम होने पर भी प्राचीनकाल से विभिन्न देशों में इसका प्रचार है । गोरखनाथ, जलंधरनाथ आदि लोगों ने सिद्ध देह प्राप्त किया था । तिब्बतीय साहित्य में ८४ सिद्धों का उल्लेख है । भारतीय ग्रंथों में भी इसका उल्लेख है । हठयोगी वायु और विन्दु को जय करके देह सिद्ध कर लेते हैं । रसायनविद पारा को १८ संस्कार के द्वारा शोधित कर उसका दैहिक प्रयोग के द्वारा देहसिद्धि प्राप्त करते हैं । सहजपंथी भाव-साधना के द्वारा, मंत्र-साधक मंत्रवीर्य द्वारा, बाउलगण चन्द्र-साधना के द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं । गोपीचन्द, मैनामती आदि की कहानियाँ देहसिद्धि के बारे में प्राचीन और मध्ययुग के साहित्य में उल्लेख हैं ।

सिद्धों का मत है कि देह सिद्ध या शुद्ध होने पर उक्त देह काल के ग्रास तक नहीं पहुँच पाती । उस समय देह का आश्रय लेकर दीर्घकाल तक साध्य ब्रह्मज्ञान प्राप्ति की साधना चल सकती है । देह-साधना का उद्देश्य है—जीवन्मुक्ति लाभ । सिद्धों की जीवन्मुक्ति वेदान्त की जीवन्मुक्ति से भिन्न है । वेदान्त मत से जीवन्मुक्त पुरुष प्रारब्ध के अधीन रहता है । ज्ञान के फल से संचित कर्म दग्ध हो जाते हैं, किन्तु प्रारब्ध के कर्म नष्ट नहीं होते । वह भोग के द्वारा क्षीण होते हैं । तब देहपात होने पर विदेह-कैवल्य की प्राप्ति होती है । किन्तु सिद्ध लोग इस प्रकार की कैवल्य-मुक्ति के पक्षपाती नहीं हैं । उनका कहना है—देह के रहते मुक्ति का आस्वाद मिलना चाहिए । देह और मन अगर अस्तमित हो जाय तो मुक्ति का आस्वाद कैसे मिल सकता है ? देह अगर मृत्यु या काल के अधीन रहे तो मुक्ति हो नहीं सकती । फलतः प्रकृत ज़ीवन्मुक्त पुरुष उसी को कहा जा सकता है जो मृत्यु पर विजय प्राप्त कर चुका है ।

जीवन्मुक्त सिद्धों की दो अवस्थाएँ हैं—(१) प्रथम मांयिक-देह शुद्ध होकर शुद्ध माया की देह प्राप्ति । यही सिद्ध देह है । (२) इसके बाद वही देह क्रमशः ज्योतिर्मय होकर प्रणवतनुरूप में परिणत होती है । उस समय वह सिद्धों के निकट अदृश्य हो जाती है । सन्तों का कहना है कि प्रथम अवस्था अमर देह है, द्वितीय

अविनाशी देह । दोनों ही मृत्युंजयी हैं । प्रणवदेह वास्तव में कुण्डलिनी स्वरूप है । सिद्धदेह ही योगदेह है । सहजिया साधकों की प्रवर्तक दशा के अवसान पर जिस भावदेह का विकास होता है, वह वास्तव में सिद्धदेह का प्रकारभेद मात्र है, पर उसमें धारागत पार्थक्य है ।

सिद्धदेह की प्रधान सीमा यह है कि वह रक्तशून्य होता है रक्त शोषण के बिना देह-सिद्धि अभी तक किसी की नहीं हुई है । रक्त रहने पर काल का आघात अवश्य होगा, ऊर्ध्व जगत् की सत्ता रक्तहीन होने के कारण मृत्यु के अधीन नहीं है । रक्तशून्य होने से मृत्यु का भय नहीं रहता । उस समय उक्त सत्ता विराट् चैतन्य में लय हो जाता है । विशुद्ध ज्योति रूप में वह सत्ता बनी रहती है—वह अतीन्द्रिय और क्षोभ के अतीत है । वह शून्य में निरालम्ब रूप में रहती है । किन्तु इस बार महायोग के फलस्वरूप जो होने की संभावना है, उससे रक्तशून्य नहीं होगा जबकि चरम में मृत्युंजय होगा । इसकी प्रक्रिया भिन्न हैं, उद्देश्य भिन्न हैं । देह में रक्त के न रहने पर उस देह से स्मृति की क्रिया नहीं होती—उसके द्वारा जीवजगत् के साथ साक्षात संबंध स्थापन संभव नहीं होता ।

जब नरदेह में पूर्णब्रह्म का आविर्भाव होगा तब उन सभी सिद्धकायाओं के द्वारा अनेक कार्य सम्पन्न होंगे । उसका प्रधान कार्य होगा बीज-हीन खेत में बीज अर्पण करना । गोकि वह जगद्गुरु की प्रेरणा से होगा । नरदेह में अभी तक पूर्णब्रह्म की अभिव्यक्ति नहीं हुई है । कारण, अगर ऐसा होता तो जगत् में परिवर्तन हो जाता । प्रकृति तक का विकास नरदेह में अवश्य हुआ है—यद्यपि विरल क्षेत्र में । किन्तु प्रकृति भेद नहीं हुआ है । प्रकृति भेद होने पर काल-विनाश सिद्ध हो जाता—काल का विक्रम नहीं रहता । सभी पूर्णानन्दमय ब्रह्मस्वरूप कहकर अपने को अनुभव करते । वास्तव में ऐसा हुआ नहीं । जिन लोगों को ब्रह्मभाव प्राप्त हुआ है, वे देहावस्था में उसे प्राप्त नहीं कर सके, बल्कि देहान्त के बाद प्राप्त किया है । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह बात महायोगियों के बारे में कह रहा हूँ—सिद्ध साधकों के बारे में नहीं । साधकों का लक्ष्य चिदाकाश होता है । योग-मंत्र की सहायता न पाने पर चिदाकाश का भेद नहीं होता । ब्रह्मबीज के बिना ब्रह्मावस्था का विकास नहीं हो सकता । जिन सब क्षेत्रों में इस बीज का वपन नहीं हुआ है, वे लोग मरणोपरान्त ब्रह्मलाभ नहीं कर सकते । स्वीय भाव और कर्म के अनुसार उनकी गति होती है । प्रकृत ब्रह्मलाभ वे कभी प्राप्त नहीं कर सकते । किन्तु इस महायोग के समय वे लोग भी ब्रह्मप्राप्ति के अधिकारी बन जायँगे । इसीलिए उन लोगों को ब्रह्मलाभ के योग्य बनाने के लिए ब्रह्मबीज दान करना पड़ेगा । इन सभी बीज़-हीन क्षेत्रों में बीज वपन, कर्षण आदि कार्य सिद्धदेहवाले महापुरुष लोग श्री भगवान् के निर्देशानुसार सम्पादन करेंगे ।

काया-सिद्ध हो जाने पर वास्तव में देह और आत्मा का भेद दिखाई नहीं देता । इसीलिए ऐसी आत्माएँ स्तर प्राप्त नहीं कर पातीं । ऐसी कायाएँ मृत अवस्था से अमरत्व प्राप्त करती हैं । किन्तु योगी योगमार्ग पर अग्रसर होकर इस देह का कर्म समाप्त करने के पूर्व महाभाव या तादृश अवस्था प्राप्त कर अगर देहत्याग करे

तो उन्हें ऊर्ध्वलोक में अमरदेह प्राप्त होता है । पूर्वोक्त अमरदेह से यह अमरदेह भिन्न है । यह अमरदेह ऊर्ध्वलोक में आविर्भाव के साथ-साथ प्रकट हो जाता है । इन्हें स्तर-लाभ होता है । मरसिद्ध अमरदेह स्तरहीन होती हैं ।

जीवोद्धार

जगत् और जीव में अपूर्णता है । वास्तव में सृष्टि मात्र में अर्थात् जिस सृष्टि से हम परिचित हैं, वह अपूर्णता का एक उदाहरण है । इस अपूर्णता को दूर करने का प्रयत्न और प्रत्येक जीव की पूर्णता-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना स्तुत्य है । अभाव बोध अपूर्णता से ही हो जाती है । दुःख, शोक, ताप, कलुषित वृत्ति, खण्ड भाव एवं उसके सभी परिणाम—यह सब अपूर्णता के ही फल हैं । सृष्टि के प्रारंभ से एक ओर जहाँ यह अपूर्णता अनुभव में आया है, वहीं दूसरी ओर इसे दूर करने का प्रयत्न भी प्रारंभ हो गया है । विभिन्न देशों में, विभिन्न समय में, विभिन्न सम्प्रदायों के द्वारा नाना प्रकार के उपाय आविष्कृत हुए हैं—सभी का एक मात्र उद्देश्य है कि इस अपूर्णता को दूर कर जीव और जगत् में सुख, शान्ति हो एवं परमा-तृप्ति की प्रतिष्ठा हो । दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचार, साधना, सभी प्रकार के लौकिक प्रयास, केवल उसी एक महान् उद्देश्य से अनुप्राणित है ।

इससे समझ में आता है कि पूर्णत्व लाभ प्राप्त करना जीव और जगत् के सभी प्रकार की क्रियाओं का एक मात्र लक्ष्य है । अनादिकाल से इस लक्ष्य का अनुसरण किया जा रहा है । वास्तव में अब तक लौकिक दृष्टि से सभी यह सोच रहे हैं कि इसे प्राप्त करना जैसे पूर्व में सुदूरपराहत था, आज भी उसी प्रकार सुदूरपराहत है । कारण जगत् में दुःख, कष्ट, अभावबोध का उपशम पहले की अपेक्षा अधिक रह गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । दुःख-निवृत्ति, परमानन्द प्राप्ति, ब्रह्मत्व लाभ, मोक्ष आदि किसी भी नाम से उस महाउद्देश्य का वर्णन क्यों न किया जाय, उसकी पूर्ण उपलब्धि अभी सिद्ध नहीं हुई है । व्यक्तिगत रूप से कुछ लोगों ने आनन्द, मुक्ति, दुःख-निवृत्ति अथवा ब्रह्म प्राप्ति की स्थितियाँ प्राप्त की हैं, ऐसी प्रसिद्धि होने के बावजूद समष्टिगत रूप से समग्र जगत् की दुःख-निवृत्ति सिद्ध नहीं हुई है । वस्तुतः जबतक सभी लोगों की दुःख-निवृत्ति सिद्ध नहीं हो जाती तबतक एक का अर्थात् किसी भी व्यक्ति की दुःख-निवृत्ति सम्यक् रूप से सिद्ध हो गया है, कहा नहीं जा सकता— कारण समग्र सृष्टि की अतीत सत्ता अखण्ड रूप में एक सूत्र से बँधी है । साधारणतः देखा गया है कि कोई किसी विशेष उपाय की सहायता अथवा निरुपाय भाव से कोई श्रेष्ठ अवस्था या पद प्राप्त कर लेता है, उसके लिए पूर्णत्व में अवगाहन करने के पूर्व पथनिर्देश आदि उपायों के द्वारा दुःख से पीड़ित अन्यान्य व्यक्तियों के दुःख मोचन का प्रयत्न करना स्वाभाविक है । यह चेष्टा अवस्था-भेद से नाना प्रकार से होते हैं । किन्तु यह किसी प्रकार से क्यों न हो, इसके फलस्वरूप संसार-ताप से तापित व्यक्ति विशेष दुःख-निवृत्ति का मार्ग प्राप्त करता है और लम्बे समय के बाद अपने पथ प्रदर्शक की भाँति वह भी

उच्चावस्था प्राप्त करता है । उस समय प्रथम व्यक्ति जीवोद्धार कार्य से अवकाश ग्रहण कर पूर्णत्व में अवगाहन करता है । इसके बाद द्वितीय व्यक्ति उस स्थान को ग्रहण करता है और उसकी भाँति उच्चकार्य में संलग्न हो जाता है । इसी प्रकार क्रमशः एक-एक करके योग्यता के अनुसार जीव दुःख और अभाव के इस राज्य से हमेशा के लिए मुक्ति प्राप्त करता है । सृष्टि के जन्म से ही जीव-उद्धार का कार्य इस प्रकार सम्पन्न हो रहा है । परमावस्था में जीव का स्वरूप कैसा रहता है, जीव रहता है या नहीं या ब्रह्मभाव में उसकी स्थिति हो जाती हैं, किंवा अन्य प्रकार की सिद्धावस्था की अभिव्यक्ति होती है—इन सभी बातों की चर्चा यहाँ करने की आवश्यकता नहीं है ।

जरा-मृत्यु की अतीतावस्था सामान्य दृष्टि से एक होने पर भी उसके नाना प्रकार के भेद हैं । रुचि वैचित्र्यानुसार विभिन्न लोग, विभिन्न प्रकार की अवस्था प्राप्त करते हैं । कैवल्य, निर्वाण, परिनिर्वाण, महापरिनिर्वाण, शान्त ब्रह्मपद, शिवत्व, पूर्ण स्वातंत्र्य अथवा परमेश्वरत्व, निर्विकल्प स्थिति, नित्यलीला आदि अनन्त प्रकार की अवस्थाएँ हैं । जगत् के शोक-ताप आदि से छुटकारा प्राप्त कर जिसका जिस प्रकार का अधिकार अथवा रुचि है, वह उसी प्रकार की एक नित्यावस्था प्राप्त करता है । कोई-कोई नित्यावस्था भेद करने में समर्थ होते हैं । जो आत्माएँ जगत् के हित और सुख के लिए प्रयत्न करती रहती हैं, जो लोग स्वभाव से करुणा विशिष्ट एवं परोपकार कार्य में संलग्न रहते हैं, वे केवल अपने व्यक्तिगत दुःखों की निवृत्ति अथवा सुख-समृद्धि में संतुष्ट नहीं रह सकते । वे अपना दुःख क्लेश स्वीकार करते हुए दूसरों के दुःख को दूर करने में लगे रहते हैं । अध्यात्म मार्ग में भी ऐसा ही होता रहता है । प्राचीनकाल में बौद्ध-सम्प्रदाय में व्यक्तिगत दुःख-निवृत्ति विशेष रूप से प्रार्थनीय थी । जिस ज्ञान से जगत् को दुःखमय समझकर पहचाना जा सके, केवल यही नहीं, दुःखों के कारणों को समझा जा सके, दुःख-निवृत्ति का स्वरूप जाना जा सके, उसकी प्राप्ति का उपाय आयत्त किया जा सके, वही वास्तव में सम्यग ज्ञान है । दुःख-निवृत्ति निर्वाण का नामान्तर है । यह केवल दुःख-निवृत्ति नहीं, दुःख के साथ समग्र-सत्ता की निवृत्ति है । इस अवस्था में लौकिक-ज्ञान तक लुप्त हो जाता है, आगे उसकी आवश्यकता भी नहीं रहती । यह मार्ग व्यक्तिगत दुःख-निरोध का उपाय करती है । इसके द्वारा अखिल जगत् की दुःख-निवृत्ति-मार्ग में चला नहीं जा सकता । कारण जिसके दुःख की निवृत्ति होती है अर्थात् निर्वाण प्राप्त होता है, उसके पंच स्कन्ध निरुद्ध हो जाने के कारण वह स्वयं ही नहीं रहता—तब वह दूसरे का दुःख कैसे दूर कर सकता है ? इसके अलावा दूसरों का दुःख दूर करने की वासना चित्त में उत्पन्न न हो तो सम्यक ज्ञान के उदय होने पर निर्वाण में प्रवेश अवश्यंभावी है । अशुद्ध-वासना की निवृत्ति होने कें साथ-साथ अर्हत अवस्था की प्राप्ति होती है । इसके बाद यथासमय स्कन्ध-निवृत्ति सिद्ध होती है जिसका नामान्तर निर्वाण है । यह कुछ हद तक जीवन्मुक्ति और विदेह कैवल्य की तरह है । सुतरां स्थायी रूप से परदुःख मोचन का प्रयत्न इस मार्ग पर नहीं चलता । जिसे स्वयं अर्हतभाव प्राप्त होता है, वह दूसरों को ज्ञानदान करके शुद्ध-पथ पर आने में सहायता कर

सकता है । मगर उसकी स्कन्ध-निवृत्ति हो जाने पर उसका यह परोपकार व्रत मध्य मार्ग में खंडित हो जाता है । अनेक लोगों का दुःख दूर करने के लिए अपने दुःख को छोटा समझकर उन दुःखों को प्रधान स्थान देना आवश्यक है । तादृश क्षेत्र में स्वदुःख मोचन की वासना की अपेक्षा परदुःख मोचन की वासना अधिक बलवती हो उठती है । इस क्षेत्र में यद्यपि अज्ञान विद्यमान रहता है तथापि क्लेश से मुक्ति मिल जाती है । क्लिष्ट अज्ञान और अक्लिष्ट अज्ञान, इन दोनों प्रकार के अज्ञान के भीतर परहितकांक्षी आत्मा का क्लिष्ट अज्ञान नहीं रहता, पर अक्लिष्ट अज्ञान रहने के कारण परहित कार्य सम्पन्न होता है । परदुःख मोचन की वासना ही शुद्ध वासना है । अक्लिष्ट अज्ञान रहने तक यह शुद्ध वासना रहती है । इस वासना की वजह से चित्त निर्वाण से छुटकारा प्राप्त कर लेता है । जितने दिनों तक अक्लिष्ट अज्ञान वर्तमान रहता है, उतने दिनों तक महाज्ञान अर्जन करने का प्रयत्न चलता रहता है । यह चित्त बोधिचित्त अथवा बोधिसत्ता के नाम से प्रसिद्ध है । यह घनीभूत एवं विन्दुरूप में परिणत चित्त है । जिस परिमाण में यह चित्त उत्कर्ष प्राप्त करता है, उसी परिमाण में यह निम्नवर्ती भूमि त्याग करके ऊर्ध्ववर्ती भूमि में संचारित होता है । इस प्रकार एक-एक भूमि त्याग करते हुए ऊर्ध्वतर भूमि प्राप्त करते-करते जब दशम भूमि परिहार कर लेता है तब बुद्धज्ञान का उदय होता है । यही है बोधिसत्त्व जीवन का पूर्ण आदर्श । यहाँ आकर प्रतिष्ठित होने पर निर्वाण का भय हमेशा के लिए तिरोहित हो जाता है, कारण निर्वाण उस समय स्वायत्त हो जाता है ।

दशम भूमि का अधिष्ठाता होकर बुद्ध सम्राट या चक्रवर्ती पद पर आरूढ़ हो जाते हैं । बुद्ध के जीवन का एक मात्र व्रत ही परोपकार है अर्थात् जागतिक जीवों का दुःखभंजन । संख्यातीत बुद्ध स्व-स्व क्षेत्र में अधिष्ठित होकर मृत्यु एवं निर्वाण का परिहार करते हुए इस महाकार्य में व्यापृत हैं ।

यह अति उच्चावस्था है । बुद्ध शास्ता अथवा उपदेष्टा या गुरु हैं । अपने शासनकाल में वे साक्षात् रूप से स्वकार्य सम्पादन करते हैं । किन्तु उनका शासन काल अतीत हो जाने पर भी उनके स्वरूपगत स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं होता । किन्तु संख्यातीत बुद्ध जीवोद्धार-कार्य में लगे रहने पर भी अभी तक जगत् में अज्ञान और दुःख मौजूद है—एवं कभी इसकी समाप्ति होगी, ऐसी संभावना नहीं है । जीवों का उद्धार-कार्य अवश्य सिद्ध हो रहा है, पर क्रमिक रूप में । जितने जीव प्रपंच में शामिल हो रहे हैं, उससे काफी कम प्रपंच से उद्धार हो रहे हैं । जितने जीवों का आविर्भाव होता है, अगर उन सभी का उद्धार हो जाय तो सभी जीवों की दुःख-निवृत्ति संभव नहीं होगा । कारण नित्य नये-नये जीवों का आविर्भाव जारी है । सुतरां उस स्थान में अनुग्रह जिस तरह निरन्तर है, उसी तरह जीवों का संसार प्राप्ति रूप निग्रह भी निरन्तर है—ऐसा कहना पड़ेगा ।

वेदान्त के नाना जीववादियों की ओर से दुःख-निवृत्ति या मुक्ति पृथक-पृथक ढंग से अवश्य कहा जा सकता है, किन्तु एक जीववादियों की ओर से—यही वेदान्त के मुख्य पक्ष हैं—मुक्तिलाभ अभी हो गया है कहा नहीं जा सकता । कारण जिस दृष्टि से मूल में मात्र एक जीव है तदनुसार उसकी मुक्ति ही एक मात्र मुक्ति है । सर्वजीव की मुक्ति

उसी एक मुक्ति के अन्तर्गत है । इसीलिए किसी-किसी आचार्य ने कहा है कि प्रकृत मुक्ति या मोक्ष अभी तक नहीं हुआ है । पर जिस मुक्ति शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह ईश्वर सायुज्य को लक्ष्य करके किया जाता है ।

वैष्णव महाजनों ने दुःख-निवृत्ति से संतुष्ट न होकर परमानन्द का आस्वादन अपनी-अपनी साधना में लक्ष्य के रूप में निर्देश किया है । इस आनन्द का आस्वादन रसास्वादन के रूप में अनन्त प्रकार से नित्यधाम में होता है । जीव की योग्यता के अनुसार शुद्धा-भक्ति की महिमा में जीव इस लीलारस का आस्वादन करने में समर्थ होता है । भक्त-भगवान् इनके अनन्त प्रकार के सम्बन्ध हैं—आस्वादन के वैचित्र्य साधक, भगवान् और भक्ति के धाम का अनन्त वैचित्र्य, सभी रसास्वादन की अवस्था में संभव होते हैं । यही नित्यलीला के नाम से प्रसिद्ध है । जन्म-मृत्यु के स्रोतों के ऊर्ध्व, यहाँ तक कि निर्वाण और महानिर्वाण से भी अतीत आनन्दमय भगवत्-सत्ता में, ह्लादिनी शक्ति के प्रभाव से अनन्त प्रकार की लीला का आविर्भाव होता रहता है । नित्यलीला होने के कारण इसका कभी अवसान नहीं होता । भक्तजीव भक्ति के प्रभाव से इस आनन्द का नित्य विलास अनुभव करने में समर्थ होते हैं और उनकी कृपा से अधिकार और वासना के अनुरूप क्रमशः नित्यलीला में भाग लेने का अधिकार प्राप्त करते हैं । किन्तु ये लोग भी जगत् के दुःख को समूल नष्ट करने में समर्थ नहीं होते, कारण सभी नित्यलीला में प्रवेश करेंगे और काल के कब्जे से छुटकारा पायेंगे । कोई बाकी नहीं रहेगा, यह संभव नहीं है ।

जीव और जगत् का दुःख महाजनों के हृदय को हमेशा क्षुब्ध बनाये रखता है । किन्तु सभी के लिए सम्यक ढंग से इस दुःख की निवृत्ति करने का उपाय संभव नहीं होता। महाजनों में जिन लोगों में, जिस परिणाम में शुद्ध वासना का विकास रहता है, वे उसी परिणाम में दूसरों का दुःखमोचन करने में समर्थ होते हैं । जब उनकी वासना निवृत्त हो जाती है तब वे परामुक्ति प्राप्त करते हैं । बाद में फिर जीवोद्धार के मामले में उनका प्रत्यक्ष कोई संबंध नहीं रहता । उनका कोई सहधर्मी उस अवस्था में प्रतिष्ठित होकर उक्त महाकार्य का सम्पादन करते हैं । जब उनका भी अधिकार निवृत्त हो जाता है तब वे परवैराग्य प्राप्त कर जगत् व्यापार से हट जाते हैं । विभिन्न धाराओं में, विभिन्न प्रकार से, विभिन्न परिमाण समय के लिए यह जीवोद्धार व्यापार नियमित भाव से चल रहा है । किसने किस मार्ग या किस पद्धति का क्रम अवलम्बन कर या न कर, कितने जीवों का, कितने परिमाण में उद्धार किया, यहाँ उसकी चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है । चाहे जिसने उद्धार किया हो और जिस तरह किया हो, वास्तव में यह गुरु का काम है । वे निमित्त मात्र हैं । फलतः यह समझना चाहिए कि गुरु अपना कार्य अलस रूप में निरन्तर करते जा रहे हैं ।

सृष्टि के प्रारंभकाल से जीवोद्धार का यह कार्य गुरु मण्डल द्वारा अविश्रान्त रूप से संपादित होने पर भी अभी तक जीव और जगत् दुःख के पंक से उद्धार पा गये हैं, कहा नहीं जा सकता । अभी तक दुःख की मात्रा एवं दुःखी जीवों की संख्या पूर्वापेक्षा कम नहीं हुई है । यों कहा जा सकता है कि संख्या बढ़ गयी है । इसका कारण यह है कि लोकक्षयकारी काल का प्रभाव पूर्वपेक्षा क्रमशः अधिक

हो गया है । सर्वजगत् एवं जीवों का दुःख दूर करने के लिए केवल शाखा-संस्कार करने से काम नहीं चलेगा । मूल-संस्कार करना अनिवार्य है । मूल-संस्कार माने काल की निवृत्ति । मतलब, जिस काल के अधीन होकर जीव अभाव और यंत्रणा अनुभव कर रहा है, उस काल को निवृत्त या आयत्त न कर पाने पर केवल व्यष्टि रूप से जीव की रक्षा करने का प्रयत्न करने पर भी जीव मात्र की सुरक्षा सिद्ध नहीं हो सकती । गुरु स्वकार्य पूर्ण रूप से तभी करने में समर्थ होंगे जब काल आबद्ध होगा और उनके मार्ग में रोड़ा नहीं अटका सकेगा ।

यह कब संभव हो सकता है ? इसका उत्तर यों है कि जब भी हो क्यों न, यह संभव है । जिस दृष्टि से काल की एवं कालजनित सृष्टि का आदि है, उसी दृष्टि से काल का निरोध और तज्ञनित सृष्टि का निरोध अवश्य है । सभी अपने भोगकाल तक वर्तमान रहते हैं । इसी प्रकार काल भी शासनकाल या अधिकारकाल समाप्त होने पर वह स्वभावतः निवृत्त्युन्मुख होगा । उसका प्रबल प्रताप क्षय प्राप्त करेंगा । उसी समय काल को निवृत्त कर उसे आयत्त करने का समय आता है । गोकि यह गुरु का कार्य है । काल का जिस प्रकार शासनकाल है, उसी प्रकार गुरु का भी शासनकाल है । काल के शासनकाल में गुरु को एक हिसाब से काल के अधीन अर्थात् उसकी नीति के अनुसार अपना कार्य संपादन करना पड़ता है । काल का लंघन करना, उपेक्षा करना या कालजनित नियमों का अनादर करना, काल के राज्य में संभव नहीं है । कारण ऐसा करने पर गुरु के स्वकार्य में व्यतिक्रम हो जाता है । उसी प्रकार गुरु के शासनकाल में काल का प्रकोप जरूर नहीं रहेगा, किन्तु तदायत्त रूप से काल अपना काम अवश्य करेगा । अर्थात् गुरु की इच्छानुसार काल को चलना पड़ेगा ।

मगर यह कब संभव होगा ? गुरुराज्य स्थापना के पहले अर्थात् अखण्ड गुरु जगत् में प्रकट होने के पहले यह संभव नहीं है । इसके बाद यह संभव ही नहीं, बल्कि अवश्यंभावी है । जगत् के सभी जीव गुरुराज्य की स्थापना के बाद क्रमशः तृप्ति, पूर्णता एवं परमानन्द प्राप्त कर गुरु के साथ तादात्म्य प्राप्त करेंगे । उस समय एक अखण्ड गुरु अखण्ड खण्डवत् विभक्त सत्ता स्वकाया धारण कर सभी के साथ अभिन्न रूप में प्रतिभासमान होंगे । उस समय प्रत्येक अपने में पूर्णता प्राप्त कर पूर्णता की उपलब्धि प्राप्त करेगा एवं अनन्त वैचित्र्य एक और अखण्ड निज सत्ता का, आनन्दमय अनन्त विलास रूप में अनुभव करेगा । उसी समय गुरु का महनीय व्रत उद्यापन होगा । जगत् में एक अंधकाराच्छन्न क्षुद्र घर के कोने में, एक क्षुद्र प्राणी भी जबतक क्लेश, ताप और अभाव का अनुभव करेगा तबतक इस महावस्था का उदय हुआ है, कहा नहीं जायगा ।

प्रेम

सूफी-साधना में प्रेम का स्थान बहुत ऊँचा है । वैष्णव-साधना में भी यही बात है । सहजिया और बाउल-साधना में भी इसी प्रकार है । मगर आस्वादन में सूक्ष्म भेद है । नरदेह के बिना प्रेम का पूर्ण आस्वादन पाया नहीं जा सकता—इसीलिए

भगवान् भी प्रेम के लिए ऐश्वर्य को छोड़कर नरदेह ग्रहण करते हैं, बंगाल के वैष्णव-प्रेमिक इसे समझते थे । इसीलिए वे ऐश्वर्य से अधिक माधुर्य को महत्व देते थे । ऐश्वर्य का प्रेम, हिस्सेदारी का प्रेम है । माधुर्य के प्रेम में किसी की हिस्सेदारी नहीं होती—अखण्ड अपनी वस्तु है । नरलीला के बिना यह नहीं होता । सूफियों को इतना बड़ा आस्वादन नहीं मिला है । वे लोग मनुष्य को प्यार करते थे, प्रेम के प्रतीक के रूप में अर्थात् मनुष्य से प्रेम करने के बाद उसी प्रेम को भगवान् के प्रति अर्पण कर देते थे । नर रूप में प्रेम भगवत् प्रेम का द्वार मात्र है । सूफी-प्रेम की ऐसी महिमा नहीं है कि उसके आस्वादन के लिए भगवान् नर-रूप में प्रकट हों । मनुष्य ही प्रेम की ताकत से उन्नीत होकर भगवत्ता प्राप्त करता है । भगवान् को उतारकर मनुष्य प्रेम कर नहीं सकता । एक बात और—काम और प्रेम का क्या रिश्ता है ? प्रेम ही प्यार है—काम प्यार नहीं है । काम के लक्षण क्या हैं ? राधाकृष्ण का प्रेम काम गंधहीन था—इसका क्या अर्थ है ? सूफीप्रेम भी वैसा ही है । क्या दैहिक-संबंध काम है ? जी नहीं । राधाप्रेम और सूफी-प्रेम—दोनों का देह संबंध था । तब काम क्या है ? "आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा" । ख्रिष्टीय Mystic में जो Christ का दर्शन कर पाते थे, वे उनके अंग स्पर्श कर पाते थे जबकि उसमें काम नहीं था, बल्कि काम निवृत्त होता था ।

भक्त भगवान् के चरणों में स्थान पाता है । भगवान् उसे दिल में रखते हैं । बाद में उसके अंगों को अंग-दान करते हैं, बाद में दोनों मिलकर एक शरीर हो जाते हैं । जो जन जबकि शरीर एक है । दूसरी ओर ऐसा भी होता है कि दो शरीर— एक आत्मा । बाद में दोनों मिल जाते हैं— दो शरीर मिल जाते हैं ।

संभोगकाय

संभोगकाय आनन्दमय है—यह पुण्य संभार का ही फलस्वरूप है । धर्मकाय ज्ञान-संभार से अभिव्यक्त होता है । पुण्य-संभार और ज्ञान-संभार पूर्ण न होने तक बुद्धत्व प्राकट्य नहीं हो सकता । ह्लादिनी-शक्ति के प्रभाव से जिस प्रकार वैष्णवाचार्य-सम्मत आनन्दतत्त्व अपने को स्वयं आस्वादन करते हैं और दूसरों को अधिकारानुसार कराते हैं, संभोगकाय की कल्पना कुछ हद्द तक इसी प्रकार की है । इसे सभी देख नहीं पाते । जिसका पुनर्जन्म (Regeneration) नहीं हुआ है, उसके लिए यह अदृश्य है, किन्तु वास्तव में अदृश्य नहीं है जबकि "लोकोत्तर" जरूर है । बोधिसत्त्व गण इसी का दर्शन प्राप्त करते हैं । सुखावती में जो अमिताभ स्वरूप हैं, वह भी एक हिसाब से बुद्ध की संभोगकाय के रूप में परिगणत होती है । आनन्द और करुणा उसकी विशिष्टता है । एक हिसाब से वह नित्य है, कारण उसकी मृत्यु नहीं होती । दूसरे हिसाब से वह अनित्य है, कारण धर्मकाय में प्रवेश करते समय उसका संकोच होता है । अर्थात् वह सिकुड़ जाता है । धर्मकाय वास्तव में परमार्थ सत्य है । वह अनित्य से अतीत और नित्य से भी अतीत है । धर्मकाय विशुद्ध विज्ञानस्वरूप है जिसमें वासना का स्पर्श मात्र नहीं है । अगर

संभोगकाय में क्लेश न रहे तो क्लेश-हीन वासना रह सकती है । क्लेश न रहने के कारण वह लोकोत्तर है, किन्तु शुद्ध वासना रहने के कारण वह आनन्दरूप है । त्रिकाय स्तर में तीनों कायों का वैशिष्ट्य दिखाया गया है । द्वैत आगमों में जिस प्रकार विशुद्ध अध्वा में अधिकार-अवसर, भोगावसर और लयावसर है, उसी प्रकार बौद्ध आगमों में निर्माण, संभोग और धर्मकाय का स्थान है । वास्तव में जो तत्त्वातीत हैं, उन्हीं का ही शुद्ध तत्त्वरूप काया है । यह सब काया बुद्ध और अबुद्ध के नहीं हैं । कोई-कोई स्वभावकाय नामक धर्मकाया से अतीत एक काया को स्वीकार करते हैं । षोड़शी और सप्तदशी की कला की आवश्यकता के अनुरूप इस स्वभावकाया के स्वीकार की युक्ति है । Resurrection Body (देह का पुनर्जीवन) कुछ हद तक संभोगकाय के अनुरूप है । यह माया का देह या सिद्ध देह है । मगर चिन्मय देह या ज्ञान देह नहीं है । उक्त सिद्ध देह के द्वारा जगत् के सभी मंगल कार्य किये जाते हैं । पंचभूत, देश और काल उसे बाधा नहीं दे पाते । शुद्ध होने के कारण वह अमर देह है—जरा-मरण वर्जित देह है, किन्तु उसमें माया है, इसीलिए उसके द्वारा जगत् का व्यवहार होता है । संभोगकाय भी लगभग इसी प्रकार का है । सिद्ध-देह भी स्वरूपतः साधारण लोगों के निकट अदृश्य है । मगर काम करने के समय वह निर्माण के रूप में आत्मप्रकाश करता है । जिस शक्ति के जरिये यह होता है, वह बुद्ध का कौशल है । वैष्णवाचार्य कहेंगे—"योगमाया ।" Ascension का व्यापार दिव्यदेह का व्यापार है । Glory—यह परमुक्त देह है (सिद्ध-देह जीवन्मुक्त देह है) या चिन्मय या ज्ञानदेह है । बौद्धसम्मत धर्मकाय के साथ उसका कुछ सादृश्य है । धर्मकाय विकल्प से अतीत है । सभी बुद्धों की धर्मकाय एक ही है । संभोगकायादि के बारे में वैचित्र्य है । धर्मकाय में मानो सब Radius समूह Meet करते हैं ।

सात प्रश्नों के उत्तर

सात प्रश्नों के उत्तर संक्षेप में यों हैं—

१. शिवत्व और विदेह कैवल्य अलग-अलग हैं । कैवल्य में आणवमल रहता है, बोध शुद्ध रहता है, शक्ति स्फुरणहीन । निष्क्रिय ज्ञान की अवस्था । शिवत्व की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति में भेद नहीं रहता । शिव में भी शक्ति का भेद नहीं रहता । पर शिव और परमशिव ठीक एक नहीं हैं । द्वैत मत से जीव शिवत्व प्राप्त नहीं कर पाता— वह परमशिव नहीं होता । अद्वैत मत से यह हो सकता है । वैष्णव मत से जीवस्वरूप = अणु । इसीलिए मुक्ति में अप्राकृत देह के रहते जीव विभुस्वरूप भगवान् का आश्रित है । आगम मत से अणुत्व जीव का प्रकृत स्वरूप नहीं है—एक मल या आवरण······ है । शिवत्व ही उसका प्रकृत स्वरूप है, वह मलहीन और संकोचहीन है ।

२. श्री रामठाकुर और श्री विजयकृष्ण गोस्वामी प्रभु तत्त्वदर्शी महापुरुष थे । जीवस्वरूप में भगवद्‌भिन्न है—इसे वे जानते थे । पर अभिन्न वस्तु लीलास्थल में आश्रय और आश्रित रूप में आत्मप्रकाश कर सकता है । परम अनुभूति में वैष्णव या तांत्रिक नाम नहीं चलता ।

३. चैतन्य ने जो कहा है, वह सत्य है । जीव के जीव भावाश्रित चुड़ान्तस्वरूप में अणुत्व रहेगा ही । इसलिए प्रत्येक जीव शिव होने पर भी प्रत्येक जीव ही जीव के हिसाब से अणु है । इसमें भूल नहीं है ।

४. शंकरवेदान्त में निर्गुण ब्रह्म सत्य है और सगुण ब्रह्म भी सत्य है । जीव और ईश्वर दोनों का स्वरूप वही निर्गुण ब्रह्म है । व्यवहार-भूमि में जीव-ईश्वर में भेद है, किन्तु स्वरूप में भेद नहीं है । इसलिए स्वरूप में जीव ईश्वर एक ही हैं । व्यवहार की दृष्टि से दोनों में पार्थक्य है । यह दूर नहीं होता । स्वरूप में एक होने पर भी लीला की ओर से नानात्व स्वीकार किया जाता है । पर……… लीला का क्षेत्र अतिक्रान्त हो जाता है । वैष्णव मत से परम वस्तु नित्य सगुण है । निर्गुण सत्ता उसी की अंग ज्योति या आभा है । पर यह सगुण ब्रह्म शंकर का सगुण ब्रह्म नहीं है । यह मायातीत, महामाया का अतीत, कैवल्यपद का अतीत है । कबीर के मत से यह निर्गुण-सगुण की परावस्था है । मगर जीवस्वरूप इस परम पुरुष के स्वरूप का अविच्छिन्न अंश है । जीव आत्मविस्मृत है, इसलिए वह इसे भूल गया है । विस्मृत का कारण धामरूप ब्रह्मज्योति का प्रभाव है, अद्वैत आगम में सगुण-निर्गुण का सामरस्य=पूर्णत्व है । जीव का स्वरूप इससे भिन्न नहीं होता ।

५. व्यक्तिगत आलोचना अनावश्यक है । पर तुम अगर उन्हें ग्रहण कर सको तो वे तुम्हारे निकट उसी रूप में प्रकाशित होंगे—इसमें असंभव कुछ भी नहीं है ।

६. सभी देवताओं के चिन्मय नित्यस्वरूप हैं, वह अद्वय परम-चैतन्य का ही एक रूप है । जो अरूप हैं, वे नित्य ही अनन्त-रूप धारण किये हुए हैं । कोई रूप धारण नहीं करना पड़ता, पर विसर्ग-शक्ति के द्वारा जब जो रूप विच्छिन्नवत् कर भक्त के निकट प्रकाशित करते हैं, उस वक्त कहा जाता है कि उस रूप को धारण किया है । वास्तव में बिना उनका आश्रय लिए कोई रूप रह नहीं सकता । यह सत्य है कि वे दर्शन देते हैं । दूसरी ओर वे दर्शन नहीं भी देते हैं, जीव दर्शन अपने आप पाता है—यह भी सत्य है । भाव में अन्तर है । दुर्गा-काली की तरह गायत्री का भी नित्यरूप है ।

७. देव-देवी इष्ट हो सकते हैं, पर गुरु का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते । गुरु का जो करणीय है, वह इष्ट-देवता के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता । इष्ट और गुरु एक होने पर भी इष्ट गुरु के अधीन हैं—गुरु इष्ट के अधीन नहीं हैं । गुरु कृपा के बल पर सब कुछ कर सकते हैं, किन्तु कृपाशून्य का जो प्राप्य है, उसे नहीं दे सकते । जिस प्रकार कृपा सत्य है, उसी प्रकार पौरुष तदपेक्षा कम सत्य नहीं है । चरम में महाकृपा और महापौरुष एक ही वस्तु है । बहुत दिनों तक

कुछ अनुभव न होने पर भी एक क्षण में सभी परदे खुल सकते हैं । कोई महापुरुष किसी को दर्शन देकर उसमें आमूल परिवर्तन नहीं कर सकता । मगर किसी विशिष्ट मार्ग पर मनुष्य की जीवनधारा को बढ़ा सकता है । यह कम महत्व की बात नहीं है । आज तक किसी ने पूर्णत्व प्राप्त नहीं किया है । उस सत्य नियति का क्रम लक्ष्य करना सभी समय संभव नहीं होता ।

योगी की परीक्षा

योगी की परीक्षा के बारे में एक सज्ञन ने प्रश्न किया है । संक्षेप में दो-चार बातें बताने की इच्छा है । पहला आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर से योगी शब्द का अर्थ विभिन्न प्रकार से हो सकता है । उसमें से मैं दो दृष्टियों की चर्चा करूँगा । एक पातंजल दृष्टि के अनुसार और दूसरा शाक्त अद्वैत दृष्टि के अनुसार । इसके अलावा परीक्षा का मतलब स्थूल दृष्टि से बाह्य परीक्षा के नाम से परिचित है, उसकी आलोचना नहीं कर रहा हूँ । यह भीतर की परीक्षा है, अपने निकट अपनी परीक्षा । पातंजल योग का लक्ष्य है—समाधि मार्ग का अवलम्बन कर चित्त की एकाग्रता सम्पादन पूर्वक, चित्तवृत्ति को सम्यक् निरुद्ध करने के बाद प्रकृति के स्तर से विवेकख्याति के द्वारा केवल चिदात्मक रूप में स्वरूप स्थिति प्राप्त करना । ज्ञान के एकाग्र न होने से प्रज्ञा रूप धारण नहीं करती । बाह्यभूमि से क्रमशः भीतर प्रवेश न कर पाने पर प्रज्ञा भी सम्यक् प्रज्ञा रूप में परिणत नहीं हो पाती । कारण सम्यक् प्रज्ञा न होने पर चित् और अचित् का अविविक्त संमिश्रण से मुक्त होकर, सम्यक् प्रज्ञा ख्याति रूप में परिणत नहीं होती, आत्मसाक्षात्कार के बाद यह विशुद्ध ख्याति भी अगर निरुद्ध नहीं हुई तो आत्मस्वरूप चितिशक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होती । सबसे पहले लौकिक वृत्तिज्ञान से प्रज्ञारूपी समाधिज्ञान के लिए प्रयत्न करना पड़ता है । यही प्रज्ञा एकाग्र भूमि में अधिगत एवं क्रमशः अन्तर्मुख होते हुए विशुद्ध अस्मिता प्रज्ञारूप में परिणत होती है । यही है ऐश्वरिक प्रज्ञा, किन्तु यह विशुद्ध ज्ञान नहीं है । अगर यह विशुद्ध होता तो चित्त ऐश्वर्य की ओर अग्रसर न होकर विवेक की ओर अग्रसर होने को बाध्य होता । अस्मिता-प्रज्ञा में चिदंश और अचिदंश अविविक्त रूप में मिश्रित है । इस अवस्था में भोग वितृष्णा रहने पर भी गुण-वितृष्णा नहीं रहती । इसीलिए परवैराग्य का आविर्भाव इस अवस्था में संभव नहीं है । तदनुसार कैवल्य पथ पर गति नहीं होने के कारण ऐश्वर्य की ओर प्रवृत्ति विद्यमान रहती है । इस अवस्था में देह त्याग होने पर कार्य-ईश्वररूप में प्रतिष्ठा प्राप्ति की संभावना रहती है । यह किसी न किसी ब्रह्माण्ड में अधिष्ठातृ रूप में स्थिति है । इसमें भी स्तरगत भेद है, यहाँ उसकी चर्चा अनावश्यक है । जो आत्मा विशुद्ध ज्ञान का प्रार्थी है, वह इस मार्ग की ओर न जाकर विवेक के मार्ग की ओर अग्रसर होता है, इसके फलस्वरूप वह गुण-वितृष्णा रूप परवैराग्य प्राप्त करता है । इस परवैराग्य के फलस्वरूप प्रकृति के आलिंगन से मुक्त होकर विशुद्ध द्रष्टा के रूप में आत्मा को स्वरूप स्थिति प्राप्त होती है ।

अस्मिता-समाधि तक आयत्त होने पर योगी की क्रमिक चार स्थितियों में से प्रथम स्थिति प्राप्त होती है । इस अवस्था में ज्योति आयत्त रहती है और शक्ति का विकास भी एक हद तक अधिगत हो जाता है । फलस्वरूप एक ऐसी अवस्था का आविर्भाव होता है जिसे एक हिसाब से ग्रंथि कहना अत्युक्ति न होगी । इस अवस्था की प्राप्ति अव्यवहित होने के बाद योगी के जीवन में एक संकटमय स्थिति उदय होती है । इस अवस्था को सम्प्रदायविद लोग प्रथम कल्पिक नाम से अभिहित करते हैं । कारण ज्योति को योगी ने आयत्त किया है, यह सत्य है और यह ज्योति प्रज्ञा ज्योति है यह भी सत्य है, किन्तु यह निर्मल न होने के कारण निश्चिन्त अवस्था की प्राप्ति इससे नहीं होती । कारण विश्व में जितनी दिव्य शक्तियाँ या पुरुष हैं, वे सब उस दिव्य ज्योति के प्रति आकृष्ट होकर योगी के निकट समागत होते हैं और उसे नाना प्रकार की शक्तियों का प्रलोभन देकर मोहित करने का प्रयत्न करते हैं । निम्नस्तर के योगियों के लिए यह संभावना नहीं रहती, क्योंकि उनकी ज्योति निर्मल नहीं होती । यह ज्योति निर्मल होने पर भी उसमें किंचित मल रह जाता है जिसके कारण यह परिस्थिति आ जाती है । जो लोग विवेक-मार्ग से प्रस्थान करते हैं, उनमें मलिनता नहीं रहती । चित् और अचित् ग्रंथि यह मलिनता से उत्पन्न होती है । जिन लोगों का ग्रंथि-भेद हो गया है या जो लोग ग्रंथि-भेद की ओर अग्रसर हो रहे हैं, उनके लिए यह आशंका नहीं है । ग्रंथि-भेद नहीं हुआ है, पर योगशक्ति का कुछ स्फुरण हुआ है, ऐसी अवस्था को पातंजल-योग ने मधुमती भूमि कहा है । सम्प्रज्ञात योग की चरम अवस्था तक उन्नीत होने पर भी योगी के पतन की संभावना रहती है । ऐसी स्थिति में योगी का चित्त आपेक्षिक भाव से निर्मल होने पर भी दो प्रकार के मल रह जाते हैं, इनमें एक का नाम आसक्ति और दूसरे का नाम अहंकार है । सुतरां यह समझ लेना चाहिए कि आसक्ति वर्जित होकर निरहंकार बिना हुए कैवल्य पथ पर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता । जो लोग विवेक मार्ग पर अग्रसर हो गये हैं, वे इन दोनों प्रकार के मलों से मुक्त हो गये हैं ।

यह स्थिति योगी का परीक्षा-स्थल है । इस स्थिति में योगी की तरह-तरह की विभूति उदय होने पर भी उसका कोई मूल्य नहीं है । जो लोग इस परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं अर्थात् आसक्ति और अहंकार से अपने को मुक्त रख सकते हैं, उनके लिए पूर्वोक्त ज्योति मलिनता को त्यागकर निर्मल भाव धारण कर लेती है । तब यह निर्मल ज्योति योगी के अध्यात्म-मार्ग में परम अस्त्र बन जाती है । पहले योगी को विभूति प्राप्त जरूर हुई थी, किन्तु वह कल्पित-शक्ति थी, अपनी शक्ति नहीं, उन विभूतियों को प्राप्त करने के लिए योगी को संयम का अभ्यास करना पड़ा था । एक ही विषय का अवलम्बन कर योगी की धारणा, ध्यान और समाधि का अवलम्बन करने का नाम है—संयम । आलम्बन भेद के अनुसार यह संयम नाना प्रकार के हैं । योग विभूति इसका कृत्रिम अवलम्बन है । संयम के बिना विभूति प्रकट नहीं होती । इसका एकमात्र कारण यह है कि पूर्वोक्त ज्योति निर्मल नहीं हैं । किन्तु ज्योति निर्मल हो जाने के बाद संयम की आवश्यकता नहीं होती । ज्योति की निर्मलता के साथ-साथ उसे देह और इन्द्रिय सत्ता में प्रयोग करना पड़ता है । इस वजह से भौतिक देह के उपादान शुद्ध हो जाते हैं, साथ ही इन्द्रियों के उपादान

शुद्ध होते हैं । यही फिजिकल ट्रांसफारमेशन का यथार्थ स्वरूप है । समग्र चित्त उस समय विशुद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके पूर्व इन्द्रियाँ इस प्रकार विशुद्ध नहीं हुई थीं, कारण योगी की अस्मिता भूमि से प्राप्त ज्योति सम्यक् निर्मल नहीं थी । निर्मल न रहने के कारण उसके साथ आसक्ति और अहंकार मिला हुआ था । इस समय वह ज्योति इतनी निर्मल हो गयी है कि उसमें आसक्ति और अहंकार रंच मात्र नहीं है । यही योगी की तृतीय अवस्था है । इस अवस्था में भूतेन्द्रिय शुद्ध होने पर विभिन्न प्रकार की शक्ति का स्फुरण होता है । यह अपने आप संघटित होता है । इसके लिए संयम की आवश्यकता नहीं है । इसी शुद्ध आधार में इच्छाशक्ति का उदय होता है एवं योगी के इच्छानुसार कार्य सिद्ध हो जाता है । संयम के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती और न देहेन्द्रियों का सहारा लेना पड़ता है । यही है इच्छाशक्ति के उदय का इतिहास । इस इच्छाशक्ति के राज्य में प्रवेश करने पर भी उसका एक क्रम विकास है । शुक्ल पक्ष के चाँद का जिस प्रकार क्रमिक विकास होता है, उसी प्रकार इच्छाशक्ति का क्रमिक विकास होता है । जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन चन्द्र की समस्त कलाएँ पूर्ण हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार इच्छाशक्ति का भी क्रमविकास की एक स्थिति है । यही पूर्णता की स्थिति है । इसके बाद इच्छा का उदय क्रमशः क्षीण होता जाता है । चरम अवस्था में इच्छा बिल्कुल नहीं रहती । यह स्थिति आत्मा की स्वरूपस्थिति का रूप है, कैवल्य में प्रवेश की पूर्ववर्ती अवस्था । जितने दिनों तक देह-सम्बन्ध रहता है और कैवल्य का उदय नहीं होता, उतने दिनों तक महाइच्छा के द्वारा सभी कार्य निर्वाहित होते हैं । जिस प्रकार शिशु की इच्छा न होने पर भी मां की इच्छा से उसके सभी कार्य हो जाते हैं, उसी प्रकार योगी की इच्छा न करने पर भी महाइच्छा द्वारा उसके सभी कार्य हो जाते हैं । जितने दिनों तक देह रहेगा, उतने दिनों तक यह अवस्था रहेगी । इसके बाद कैवल्य । उस समय महाइच्छा का कोई प्रश्न नहीं रहता ।

यह है ऐश्वर्य के भीतर से कैवल्य में प्रवेश का मार्ग । जो लोग ऐश्वर्य का अवलम्बन न करके पहले ही विवेक और परवैराग्य के मार्ग में चले जाते हैं, उनका विवरण प्रसिद्ध है ।

यह रही पातंजल योगी-सम्प्रदाय की परीक्षा की बात और परीक्षा में उत्तीर्ण होने का इतिहास । अब अद्वैत शाक्त सम्प्रदाय के बारे में कहूँगा ।

अद्वैत दृष्टि की भी अनेक दिशाएँ हैं । किन्तु मैं विशेष रूप से कौल-सिद्धान्त के बारे में चर्चा करूँगा ।

शिवाद्वैत के प्रकार भेद हैं और शाक्ताद्वैत के भी हैं । दोनों के सिद्धान्तों में साम्य रहने के बावजूद कहीं-कहीं वैलक्षण्य उपलब्ध होता है, इसे स्मरण रखना चाहिए । परमेश्वर के स्वातंत्र्यमूलक आत्मसंकोच के कारण जीवभाव या पशुभाव आविर्भूत होता है । यह तिरोधान शक्ति का फल है । यही तिरोधान-शक्ति ही स्वातंत्र्य-शक्ति का एक क्षेत्र है जो पूर्ण-सत्ता में विद्यमान है । जागतिक-दृष्टि से

तिरोधान-शक्ति का कार्य अनादिकाल के साथ संश्लिष्ट है । जीव अथवा पशु इस दृष्टि के अनुसार अनादिकाल से संकुचित अवस्था में संसारचक्र में भ्रमण कर रहे हैं । कर्म-प्रभाव से ऊर्ध्वगति या अधोगति होने पर भी माया और महामाया का आवरण एक ही प्रकार का रह गया है । कारण मूलगत संकोच अनादिसिद्ध है । कौलों का कहना है, अकूल नामक बोध-समुद्र जब किसी पर अनुग्रह करने के लिए तरंगित हो उठता है तब उसकी यही तरंगें पशु जीवन में परिवर्तन के साधन के मूलसूत्र बनती हैं । कौलगण इन तरंगों को ऊर्मि नाम से प्रयोग करते हैं । जीव जब से प्रकट हुआ है तभी से वह काल के अधीन है । परमेश्वर में अथवा महा-प्रकाश स्वरूप में आवरण अथवा निमीलन एवं आवरण मोचन अथवा उन्मीलन की लीला स्वभाव सिद्ध है । निमीलन अवस्था में जीव या पशु काल के अधीन रहते हैं एवं उन्मीलन अवस्था गुरुकृपा सापेक्ष है । एक अखण्ड सत्ता ने कालरूप में जीव को अपने अधीन कर रखा है । काल के प्रभाव के समय महामाया, माया, प्रकृति एवं पंचभूतों की लीला चलती रहेगी । यह सब आवरण के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के व्यापार हैं । अनुग्रह-शक्ति गुरु-शक्ति के रूप में उन्मीलन के कार्य करती रहती हैं । अकूल नामक बोध-समुद्र की ऊर्मि जब अनुग्रह के पात्र या लक्ष्य जीव पर पतित होता है तब उक्त जीव के जीवन में मौलिक परिवर्तन की सूचना आरंभ होती है । जिसके कारण जीव क्रमशः जीवभाव से मुक्त होकर पूर्ण की ओर अग्रसर होने में समर्थ होता है ।

यहाँ स्मरण रखना होगा कि शुद्ध विद्या की यह लीला अकूल का आदि स्पन्दन रूप है । जीव अनादिकाल से अज्ञानमूलक विकल्प दृष्टि का सहायक है । जब अनुग्रहात्मक चिदूर्मि पूर्ववर्णित उक्त विकल्प दृष्टि को आघात करता है तभी से जीवसत्ता के भीतर आमूल परिवर्तन की सूचना होती है । अभी जिस ऊर्मि के बारे में कहा गया, यह चित्शक्ति के विकास के अलावा दूसरा कुछ नहीं है । यही उन्मेषित चित्शक्ति सर्वप्रथम काल को ग्रास करने के लिए तैयार हो जाती है । इसका स्वभाव है—काल को ग्रास करना । जीव काल के अधीन रहते हुए विकल्प राज्य में संचरण करता रहता है । सुतरां जिस कारण से कालग्रास सम्पन्न होता है, उसके प्रभाव से जीव की दृष्टि से विकल्प जाल का अपसारण अवश्य होगा । यह जो विकल्प जाल की निवृत्ति है, इसे पूर्ण होने में समय लगता है और क्रम के अनुसार धीरे-धीरे यह निवृत्ति संघटित होती है । शुद्ध विद्यारूपा चित्शक्ति का पहला कार्य है मल को शोधित करना । इस शोधन के कार्य में एक-एक कर प्रति स्तर शोधित होता है । प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इस त्रिपुटी में जीव आबद्ध है । इनमें प्रमाता अन्तरतम, प्रमाण मध्यवर्ती एवं प्रमेय बाह्य है । बाहर से भीतर की ओर क्रमशः यह शोधन कार्य होता रहता है । इससे समझ में आता है कि सर्वप्रथम प्रमेय शुद्धि का कार्य संघटित होता है । जिसके कारण जीवात्मा का अध्यात्म मार्ग विमल आलोक से आलोकित हो जाता है । भगवान् शंकराचार्य ने गुरुकृपालब्ध इस प्राथमिक शुद्धि को देखकर कहा था— "विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं मायया बहिरिव उद्‌भूतम् ।"

गुरु की कृपादृष्टि के संचार के फलस्वरूप यह भाव उन्मीलित होता है अर्थात् प्रमेय-शुद्धि का फल स्पष्ट रूप से समझ में आता है कि विश्व द्रष्टा से बाह्यरूप में प्रतीत होने पर भी वास्तव में बाह्य नहीं है । द्रष्टा माया के अधीन होने के कारण अर्थात् देहात्मबोध में स्थित होने से अपने अन्तर्गत विश्व को बाह्यरूप में अनुभव करता है । वास्तव में उसके बाहर बाह्य के रूप में कुछ भी नहीं है । यही है माया की लीला । प्रमेय-शुद्धि माया निवृत्ति का प्रथम कार्य है । जीव मात्र देहात्मभाव सम्पन्न है । देवता, दानव, मनुष्य, पशुपक्षी आदि सर्वत्र ही यह देहात्मभाव विद्यमान है । जब सद्गुरु की कृपा से यह देहात्मभाव दूर होना प्रारम्भ होता है तब पहले यह समझ में आता है कि विश्व उसके बाहर नहीं है, उसी के भीतर है । विश्व देह के बाहर होने पर भी आत्मा के बाहर है, यह नहीं कहा जा सकता । गुरुकृपा से जब माया क्षीण होने लगती है तब सर्वप्रथम देखने तथा समझने में आता है कि यह दृश्य-प्रपंच कुछ भी उसके बाहर नहीं है । चित्शक्ति कुण्डलिनी के रूप में जबतक निद्रित थी, उतने दिनों तक देहात्मबोध था और बाह्यजगत् की सत्ता सत्य रूप में अनुभूत होती थी । किन्तु चित्शक्ति जाग्रत होने पर इस भाव में परिवर्तन हो जाता है । उस समय चित्शक्ति बहिर्मुख इस तथाकथित बाह्य सत्ता को आकर्षित कर भीतर ले आती है । विश्व विसर्ग शक्ति के द्वारा बाह्य पदार्थ के रूप में स्थापित हुआ था । अब विन्दु-शक्ति के प्रभाव से अर्थात् जाग्रत कुण्डलिनी के अन्तराकर्षण शक्ति के प्रभाव से यह आत्मा के भीतर समानीत होता है अर्थात् विश्व जो कि आत्मस्वरूप के अन्तर्गत एक आभास मात्र है, यह बात समझ में आ जाती है । इसका तात्पर्य यह है कि गुरुकृपा के साथ-साथ देहात्मबोध शिथिल होना आरंभ हो जाता है ।

इस अवस्था का विशेष रूप से प्रणिधान करने की आवश्यकता है । जिसे हम लोग इन्द्रिय-शक्ति कहते हैं, वह संवित्-शक्ति का अंश स्वरूप है । यही संवित् सद्गुरु से प्रसूत होकर कार्य करने लगता है । इन्द्रियों का काम है अपने-अपने विषय का भोग करना । इन्द्रियों के माध्यम से संवित्-शक्ति विषय का भोग करती है । उस वक्त यह विषय-भोगरूप ज्ञान रागरूप में परिणत होता है । इसके फलस्वरूप भोक्ता आत्मा की तृप्ति होती है । प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना विषय प्रपंच रूप में विस्तृत है । अज्ञान अवस्था में इन्द्रियों के द्वारा प्रस्तुत विषय-भोग सम्पन्न होता है । जो इन्द्रियाँ इन सब भोग का आस्वादन करती हैं, वे चित्शक्ति के प्रभाव से प्रभावित न होने के कारण विषय भोगरूप तृप्ति स्थायी रूप से आत्मा में संचित नहीं हो सकतीं । फलस्वरूप भोक्ता-आत्मा तृप्त होने के बदले अतृप्त रह जाती है, इसीलिए भोगकांक्षा निवृत्त नहीं होती । इसके कारण भोग की आकांक्षा बढ़ जाती है । शास्त्र में है—'न जातु कामः कामानामूपभोगेन शाम्यति' । इसका चरम परिणाम यह होता है कि चित्त निरन्तर विषय-भोग की ओर लोलुप रहता है। जब इन्द्रिय-शक्ति अर्थात् करणेश्वरी देवी गुरुकृपा के प्रभाव से संविद के द्वारा अनुप्राणित होती हैं तब पूर्वोक्त अवस्था में परिवर्तन होना प्रारंभ हो जाता है । संवित् विषय को ग्रहण करके तृप्ति प्राप्त करता है और इस तृप्ति के साथ-साथ

विषयभोग क्रिया समाप्त हो जाती है । भोग के बारे में जो बातें कही गयीं, यही श्रेष्ठ भोग है । संसारी जीव पशुभावापन्न होने के कारण इस प्रकार का भोग करने में समर्थ नहीं होता । कौलों का कहना है—वीर साधक के अलावा अन्य कोई भोग को राग रूप में परिणत नहीं कर सकता । वीर साधक वीर्य सम्पन्न हैं एवं यही वीर्य जाग्रत कुण्डलिनी अथवा उन्मेष प्राप्त चित्शक्ति से प्रभाव सम्पन्न होते हैं। यही वीर साधक का मुख्य अवलम्बन है । शिवसूत्र में कहा गया है— ''त्रितयभोक्ता वीरेशः ।'' अर्थात् जो श्रेष्ठ वीर हैं, वे ही तीनों को अर्थात् जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति का तुरीय आनन्द के रूप में भोग कर सकते हैं । पशु अर्थात् साधारण जीवों के लिए यह संभव नहीं है । साधारण जीव जाग्रत और स्वप्न का एक साथ भोग नहीं कर सकता । तीनों एक साथ करना दूर की बात है । किसी-किसी योगी ने जिसे Integration (युग्मन) कहा है, वह साधारण जीवों के पास नहीं है। इसीलिए खण्ड को अखण्ड रूप में देखने की क्षमता उनमें उत्पन्न नहीं होती । इन्द्रियों के द्वारा विषय-भोग—यही श्रेष्ठ उपासना है । उत्पलाचार्य ने कहा है—

तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं युष्मदर्चनरसायनासवम् ।
सर्वभावचषकेषु पूरितेषु आपिवन्नपि भवेयमुन्मदः ।।

भोग के बारे में जो बातें कही गयीं, यह वास्तव में भगवान् की अर्चना है । प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा श्री भगवान् के पूजारसायन रूप में जो आसव है, उसे भावरूप चषक या पात्र में पूर्ण रूप में भर लेने पर नशा या गहरी तन्मयता आविर्भूत होती है । आँखों के द्वारा रूप देखना वास्तव में आँखों के द्वारा रूप नामक भाव या चषक में पूजा का रस पान करना या तन्मय हो जाना है । कानों से शब्द सुनना, यह भी वही है । इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के लिए जो भोग है, वही उपासना है । जीव जब जिस अवस्था में रहे अर्थात् जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति सभी अवस्थाओं में यह होती है । यह सब भगवान् की पूजा है । यह दुर्बल के लिए संभव नहीं है । इसे जो संपादित कर पाता है, वह दुर्बल नहीं है, उसी को वीर कहा जाता है । भगवान् शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में कहा है—'यत्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ।' अर्थात् मैं कोई कर्म करूँ, वह सब भगवान् की आराधना है ।

इस प्रकार विषय भोग के पश्चात् अर्थात् भगवद् अर्चना से तृप्ति का उदय होता है तब अन्तर्मुख दशा प्रारंभ होती है, बहिर्मुख भाव फिर नहीं रहता । जब ग्राह्य-पदार्थ ग्रहण की स्थिति में परिवर्तन होता है तब करणेश्वरी देवियाँ अर्थात् इन्द्रिय-शक्ति सभी विषय-भोगी की क्रिया समाप्त होने के बाद तृप्ति प्राप्त कर अन्तर्मुख होती हैं । इस अवस्था का उदय होने पर करणेश्वरी वर्ग चिदाकाश रूपी भैरव के साथ आलिंगित होती हैं । अन्तर्मुख होने के बाद यही स्वाभाविक अवस्था है । इसे आलिंगन के फलस्वरूप करणेश्वरी देवी और चिदाकाश रूप भैरव अभिन्न हो जाते हैं । पहले प्रमेय प्रमाण के साथ एकत्व प्राप्त करते हैं, इसके बाद प्रमाण प्रमाता के साथ तादात्म्य प्राप्त करते हैं । आलिंगन के बाद जो अवस्था उदय होती है, वह एक विश्राम की अवस्था है । इसे शयन अवस्था भी कहा जा सकता है । अब प्रश्न हो सकता है कि सभी इन्द्रियशक्तियाँ चिदाकाश से आलिंगित क्यों नहीं

कर पातीं ? इसका उत्तर यह है कि साधारण अवस्था में इन्द्रियशक्तियाँ सभी विषयों के प्रति आकांक्षायुक्त रहती हैं । जबतक इन्द्रियाँ विषय-भोग की आकांक्षा करती हैं तबतक देह में ७२,००० नाड़ियों का कार्य चलता रहता है । उस स्थिति में भीतर और बाहर एक क्रिया चलती रहती है जो स्वरूपतः अन्तर्द्वादशान्त और बहिर्द्वादशान्त के भीतर की संचरण क्रिया है । इस क्रिया से अन्तर्मुख गति होती है जिसके फलस्वरूप भीतर के द्वादशान्त में प्रवेश होता है । ये दोनों संघट्टस्थान जब आपस में मिलकर संधिस्थान में उपस्थित होते हैं तभी आत्मा का परप्रमातृभाव खुल जाता है । यही वास्तविक आत्मसाक्षात्कार है । यह स्थिति किसी भी संधिस्थान में संघटित हो जायगी और होती रहती है । प्रमेय और प्रमाण की सन्धि में होती है और प्रमाण और प्रमाता की सन्धि में भी होती है ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इस अवस्था का स्वरूप क्या है अर्थात् यह स्थिति आने पर क्या होता है ? इसका उत्तर यह है कि उक्त संधिकाल में परासंवित् परिमित प्रमाता को अर्थात् जीव को निजीशक्ति के प्रभाव से अपने स्वरूप में मग्न करते हैं । मित प्रमाता जब अमित प्रमाता में मग्न हो जाती है तब दो अलौकिक समस्याएँ संघटित होती हैं । इन दोनों समस्याओं में प्राण और अपान का संघर्षपूर्ण क्षोभ निवृत्ति प्रथम कार्य है, अर्थात् इस समय श्वास-प्रश्वास की क्रिया नहीं रहती । श्वास-प्रश्वास की क्रिया प्राण और अपान के संघर्ष से जन्म लेती है । यह हुई एक ओर की बात । दूसरी ओर प्रमाण और प्रमेय का संघर्ष भी समाप्त होता है । यह है द्वितीय अवस्था । सुतरां यह तो शान्त और निर्विकल्पक अवस्था है, इसमें कोई संदेह नहीं । इस स्थिति में प्राण स्थिर रहता है । अध्यात्म-जगत् में चरणशील पथिकों के लिए यही है वास्तविक शिवरात्रि । इस समय चन्द्र आदि के साथ सूर्य भी अस्त हो जाते हैं । चन्द्र मन, सूर्य प्राण हैं, इसे याद रखना पड़ेगा । इस अवस्था को पार कर लेने पर एक विशिष्ट स्थिति उदय होती है । पहले जिस अवस्था के बारे में बताया गया, वह अति उच्च अवस्था होने पर भी चरम अवस्था नहीं है, इसे कहना न होगा । इस अवस्था को महाव्योम में प्रवेश के रूप में वर्णित किया गया है । हम लोग साधारण तौर पर जिस व्योम या आकाश को जानते हैं, उसमें चन्द्र-सूर्य का संचार होता है । महाव्योम में चन्द्र-सूर्य का संचार नहीं है । इसे आचार्यो ने 'प्रलीनशशिभास्करः' कहा है । चन्द्र मनःस्वरूप । चन्द्र का संचार न रहने का मतलब उस वक्त मन की क्रिया नहीं रहती । उस वक्त प्रमाण-प्रमेय भाव निवृत्त हो जाते हैं । सूर्य कहने का आशय है प्राणशक्ति । सूर्य न रहने का अर्थ है कि प्राण—अपान की क्रिया सम्यक निवृत्त हो गया है अर्थात् उस वक्त श्वास-प्रश्वास की लीला भी नहीं रहती । यही अवस्था वास्तव में काफी उच्चावस्था है किन्तु उच्चावस्था होने पर भी निरापद स्थान नहीं है । क्योंकि इस अवस्थां में सर्वदा जागते रहना पड़ता है अर्थात् प्रति क्षण ही स्वरूप-संधान की ओर सतर्क रहने की आवश्यकता है, कारण स्वरूप-संधान जाग्रत न रहने पर इस अवस्था से स्खलित होना अनिवार्य है । वास्तविक निरापद भूमि प्राप्त होने पर इस तरह सावधान नहीं रहना पड़ता । शिवसूत्र में 'उद्यमो भैरवः' कहा गया है, वह इस अवस्था को लक्ष्य करके कहा गया है । प्राचीन योगियों की परिभाषा के अनुसार इस अवस्था को अनाख्या कहा गया है । इस अनाख्या अवस्था में भी अनेक

स्तर हैं । इन सभी स्तरों को बिना पार किये निरापद भूमि प्राप्त न होने तक निश्चिन्तता प्राप्त नहीं होती । अतएव यह समझ लेना चाहिए कि चिदाकाश तक साक्षात्कार कर लेने पर सब कुछ नहीं हो जाता । चिदाकाश में उठकर भी अपनी सत्ताबोध को जगाये रहना पड़ता है । ऐसा न कर पाने पर पूर्णहन्ता स्वरूप परमातृभाव में स्थिति प्राप्त नहीं होती।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि इस चिदाकाश का आश्रय लेकर एक के बाद एक विभिन्न दशाओं का अनुभव करना आवश्यक है । साधना के प्रभाव से ऊर्ध्वगति प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है जितना कि स्वरूप स्थिति की रक्षा करना है । इसके लिए आत्म-विमर्श आवश्यक है । इसके प्रभाव से विकल्परूपी समग्र-जगत् अन्तर्मुख होकर धीरे-धीरे लीन हो जाता है । इस विकल्परूपी जगत् के लय के साथ-साथ चराचर ग्रास सम्पन्न होता है । ब्रह्मसूत्रकार ने कहा है— 'अत्ता चराचरग्रहणात् ।' अर्थात् आत्मा चर और अचर समग्र विश्व को ग्रास कर इस ग्रास के उल्लास में एक रसमय स्थिति प्राप्त करती है । जब यह स्थिति आ जाती है तब आत्मा परप्रमाता के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है ।

इस प्रसंग में एक बात स्मरण रखना होगा । वह यह कि स्वातंत्र्यमय आत्मस्वरूप में स्वरूप का उन्मीलन और निमीलन के कार्य हर वक्त होते हैं । जिसे स्वरूप का निमीलन कहा गया है, उसका नाम अनादि महाआवरण या मूल परदा है । यही तिरोधान का व्यापार है । जिसे उन्मीलन कहा गया, वह अनुग्रह का व्यापार है । स्वरूप का उन्मीलन होने पर महामाया निवृत्त हो जाती है और बहिर्मुखी वृत्ति जिसे संसारचक्र के नाम से वर्णन किया गया है, वह अपनी आत्मारूपी अग्नि में अभेद ज्ञान में परिणति प्राप्त करता है । यही है अद्वय स्वरूप में स्थिति । यहाँ तक योगी को सावधानी पूर्वक कार्य करना चाहिए । इसके बाद फिर विशेष प्रयत्न या उद्यम की आवश्यकता नहीं होती । इसका कारण यह है कि यह अवस्था आयत्त कर लेने पर स्वरूप की विस्मृति कभी नहीं होती । इसीलिए बहिर्मुख भाव की शंका भी नहीं रहती । अभी जिस अवस्था का वर्णन किया गया, योगियों की परिभाषा में इसे उन्मना अवस्था का नामान्तर माना जाता है । कुछ लोग इसे भावसंहार भी कहते हैं । भाव से मतलब है भावमय समग्र विश्व । पहले जिस परिस्थिति के बारे में कहा गया है, उस वक्त प्रमेय-प्रमाण-प्रमातृरूप बाह्य-विश्व का उपसंहार हुआ था, किन्तु भावमय विश्व उस समय भी था । अब जो कहा गया, उसे भावमय विश्व की निवृत्ति समझना चाहिए । परासंवित् रूपी जगदम्बा की कृपा से यह संभव होता है । इस अवस्था में भेदज्ञान तो रहता नहीं, पक्षान्तर से हेय और उपादेय बोध भी नहीं रहता । यही है परम निर्विकल्प स्थिति जिसमें शंका और कल्पना का अवकाश भी नहीं रहता ।

किन्तु यह भी पूर्णत्व नहीं है । कारण भावसंहार हो जाने पर भी भाव का संस्कार उस समय भी रहता है । योगी का एक मात्र लक्ष्य है पूर्णहन्ता प्राप्त कर उसमें स्थिति प्राप्त करना । इस संस्कार में इदन्ता का लेश रह जाता है । उस वक्त तक अहन्ता पूर्णत्व प्राप्त नहीं कर सका है । इस अवस्था में संस्कार रह जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं । कारण, इस अद्वैत स्थिति में रहते हुए योगी यह अनुभव

करता है—'मैंने यह सब अभेद अवभासित किया है ।' स्मरण रखना होगा कि इस समय कालसंकर्षिणी शक्ति की लीला हो रही है । जबतक संस्कार रहता है तबतक काल की कलना, भले ही सूक्ष्मरूप में हो, कुछ न कुछ रहती है । काल की कलना सम्पूर्ण रूप से अस्तमित न होने पर स्वभावसिद्ध अहं प्राप्त नहीं किया जा सकता । इन दिनों अद्वैत योगी यह अनुभव करता है—'सब मैं हूँ ।' उस समय इसे उनकी ओर से आत्मरूपी शिव की पूजा मानते हुए ग्रहण करना पड़ेगा । इस अवस्था तक आ जाने के बाद योगी को और गहरे स्तर में प्रवेश करना पड़ेगा । पहले जिस भावसंहार स्थिति का वर्णन किया गया है, वह वास्तव में प्रमेय तक संहार है, इसके ऊपर कोई अवस्था नहीं है । आत्मरूपी शिव की पूजा के बारे में आगे जो कहा गया है, वह और भी गहरी अवस्था है । यह प्रमाण का संहार है, केवल प्रमेय का नहीं । यह अत्यन्त गंभीर समस्या है, इसमें संदेह नहीं । महाकल्प के बाद जो संहार होता है, वह यही है । इस समय की स्थिति में प्रमेय और प्रमाण चित्सत्ता अथवा चिदग्नि में सम्यक ढंग से लीन हो जाते हैं ।

इस प्रसंग में एक विषय का समाधान आवश्यक है । पहले विश्व संहार के बारे में कहा जा चुका है और अभी जो कहा गया, इन दोनों में स्वरूपगत पार्थक्य है । एक निम्नभूमि एवं दूसरी उच्चभूमि की है । प्रति अवस्था में आभास रूप में ही सही, शंका उदय होने की संभावना है । निम्नभूमि की अवस्था में व्यक्तिगत प्रयत्न या अनुसंधान के द्वारा उस शंका को दूर कर लेना चाहिए । शंका निवृत्त न होने पर वहीं पतन हो जाता है । यह शंका निवृत्ति निम्नभूमि पर व्यक्तिगत प्रयत्न से करना चाहिए । ऊपर की भूमि पर शंका के उदय होने पर व्यक्तिगत प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती है । वह शंका अपने आप दूर हो जाती है । यहाँ शंका शब्द का अर्थ है कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचार । पूर्वोक्त विवरण का तात्पर्य यह है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय अपने आप हो जाता है । इस उच्चावस्था में शंका और ग्लानि उत्पन्न होने पर योगी का पतन नहीं होता । यह उच्चावस्था सदाशिव के अनुरूप है । इस अवस्था में प्रमेय बिल्कुल नहीं रहता, पर प्रमाण में प्रमेय की जीवन-शक्ति अभी मौजूद है । यह जीवन-शक्ति के अलावा दूसरा कुछ नहीं है, यही द्वादश इन्द्रिय रूप में प्रसिद्ध है । इसी द्वादश इन्द्रियों को योगी की भाषा में सूर्य कहा जाता है । इस द्वादश इन्द्रियों को अहंकार में लय करना आवश्यक है । अहंकार ही परम आदित्य स्वरूप है । अब हम प्रमेय और प्रमाण का अतिक्रम कर प्रमातृतत्त्व में प्रवेश कर रहे हैं । इसी परमादित्य को ही गायत्री मंत्र में भर्ग नाम से वर्णन किया गया है । इसी का नामान्तर है—भर्गशिखा । परासंवित् क्रमशः भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को आत्मसात् कर उपसंहार की चरम दशा में आ गयी है । इस अवस्था में उसकी सभी कलाएँ उपसंहृत हो गयी हैं, केवल अमाकला शेष है । यही अमाकला ही शिवकला है । इसी का नाम परप्रमाता है । स्मरण रखना होगा कि यह भी कला ही है, निष्कल नहीं है । इसी का नामान्तर शिवकला है जो पूर्ववर्णित परप्रमाता के साथ अभिन्न है ।

यह जो अहंकाररूपी प्रमाता है जिनकी कथा परमादित्य के रूप में वर्णन किया गया, यही प्रमातृ रूप है, इसमें कोई संदेह नहीं, पर यह भी परिच्छिन्न हैं । परमादित्य से क्रमशः उच्चस्तर अवस्था का उदय होता है । परमादित्य के ऊपर प्रमाता आदित्य से उत्कृष्ट है । उनका पारिभाषिक नाम कालाग्नि रुद्र है । परमादित्य से यह श्रेष्ठ तो है, पर यह भी परिच्छिन्न है । इस अवस्था में आत्मा से संसारभाव सम्पूर्ण रूप से निवृत्त हो जाता है, किन्तु लेश भर पशुत्व तब भी शेष रहता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि उस वक्त विषय-संस्कार नहीं है, यहाँ तक कि इन्द्रिय-संस्कार भी नहीं है । एक मात्र निर्विकल्प प्रमाता वर्तमान हैं जो इन्द्रियों के अतीत हैं । यहाँ तक प्रगति सिद्ध हो जाने पर रुद्र-अवस्था से भैरव-अवस्था का उदय होता है । भैरव-अवस्था में सर्वप्रथम महाकालभैरव का आविर्भाव होता है जिसे तंत्रशास्त्र में महाकाली के रूप में वर्णन किया गया है, वह उसी महाकालभैरव की शक्ति है । स्मरण रखना होगा कि आप भी जगदम्बा नहीं हैं । महाकालभैरव विश्व संस्थान में अत्यन्त उच्च अवस्था में विराजमान हैं । कारण आपको पंचकृत्य का अधिकार प्राप्य है, किन्तु पंचकृत्य का अधिकार रहने के बावजूद आप पूर्ण नहीं हैं, कारण आप स्वातंत्र्य नहीं हैं । स्वयं जगदम्बा की इच्छा से एवं उनके आदेश से आप पंचकृत्य करते हैं ।

इस अवस्था में एक परमतेज से साक्षात्कार होता है । उस तेज में सभी परिच्छिन्न अहन्ता डूब जाते हैं । परिच्छिन्न अहन्ता नाना प्रकार के होते हैं । देहगत अहन्ता एक प्रकार, प्राणगत अहंकार इससे अलग ढंग का, पुर्यष्टकगत अहंकार दूसरे प्रकार का एवं शून्यगत अहंकार इससे अलग ढंग का है । ये सभी परिच्छिन्न अहन्ताएँ हैं । ये सब उस वक्त महाग्नि में दग्ध होकर एक मात्र पूर्ण अहन्ता में स्थिति प्राप्त करते हैं । यही पूर्ण अहन्ता विश्व के साथ सभी प्रकार से अभेद भावापन्न है । जब योगी इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है तब वह परमशिव की भाँति अवस्था आयत्त करता है । आगे परमशिव के पंचकृत्य के बारे में बताया गया, यह व्यापिनीकला के द्वारा प्रकाश प्राप्त करता है । इसके बाद महाकालभैरव भी नहीं रहते । महाकाल के अतीत में महाभैरव का आविर्भाव होता है । इस अवस्था में कोई संस्कार विद्यमान नहीं रहता । स्वात्मसंवेदन क्रमशः अधिक से अधिक प्रस्फुटित हो उठता है और तब चरम में वह पूर्णता प्राप्त करता है । पहले जिस भगवती महाकाली की चर्चा की गयी है, उस वक्त उनका रहना न रहने के समान है, कारण वे उस वक्त अकूल में प्रवेश के लिए उन्मुख रहती हैं । अकूल ही उनका अपना धाम है । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अवस्था काल के द्वारा कलित नहीं है । भूमि के हिसाब से व्यापिनी भी अतिक्रान्त है । उस समय सृष्टि में संहार रूपी काल नहीं रहता । एक मात्र साम्य रूप काल रहता है । इस अवस्था में एक क्षण मात्र रहता है और वह अनन्त काल रूप में प्रतीत होता है । यही है प्राचीन पाश्चात्य Mystic (अप्रकट) की Eternity (नित्यता) अथवा Eternal Moment (अनन्त क्षण) । उसमें कोई क्रम नहीं रहता । यहाँ तक क्रम-विकास सम्पन्न हो जाने पर योगी परमशिव की अवस्था में उन्नीत हो जाता है तब परासंविद्रूपा जगदम्बा का साक्षात्कार होता है । आप एक ओर जैसे पूर्णरूपा, वहीं दूसरी ओर

कृशरूपा हैं । आप अघटन घटन पटियसी महाशक्ति हैं । ये समस्त चक्र का विनाश कर देती हैं, इसलिए आप पूर्णा एवं सभी का संहार करने के कारण कृशा हैं । जब सभी का संहार करती हैं तब अपने निजी स्वरूप में स्थित होती हैं । उस वक्त उनका नाम कालसंकर्षिणी होता है । कृशा अवस्था इसी का नामान्तर है । इस परमपद पर उन्नीत होकर प्रतिष्ठा प्राप्त करना जीव का चरम लक्ष्य है ।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अखण्ड महायोग पथ पर, जिसके बारे में पहले कहा जा चुका है, वही योगी का स्वरूप है और उसका तात्पर्य क्या है । प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता रूप त्रिपुटी की निवृत्ति हो जाने पर भी निश्चिन्त और निरापद स्थिति में प्रवेश प्राप्त नहीं होता । कारण उस समय आत्मानुसंधान को अगर जगाकर न रखा जा सके तो पतन असंभव नहीं है । चिदाकाश या महाव्योम में बाह्य प्रपंच से उपशम प्राप्त किया जा सकता है, यह ठीक है, किन्तु वह आत्मस्वरूप न होने के कारण क्रमशः भावरूपी प्रमेय को संहार करना पड़ता है । यह आन्तर प्रमेय है । यह आत्मस्वरूप के अन्तर्गत विश्व का स्वरूप है । यही आन्तर प्रमेय और प्रमाण दोनों ही परम अद्वैत स्थिति के बाधक हैं । इसके बाद प्रमातृभाव में प्रविष्ट होकर पूर्वसंस्कार वर्जित होना आवश्यक है । प्रमातृभाव क्रमशः अपरिच्छिन्न हो जाता है, किन्तु वह भी परमस्थिति नहीं है । कारण वहाँ भी स्वातंत्र्य का उन्मेष नहीं होता । इसके बाद विश्व के साथ अभिन्न रूप में पूर्णहन्ता का विकास होता है और साथ ही साथ स्वातंत्र्य का उन्मेष होता है । यही निरापद स्थान है । पूर्ववर्णित परीक्षा में उत्तीर्ण न होने पर योगी इस स्थान को प्राप्त नहीं कर सकता । पूर्वोक्त विवरण से समझ में आ जायगा कि पातंजल योगी की सुरक्षित भूमि एवं अद्वैत शाक्त योगी की निरापद भूमि में पार्थक्य कहाँ है ।

इष्टदेवी के रूप

कालिका की गायत्री

कालिकायै विद्महे श्मशानवासिन्यै धीमहि तन्नो घोरे प्रचोदयात् ।

अर्थ— (हम सब मानो) कालिका को जानते हैं । (जान सकते हैं ।)
(हम सब मानो) श्मशानवासी का ध्यान कर सकते हैं ।
घोरा हमें प्रेरणा देते हैं । (कर्मपथ और ज्ञानपथ पर चलाते हैं ।)

क्रमशः तीन अवस्थाओं के माध्यम से साधक के साथ इष्टदेवी का सम्बन्ध अनुभूत होता है—

१. वेदन ।

२. ध्यान ।

३. प्रेरणा ।

प्रथम अवस्था देवी गायत्री में 'विद्महे' शब्द के द्वारा, द्वितीय अवस्था 'धीमहि' इस पद के द्वारा, तृतीय अवस्था 'प्रचोदयात्' इस पद के द्वारा लक्षित हुआ है ।

विद्‌महे, धीमहि और प्रचोदयात् ये तीनों क्रियावाचक पद हैं, इनमें प्रथम दोनों क्रिया के कर्त्ता साधक स्वयं हैं एवं तृतीय क्रिया का कर्त्ता स्वयं भगवती हैं । इन सभी क्रियाओं के मिलन से उपासना का कार्यकर्म सम्पादित होता है । एक और विषय गौर करने लायक है, वह यह कि प्रथम दोनों क्रिया के कर्त्ता ही बहुरूप में चिन्तनीय हैं, कारण दोनों क्रियाएँ बहुवचन हैं । अन्तिम क्रिया का एक और अभिन्न रूप में चिन्तनीय है, कारण क्रिया एकवचन है ।

उपरोक्त विश्लेषण से समझ में आ जायगा कि वेदन-क्रिया का समापन साधक को करना पड़ता है । वेदन शब्द से ज्ञान समझा जाता है, सुतरां इष्टदेवी को सर्वप्रथम ज्ञान से गोचर कराना आवश्यक है । जो ज्ञान के गोचर में नहीं है एवं जो ध्यान का आलम्बन नहीं है, उसके साथ ध्याता साधक अभेद प्राप्त नहीं कर सकता । अभेद प्राप्ति के बिना विशुद्ध प्रेरणा आविर्भूत होने की कोई संभावना नहीं है ।

प्रथम क्रिया द्वैतभाव, द्वितीय भाव द्वैताद्वैतभाव और तृतीय अद्वैतभाव की सूचना दे रही है । अतएव प्रथम अवस्था में साधक को स्वीय इष्टदेवता को द्वैत प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय रूप में प्रकट कर लेना पड़ता है । यह समझ लेना चाहिए कि सभी कर्म-रहस्य इसी के अन्तर्गत है अर्थात् प्राथमिक सभी प्रकार के कर्मों का एक मात्र उद्देश्य है— इष्टदेवता को प्रकट करना । जिस प्रकार काष्ठखण्ड में अग्नि निहित रहती है, किन्तु घर्षण के द्वारा उसे अभिव्यक्त करना पड़ता है, उसी प्रकार साधक के स्वकीय देह में उसके इष्टदेवता निहित हैं, साधक को क्रिया-कौशल रूप में मंथन के द्वारा उसे अभिव्यक्त करना पड़ता है । अभिव्यक्ति के फलस्वरूप इष्टदेवता साधक की आँखों के आगे गोचरीभूत होते हैं । इसी का नाम वेदन है । इसके बाद की अवस्था में साधक ध्याता रूप में इस प्रत्यक्ष दृश्यमान इष्टदेवता का प्रतिक्षण ध्यान करता है । वैष्णव लोग इसे रूपसेवा कहते हैं । यह ध्यान क्रमशः गहरा होते-होते ध्येय और ध्याता के मिलन में पर्यवसित होता है । उस वक्त ध्याता के हृदयाकाश में ध्येय प्रतिष्ठित हो जाता है, । यह अवस्था अद्वैत अवस्था के अलावा अन्य कुछ नहीं है, किन्तु अद्वैत होने पर भी इसमें चित्शक्ति की लीला रहती है । इसी चरम अवस्था में साधक सिद्धपद पर उन्नीत होता है । उस वक्त वे अपने हृदय में स्थित इष्टदेवता को अपना अन्तर्यामी स्वरूप के रूप में समझ पाते हैं । इस अवस्था में सिद्ध भक्त द्रष्टा होते हैं या गवाह के रूप में अवस्थान करते हैं, उनका अपना निजी कर्त्तव्य नहीं रहता । उनका समग्र शरीर यंत्र के रूप में परिणत हो जाता है । अन्तर्यामी यंत्री के रूप में अपनी महाइच्छा क्रम से उस शरीर को यंत्रवत् चलाते हैं । इस संचालन से चित्शक्ति ज्ञान एवं क्रिया सभी प्रकट होते हैं । सुतरां समझना पड़ेगा कि सिद्ध-अवस्था में ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय में प्राकृतभाव न रहने पर भी ज्ञान और क्रिया रहती है । ज्ञान और क्रिया अन्तर्यामी की प्रेरणा से उद्‌भूत होती है । ऐसी स्थिति में ज्ञातृत्व अभिमान और कर्तृत्व का अभिमान नहीं रहता, क्योंकि यंत्र अभिमान-हीन होता है ।

प्रथम अवस्था में इष्टदेवी कालिका रूप में, द्वितीय अवस्था में श्मशानवासी रूप में, तृतीय अवस्था में घोरा रूप में अभिहित हुई हैं । जब वे पहले पहल साधक की दृष्टि-गोचर हुई तब वे कालिका थीं । जब वे कालिका ध्यान का आलम्बन होकर साधक को क्रमशः अधिकाधिक आकर्षित करने लगीं तब उस समय उनका नाम श्मशानवासिनी हुईं अर्थात् उस अवस्था में हृदय श्मशान के रूप में परिणत होता है एवं इष्टदेवी उसमें अधिष्ठित होती हैं, इसलिए श्मशानवासिनी अवस्था की उपलब्धि होने पर तृतीय अवस्था की सूचना हो गयी, समझना चाहिए । इस महाशून्यरूप हृदय-श्मशान में आसीन भगवती जब स्वीय अंशभूत अभेद भावापन्न प्रिय भक्त को, हृदय में रहते हुए ज्ञान और कर्म-पथ पर यंत्रवत् संचालित करती हैं तब वे घोरा रहती हैं । स्मरण रखना होगा कि इस तृतीय अवस्था में द्वैतभाव नहीं है और न द्वैताद्वैतभाव । केवल अद्वैतभाव है, किन्तु यह अद्वैतभाव भी निर्विशेष, निर्विलास और निःशक्तिक अद्वैतभाव नहीं है । इसमें चैतन्य-शक्ति की लीला है । वास्तव में अभिमान न रहने के कारण ठीक जीवभाव नहीं है । यह मुक्त और सिद्ध अवस्था है, पर इसमें पराभक्ति की लीला भी है, कारण इसके अखण्ड स्वरूप में एक ओर जीव साक्षीरूप में और दूसरी ओर भगवती प्रेरिकारूप में अवस्थान कर रही हैं । जीव साक्षी है, किन्तु जिस देह के आश्रय में वह अवस्थित है, वह सिद्धदेह होने के कारण नित्य वर्तमान होने पर भी उसके प्रति जीव का कोई अभिमान नहीं है । उस देह में रहते हुए वह उसका चालक जीव नहीं है, उसके संचालन की जिम्मेदारी स्वयं भगवती ने अपने हाथ में ग्रहण कर रखी है । वे अपने महाइच्छानुसार अपनी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिरूप रश्मि के द्वारा उस देह में निरन्तर ज्ञान तथा क्रिया का अभिनय करती रहती है । साक्षीरूप में जीव यह देखता है, फिर भी अभिमानयुक्त न होकर वह परमानन्द प्राप्त करता है । चित्, अचित् और ईश्वर इन तीनों की महासमष्टि लेकर ही इस तृतीय अवस्था की अभिव्यक्ति है ।

ज्ञान और अज्ञान

गीता में क्षर और अक्षर दोनों पुरुष के अतीत उत्तम पुरुष के प्रति निर्देश किया गया है । क्षर और अक्षर परस्पर विरुद्ध धर्मक्रान्त हैं, क्योंकि क्षर का स्वभाव है— क्षरण या परिणाम और अक्षर का स्वभाव क्षरण का न होना अपरिणामत्व अर्थात् कूटस्थता । किन्तु पुरुषोत्तम स्वीय अचिन्त्यस्वरूप में क्षर और अक्षर दोनों के धर्म को आश्रय देकर दोनों का अतिक्रम करके मौजूद हैं । गीता में इसी पुरुषोत्तम को ही परमात्मा कहा गया है । आप परमपुरुष हैं, इन्हें अनन्य भक्ति के द्वारा प्राप्त किया जाता है । कर्म के साथ क्षर का एवं अकर्म या ज्ञान के साथ अक्षर का साक्षात् सम्बन्ध है । किन्तु कर्म और अकर्म या ज्ञान इन दोनों का सामंजस्य न होने तक उत्तम पुरुष का पता नहीं लगता । वास्तव में उत्तम पुरुष में कर्म और अकर्म का परस्पर विरोध नहीं रहता । गीता में कहा गया है— "कर्म में अकर्म का दर्शन एवं अकर्म में कर्म का दर्शन यही है बुद्धि का निदर्शन ।"

यही योग भाव है । इस अवस्था में कर्म न करके भी कर्म किया जाता है एवं कर्म करके भी कर्म-हीन रहना पड़ता है । इस अवस्था में कर्म करना और कर्म का होना वास्तव में एकार्थ प्रतिपादक है । इस अवस्था में कर्तृत्व नहीं रहता । कारण यह अभिमानहीन अवस्था है; इसीलिए यह विशुद्ध अखण्ड कर्तृत्व की अवस्था है । इस प्रकार के योगी ही केवल साक्षात्कार के द्वारा 'कृत्स्नकर्मकृत्' रूप में वर्णित होते हैं । गीता में पुरुषोत्तम अथवा परमात्मा का यही आदर्श है ।

जीव कर्तृत्वाभिमान का परिहार करता है अर्थात् अपने द्रष्टास्वरूप में स्थित होकर प्रपंचातीत हृदय रूपी महाशून्य में जब प्रवेश करता है तब प्रकृति के गुणाधिकार से मुक्ति प्राप्त करता है । यही है जीव का परमात्मा से साक्षात्कार । मैंने जिस परमात्मा के बारे में कहा है, वह जब ब्रह्मभाव में प्रतिष्ठित होता है तब चित्कला के उन्मेष के फलस्वरूप उपलब्धि होती है । ब्रह्मभाव प्राप्त करने के लिए अविद्या की क्रिया निवृत्त होना आवश्यक है । जीव का कर्तृत्वाभिमान एवं उसके कारण सुख-दुःख की अनुभूति एवं चरम में मृत्युराज परिभ्रमण ही अविद्या का फल है । अविद्या ही मूल क्लेश है । सुतरां अविद्या का निवृत्ति न होने तक आत्मा अपने ब्रह्मस्वरूप में स्थित नहीं हो सकता । अविद्या का निवर्तकरूपी ज्ञान इसीलिए आवश्यक है । ज्ञान चित्त का धर्म है, अज्ञान भी चित्त का धर्म है । किन्तु ज्ञान में लक्ष्य अन्तर्मुख रहने के कारण तथा अज्ञान में अन्तर्मुख लक्ष्य आच्छन्न रहने के कारण ज्ञान के द्वारा अज्ञान निवृत्त होता है । लक्ष्य की अन्तर्मुखता आच्छन्न होते ही उसमें बहिर्मुखता प्रकट होने की संभावना रहती है । विक्षेप की जड़ में आवरण का कार्य स्वीकार करना पड़ता है, किन्तु जब अन्तर्लक्ष्यविकास के द्वारा तद्गत आवरण दूर हो जाता है तब अस्मिता एवं तत्फलभूत सुख-दुःख स्वतः निरस्त हो जाता है । यह जो ज्ञान है, यह वास्तव में अन्तःकरण वृत्ति में प्रतिभासमान चित्शक्ति के अलावा अन्य कुछ नहीं है । ज्ञान के उदय होने पर अज्ञान की निवृत्ति अवश्य होगी । यदि अज्ञान की सममात्रा में ज्ञान का विकास होता है तो अज्ञान निवृत्त होकर निष्फल आत्मस्वरूप में या ब्रह्मस्वरूप में जीव की स्थिति होती है । ऐसी अवस्था में जिस प्रकार अज्ञान नहीं रहता अथवा उसका कार्य-संसार नहीं रहता, उसी प्रकार ज्ञान भी नहीं रहता—केवल आत्मा रह जाती है । आत्मा को नित्य स्वप्रकाश रूप में जागते रहना पड़ता है । केवल अज्ञान के लिए नहीं, अज्ञान की निवृत्ति के द्रष्टा के रूप में भी रहना पड़ेगा । इस अवस्था में आत्मा में चित्कला अत्यन्त अल्पमात्रा में होने पर भी किंचित उन्मेष आवश्यक है । इस उन्मेष के कारण आत्मा साक्षीस्वरूप होकर अवस्थान करती है । यही है मेरे द्वारा वर्णित परमात्मा राज्य में प्रवेश । यह हृदय में प्रवेश का नामान्तर है । चित्कला का क्रम-विकास वास्तव में क्रियाशक्ति का क्रम-विकास है, ज्ञानशक्ति की नहीं । इसीलिए जिस अनुपात से आत्मा में स्वरूप स्थिति प्रतिष्ठित होती है, उसी अनुपात से उसमें क्रियाशक्ति का विकास होता है । ज्ञानशक्ति के साथ क्रियाशक्ति की अभिन्नता ही चैतन्य है । ज्ञानशक्ति का पूर्ण विकास ब्रह्मप्राप्ति की अवस्था में हो गया है । क्रियाशक्ति के क्रम-विकास के साथ-साथ उक्त ज्ञानशक्ति चैतन्य के रूप में आत्मप्रकाश

करता है । चित्कला की पूर्ण अभिव्यक्ति ही पूर्ण चैतन्य है । जिसे परमात्मा कहा गया, उसमें चैतन्य की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं रहती—आंशिक रहती है । चैतन्य की पूर्ण अभिव्यक्ति होने पर भगवद्भाव का उदय होता है ।

चैतन्य की पूर्ण अभिव्यक्ति के फलस्वरूप पूर्ण विकास होता है जिसे ह्लादिनी-शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है, उसका पूर्ण विकास परमात्मभाव से सम्भव नहीं है । ह्लादिनी-शक्ति स्वरूप-शक्ति की श्रेष्ठ अवस्था है । उसमें अपना आस्वादन अपने में हो जाता है । यह आस्वादन आनन्दस्वरूप है । इसी आस्वादन में ही परम पदार्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति संभव है । जिसे प्रेम या भक्ति कहा जाता है, वह ह्लादिनी-शक्ति के विकास के अलावा अन्य कुछ नहीं है । स्वरूप का जो पूर्णत्व है, वह शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति के बिना संभव नहीं है । इस दृष्टि से ज्ञात होता है कि ब्रह्म में शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं है । ज्ञान मार्ग पर अद्वय सत्तारूप में इस निष्कल चिद्रपी-सत्ता को अनुभव किया जा सकता है । परमात्मा का अनुभव करने के लिए योग-पथ का उन्मेष आवश्यक है । इस मार्ग में अनुभव प्राप्त करने के लिए शक्ति की आंशिक अभिव्यक्ति की आवश्यकता है । ब्रह्म तो इन्द्रिय और मन से अतीत है । परमात्मा इन्द्रिय से अतीत होने पर भी मन से अतीत नहीं है । शुद्ध मन की अन्तर्मुख गति से एकाग्र भूमि में परमात्मा का अनुभव होता है । यह अनुभव योगानुभव के नाम से प्रसिद्ध है । इसमें एक स्वाभाविक क्रम है । परमात्मा के स्वाभाविक अंश के रूप में जीवात्मा का आत्मप्रकाश होता है । एक कला, दो कला की तरह जिस प्रकार कला का विकास होता है, उसी प्रकार परमात्मा के साथ जीवात्मा की योगावस्था गहरी होती जाती है । जिस प्रकार ब्रह्म में अभेद अवस्था है, उसी प्रकार यहाँ भी भेदाभेद अवस्था है । पूर्ण भेद नहीं है और पूर्ण अभेद भी नहीं है । भेदावस्था में दोनों में भेद सम्यक ढंग से आत्मप्रकाश करता है और साथ ही साथ भक्ति-रूप धारण करता है । यहाँ स्मरण रखना आवश्यक है कि इस अवस्था में भेद रहने पर भी वह लोकोत्तर भेद है, क्योंकि वह प्राकृत इन्द्रिय गोचर नहीं है । उस वक्त भक्त और भगवान् का आत्मप्रकाश होता है । वह मन से अतीत नहीं है और शुद्ध मन मात्र के लिए गोचर है, ऐसा भी नहीं है—वह इन्द्रिय गोचर है । पर वह इन्द्रिय संस्कारयुक्त इन्द्रिय है, असंस्कृत इन्द्रिय नहीं है भगवान् का रूप-रस-गंध समन्वित देह की अभिव्यक्ति है । ठीक इसी प्रकार भक्त का भी है । इसीलिए दोनों में स्थूल-सम्बन्ध प्रकट होता है । किन्तु वह स्थूल होने पर भी लोकोत्तर है । यह प्राकृत-जगत् की दृष्टि से अतीत है । इसी का आश्रय लेकर चिदानन्दमय लीलाभूमि का विकास होता है ।

ब्रह्म-साक्षात्कार में कोई भूमि नहीं रहती । वह विश्वातीत है । योगावस्था के परमात्मा अनुभव में मनोमय भूमि रहती है । किन्तु भगवदनुभव में पूर्ण स्थूल रूप में प्रकट भूमि रहती है । पर वह लोकोत्तर है । स्थूल होने पर भी वह लौकिक इन्द्रियों के निकट गोचर नहीं है । इसी को धाम समझना चाहिए ।

समाधि

पातंजल योगशास्त्र में संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि का उल्लेख है । इस विषय की आलोचना करने के पूर्व यह बात मन में रख लेनी होगी कि समाधि और योग समानार्थक शब्द नहीं हैं । समाधि मात्र योग नहीं है, किन्तु योग मात्र समाधि है, इसमें संदेह नहीं । चित्त की वृत्ति किसी भी कारण से क्यों न हो, एकाग्र होते ही समाधि में परिणत हो जाती है । यहाँ तक कि एकाग्र न होकर अगर निरुद्ध होती है तो वह समाधि का पदवाच्य है, पर वह योग नहीं है । कारण भूमि एकाग्र न होने पर समाधि योगपदवाच्य नहीं होती । जब एकाग्र भूमि पर वृत्ति एकाग्रता प्राप्त करती है तब वही एकाग्रवृत्ति ही योग के रूप में प्रसिद्ध होती है । योगरूपी समाधि ही संप्रज्ञात समाधि के नाम से प्रसिद्ध है । इसी एकाग्र भूमि में प्रज्ञा का उदय होता है । प्रज्ञा से चित्त में निहित अनादिकाल से संचित अविद्या नष्ट हो जाती है, अर्थात् ज्ञान के उदय से अज्ञान दूर हो जाता है, परन्तु वह क्रमशः संघटित होता है, इसमें संदेह नहीं । यही प्रज्ञा अथवा ज्ञान सालम्बन चित्त में उदय होता है । ज्यों-ज्यों आलम्बन बहिर्जगत् से अन्तर्जगत् में परिवर्तित होता है, त्यों-त्यों प्रज्ञा क्रमशः बाह्यजगत् से अन्तर्मुखी होकर अस्मिता के रूप में परिणति प्राप्त करती है । स्थूल तथा सूक्ष्म भेद से बाह्य विषय दो प्रकार के हैं । यह वितर्क-समाधि का विषय है । उसी प्रकार सूक्ष्म विषय विचार-समाधि का आलम्बन है । इन दोनों क्षेत्रों में शब्द, अर्थ और ज्ञान का सांकर्ष रह सकता है, और नहीं भी रह सकता है । सांकर्ष रहने पर वह ज्ञान सविकल्प ज्ञानरूप से जाना जाता है । सांकर्ष न रहने पर वही निर्विकल्प ज्ञान होता है । यह स्थूल अर्थात् वितर्क भूमि में भी हो सकता है और सूक्ष्म अर्थात् विचार भूमि में भी हो सकता है । सवितर्क एवं सविचार—ये दोनों ज्ञान सविकल्प हैं । इसी प्रकार निर्वितर्क और निर्विचार—ये दोनों ज्ञान निर्विकल्प हैं । स्मृति परिशुद्धि न होने तक विकल्प दूर नहीं होता । अर्थ अर्थात् पदार्थ के साथ शब्द और ज्ञान—दोनों का सम्बन्ध है । अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्ध इस प्रकार है—शब्द वाचक, अर्थ वाच्य । इसी प्रकार अर्थ के साथ ज्ञान का भी सम्बन्ध है । यहाँ अर्थ विषय और ज्ञान विषयी है । वितर्क और विचार—दोनों समाधि में ही समग्र-जगत् संपूर्ण हो जाते हैं । इसका नाम ग्राह्य समापत्ति है । इसके बाद ग्रहण समापत्ति में अर्थ का भान नहीं रहता । यह सानन्द समाधि के नाम से परिचित है । इसके बाद अस्मिता तत्त्व का आलम्बन करते हुए ग्रहीतृ समाधि का उदय होता है । इस प्रकार ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य इन तीनों का समष्टि रूप विश्व के अधीन है । यही है सम्प्रजात समाधि के क्रम-विकास का इतिहास । अस्मिता समाधि तक आने पर योगी को अतुलनीय ऐश्वर्य प्राप्त होता है । इस अवस्था में सर्वज्ञातृत्व एवं सर्वकर्तृत्व रूप महासिद्धि का उदय होता है । प्रज्ञा के क्रम विकास के कारण इस प्रकार का अनुपम ऐश्वर्य प्राप्त होता है । किन्तु विशुद्ध आत्म-साक्षात्कार इस अवस्था में नहीं होता, कारण इस प्रज्ञा की जड़ में अविवेक रह गया है । इसीलिए विभूति मार्ग में परम उत्कर्ष

प्राप्त करने पर भी कैवल्य पथ पर चलने का सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होता । इसके बाद भाग्यवान् योगी को जब इस सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व रूप ऐश्वर्य के प्रति वितृष्णा होती है तब वह विवेक के मार्ग पर चलने की योग्यता प्राप्त कर लेता है । जबतक चित्त बहिर्मुखी रहता है तबतक विवेक-ख्याति के उदय होने की संभावना नहीं रहती । यद्यपि भोग-वितृष्णारूप वैराग्य पहले ही सम्पन्न हो जाता है तद्यपि अधिकार-वितृष्णारूप वैराग्य उदय न होने तक विवेक-ख्याति के पथ पर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता । विवेक-ख्याति से मतलब यह है कि सम्प्रज्ञात-समाधि के अन्तर्गत प्रज्ञा के अवयव-स्वरूप चित् एवं सत्त्व परस्पर पृथक हैं, इस बोध का उदय होना । ऐश्वरिक प्रज्ञा में भी अविवेक रहता है । इसीलिए चित् और अचित् अर्थात् सत्त्व इन दोनों को अलग कर क्रमशः आगे बढ़ना पड़ता है । विवेक-ख्याति के सात स्तर हैं । इन सातों के स्तर में विवेकज्ञान संपूर्ण विशुद्धरूप में प्रकट होता है तब चित् अर्थात् पुरुष एवं सत्त्व प्रकृति या गुण इन दोनों का मिश्रण नहीं रहता । लेकिन यह कैसे आविर्भूत होता है, यह विचारणीय प्रश्न है ।

ऐश्वर्य की ओर से वितृष्णा उत्पन्न होते ही आत्मा योग की दृष्टि से विद्युत की चमक की भाँति क्षण भर के लिए स्फुरित होती है । इस स्फुरण के प्रकाश में गुणरूपी प्रकृति के स्वरूप का दर्शन होता है, उस वक्त प्रकृति जो कि परिणामशालिनी एवं आत्मा अपरिणामी है, इसका दर्शन होता है । सम्प्रज्ञात-समाधि में चरम उत्कर्ष प्राप्त करने पर भी प्रकृति के स्वरूप का दर्शन नहीं होता— "गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथं ऋच्छति ।" इसीलिए पुरुष ख्याति की अवस्था में, आत्मा अपने प्रकाश में अपने निकट स्वयं को प्रकट करती है । इसी प्रकाश में गुणरूपी प्रकृति का दर्शन होता है, प्रज्ञा के प्रकाश में नहीं । इसके बाद ख्याति की पूर्णता ज्ञान सम्प्रसादरूप परवैराग्य का उदय होता है । इधर चित्त एकाग्रभूमि से निरोधभूमि में आ जाता है । ज्ञान के उदय होने पर अज्ञान निवृत्त होता है एवं ज्ञान-संस्कार के प्रभाव से अज्ञान-संस्कार भी निवृत्त होता है । उस वक्त चित्त संस्कारात्मक अवस्था में रहता है । यही है असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था । उन दिनों द्रष्टा पुरुष के निकट । चित्त संस्काररूप में उसके दृश्य बनकर विद्यमान रहता है । यही है पतंजलि-सम्मत द्रष्टा स्वरूप-अवस्थितिरूप योग । निरोध की अवस्था में ऐसा होता है, इस वक्त तक कैवल्य सम्पन्न नहीं हुआ है । इसीलिए संस्काररूप में होने पर भी चित्त का अस्तित्व वर्तमान रहता है । यह संस्कार भी जब दूर हो जाता है तब चित्त नहीं रहता । उस समय आत्मा योगी न होकर भी केवल स्वरूप में प्रतिष्ठित रहती है । यही है असम्प्रज्ञात समाधि—यही है पर या श्रेष्ठ योग । सम्प्रज्ञात समाधि अपर योग है । ज्ञान प्राप्त कर ज्ञान का अतिक्रम करना—यही योग के लक्षण हैं । ज्ञानप्राप्ति के फलस्वरूप अज्ञान की निवृत्ति होती है एवं ज्ञान-संस्कार के प्रभाव से अज्ञान-संस्कार दूर हो जाते हैं । उस समय ज्ञान और अज्ञान—सभी संस्कार-सहित निर्मूल हो जाते हैं । जबतक चित्त रहता है तबतक शरीर रहता है । चित्त के न रहने पर शरीर भी नहीं रहता । जिसे कुशल-आत्मा अथवा जीवन्मुक्त कहा जाता है, वह चित्त के न रहने पर नहीं होता, कारण चित्त के न रहने पर शरीर को कौन

पकड़कर रखेगा ? परन्तु प्रारब्ध के कर्मों का अवसान हो जाने पर चित्त नहीं रहता और न देह रहती है ।

वेदान्त में ज्ञान की सप्तभूमि को स्वीकार करते हुए आनुषंगिक रूप में कहा गया है कि चतुर्थ भूमि आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान की उदय-अवस्था है एवं पंचम भूमि जीवन्मुक्ति की अवस्था है ! पंचम, षष्ठ एवं सप्तम—ये तीनों भूमियाँ जीवन्मुक्ति की हैं । पंचम भूमि में जीवन्मुक्ति को ब्रह्मविद कहते हैं, षष्ठ भूमि में उसका नाम ब्रह्मविदवरीयान और सप्तम भूमि में ब्रह्मविदवरिष्ठ होता है । पंचम तथा षष्ठ भूमि को तुरीय कहा जा सकता है । सप्तम भूमि तुरीयातीत है, इसमें संदेह नहीं । वेदान्त मत से मूल अविद्या की दो वृत्तियाँ हैं—एक आवरण, दूसरा विक्षेप । जब ब्रह्मसाक्षात्कार या आत्मसाक्षात्कार होता है तब आवरण दूर हो जाता है, पर विक्षेप रहता है । यही प्रारब्ध कर्मरूप में प्रकट होता है । जीवन्मुक्त का प्रारब्ध कर्म रहता है, इसलिए देह रहता है एवं प्रारब्ध कर्म के लिए सुख-दुःख का भोग भी रहता है । परन्तु यह भोग मात्र भोग होता है । इसमें अभिनव कर्मों के बीज नहीं बोये जाते, कारण आत्मसाक्षात्कार होने के कारण नये कर्म उद्भूत नहीं होते । क्योंकि ज्ञानी का क्रियामान कर्मों का अश्लेष है—यही सिद्धान्त है । ब्रह्मसूत्र, पंचदशी, जीवन्मुक्ति-विवेक (अच्युत मोदक की टीका सहित), बोधसार आदि ग्रंथों में इस प्रसंग की चर्चा है । आत्मसाक्षात्काररूपी ज्ञान सविकल्प ज्ञान है, इसमें संदेह नहीं । निर्विकल्प ज्ञान सविकल्प ज्ञान के पश्चात् उदय होता है । खांटी निर्विकल्प ज्ञान का उदय होने पर मन निरुद्ध हो जाता है । इसीलिए दीर्घकाल तक देह का रहना संभव नहीं होता, ऐसा अनेक लोगों का मत है । इस बारे में अनेक बातें कही जा सकती हैं । जीवन्मुक्त जीवकोटि और ईश्वरकोटि दोनों ही हो सकते हैं । ईश्वरकोटि जीवन्मुक्त दीर्घकाल तक लोकसंग्रह कर सकते हैं । उनके लिए निर्विकल्प ज्ञान के बाद देह का संरक्षण करना संभव नहीं होता—यह सच है । कारण, प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाने के बाद भी ऐश्वरिक शक्ति-सम्पन्न योगी की देह की अनुवृत्ति संभव है । किन्तु जीवकोटि जीवन्मुक्त के लिए यह संभव नहीं है । जीवकोटि जीवन्मुक्त ऐश्वरिक शक्तिसम्पन्न न होने के कारण केवल प्रारब्ध कर्म के बल पर जीवन धारण करते हैं । इसके अलावा जीवन्मुक्ति के बारे में विभिन्न दृष्टिकोण से विभिन्न बातें कही जा सकती हैं । सिद्धमार्ग, रसायनमार्ग एवं प्राचीन आगममार्ग के अनुसार सिद्धदेह प्राप्त कर अपनी इच्छा से जितने दिनों तक आवश्यक समझें, उतने दिनों तक देह धारण कर सकते हैं । सिद्धदेह काल से अतीत है, इसीलिए सिद्धयोगी इच्छामृत्यु प्राप्त करते हैं । वे प्रारब्ध के अधीन नहीं होते । यह इच्छामृत्यु तिरोधान मात्र है, प्रचलित अर्थ में मृत्यु नहीं । दूसरी ओर से ऐसे भी जीवन्मुक्त हैं जो कल्पान्तकाल या महाकल्पान्तकाल तक उसी एक ही शरीर में विद्यमान रह सकते हैं । जीवन्मुक्त में अविद्या का लेश रहता है, इस बात को सभी स्वीकार नहीं करते । इस बात को अनेक वैष्णव आचार्य भी स्वीकार नहीं करते । वैष्णव आचार्यों के मतानुसार जीवन्मुक्ति अवस्था स्वीकृत नहीं होती ।

योगी की असम्प्रज्ञात समाधि सम्प्रज्ञात समाधिप्राप्ति के बाद होती है । इसे उपायप्रज्ञात समाधि कहा जाता है । मुख्य उपाय प्रज्ञा है—सर्वमूल श्रद्धा । इस प्रज्ञा की प्राप्ति के बाद प्रज्ञा के निरुद्ध होने पर जो असम्प्रज्ञात समाधि होती है, वही योग है । किन्तु अज्ञानियों में किसी-किसी का प्रज्ञा का उदय हुए बिना भी असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त हो जाती है । यह चित्त की निरुद्ध अवस्था होने पर भी योगयदवाच्य नहीं है, कारण यह अज्ञानमूलक है । अज्ञान वृत्तिरूप में न रहने पर भी संस्काररूप में रहता ही है । सभी आत्माएँ इस प्रकार की असम्प्रज्ञात समाधि के बाद अभिनव सृष्टि के उदय होने पर पुनः संसार-क्षेत्र में वापस आ जाते हैं । इन लोगों की असम्प्रज्ञात समाधि प्रज्ञामूलक न होने पर भी वैराग्यमूलक होती है, इसमें संदेह नहीं । इसीलिए ये सभी आत्माएँ अभिनव सृष्टि में प्राकृत मनुष्यों की भाँति सुख-दुःख भोग के लिए संसार में जन्म ग्रहण नहीं करते—किन्तु ऊर्ध्वलोक में अधिकारी के रूप में स्थान प्राप्त करते हैं । ये लोग प्रकृतिलीन अथवा विदेह देवता किसी भी अवस्था में क्यों न रहें, इनका निरोध उपायप्रत्यय नहीं, भवप्रत्यय होता है ।

निर्विकल्प समाधि प्राप्त होने पर चित्त में संकल्प विकल्प नहीं रहता । उस वक्त चित्त सत्यसंकल्प होकर रहे या संकल्प-विकल्प दोनों से शून्य रहे । पर सभी की अवस्थाएँ एक जैसी नहीं होतीं । मन का सम्यक प्रकार लय हो जाने के बाद प्राकृत अवस्था में देह-धारण संभव नहीं होता । परन्तु मन में संस्कार के रहते देह-धारण संभव है । यद्यपि वह सामान्य लोगों के देह-धारण जैसी अवस्था नहीं है । शास्त्रों से पता चलता है कि मन का सम्यक निरोध हो जाने पर भी चित्शक्ति के द्वारा अथवा ऐश्वरिक-शक्ति के प्रभाव से देह-धारण संभव है । यह जीवकोटि जीवन्मुक्त की नहीं, ईश्वरकोटि जीवन्मुक्त की बातें हैं । साधारण लोगों के लिए जीवन्मुक्त में इस प्रकार का भेद निर्णय करना सहज नहीं है । इसके अलावा योगियों का शरीर यदि प्राकृत उपादान से अप्राकृत स्वरूप में परिणत हो जाय तो वह देह साधारण देह से नाना अंशों में पृथक होगी, इसमें संदेह नहीं । योगीगण यदि इस अवस्था में कायसम्पद प्राप्त कर लें तो पंचरूप में विभक्त पंचभूत उनके वश में हो जाता है । सुतरां ये सब भूतजयी योगी जीवन्मुक्त अवस्था में नहीं रहते जबकि ज्ञानी जीवन्मुक्त से पृथक प्रतीत होंगे । जीवन्मुक्ति के असंख्य प्रकार के भेद हैं । सभी जीवन्मुक्त पुरुषों को एक ही श्रेणी के अन्तर्गत समझना उचित नहीं है । कायसम्पद अथवा भूतजय, किम्बा इन्द्रियजय सिद्ध न होने पर जीवन्मुक्ति नहीं होती, ऐसी बात नहीं है । स्वरूप का आवरण मुक्त होने तथा उसी निरावरण आत्मा को अपरोक्ष ज्ञान में अनुभव कर लेने पर मुक्ति मुट्ठी में आ जाती है । मगर वह मुक्ति जीवन्मुक्ति नहीं भी हो सकती है । भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि न होने पर उक्त निरावरण आत्मस्वरूप ज्ञान देहावस्था में धारण करना संभव नहीं होगा । वह क्षण भर के लिए उदित होने पर भी स्थैर्य प्राप्त नहीं करता । इसीलिए पुरुष मुक्त होकर भी देह शुद्धि के अभाव में मुक्ति का अनुभव करने में समर्थ नहीं होता ।

प्राचीन वेदान्त-सम्प्रदाय में दो मार्ग प्रचलित थे । एक उपासना-मार्ग और दूसरा विचार-मार्ग । उपासना-मार्ग में भूत-शुद्धि और चित्तशुद्धि सम्पूर्ण हो जाने के बाद ज्ञान के उदय होने पर ज्ञान के बाद जीवन्मुक्ति आयत्त हो जाती है । उसके लिए काल की प्रतीक्षा नहीं रहती । किन्तु विचार-मार्ग में उच्च अधिकारी का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्ति होने पर भी उस ज्ञान के प्रभाव से, देह-मन शुद्ध न होने तक जीवन्मुक्ति सिद्ध नहीं होती । इसीलिए तांत्रिक दार्शनिकों ने अज्ञान को बौद्ध और पौरुष अज्ञान रूप में बाँटा है, उसी प्रकार ज्ञान को बौद्ध और पौरुषरूप में बाँटा है । पौरुष अज्ञान की निवृत्ति सद्गुरु की कृपा से क्षण भर में हो जाती है; किन्तु बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति बौद्ध ज्ञान के उदय के बिना नहीं हो सकती । इसी बौद्ध ज्ञान के विकास के लिए तपस्या, साधना, विचार, योगाभ्यास आदि आवश्यक है । बौद्ध ज्ञान के उदय से बौद्ध अज्ञान निवृत्त हो जाने के बाद पूर्वप्राप्त पौरुष अज्ञान की निवृत्ति पौरुष ज्ञान के उदय रूप में अनुभूत होता है ।

जहाँ बाह्यगुरु से ज्ञान का उदय न होकर भीतर से ज्ञान का उदय होता है एवं अज्ञान निवृत्त होता है, वहाँ प्रातिभ ज्ञान के रूप में ग्रहणीय है । बाह्यगुरु मनुष्य रूप में, सिद्ध पुरुष रूप में, देवता रूप में प्रकट होते हैं । किन्तु आन्तरगुरु किसी प्रकार की काया धारण करके प्रकट नहीं होते । स्वयं के हृदय से उत्थित होकर प्रातिभ रूप में वे आत्मप्रकाश करते हैं । इस प्रकार गुरु-प्राप्ति भगवत् कृपा की तीव्रता पर निर्भर करता है । इसे आचार्य लोग शक्तिपात कहते हैं । तीव्र मध्यम शक्तिपात होने पर प्रातिभगुरु की कृपा प्राप्ति होती है । किन्तु तीव्रतीव्र शक्तिपात होने पर प्रातिभगुरु की आवश्यकता नहीं होती—तब बिजली की चमक की भाँति पूर्णतम ज्ञान का उदय होकर पशु आत्मा को शिव रूप में परिणत कर देता है और इस प्रकार पूर्ण शिवत्व प्राप्त करने के बाद अज्ञान संस्कार, प्रारब्ध कर्म आदि का कोई प्रश्न ही नहीं रहता । इसके भीतर भी अनेक अवान्तर अवस्थाएँ हैं, कारण सभी की स्थिति एक प्रकार की नहीं होती ।

अध्यात्म का विकास

स्थूल रूप से अध्यात्म के विकास का क्रम इस प्रकार हैं— (१) कर्माभ्यास— इसका विस्तार के साथ यहाँ वर्णन नहीं दिया जा रहा है ।

(२) यथाविधि कर्म करते-करते चित्तक्षेत्र अर्थात् हृदय शुद्ध होता है । आकाश से बादलों के हट जाने पर जिस प्रकार नीलाकाश प्रत्यक्ष दिखाई देता है, ठीक उसी प्रकार हृदय से संस्कारमय तिरोहित हो जाने पर हृदय भी स्वच्छ आकाश की तरह प्रकाशमान होता है ।

(३) इसके बाद स्वच्छ हृदयाकाश में सूर्योदय की भाँति इष्टस्वरूप उदय होता है । उस वक्त इष्ट के आलोक में समग्र आकाश आलोकित होता है । इसी का नाम है हृदय में इष्ट-दर्शन ।

(४) निरन्तर इष्ट-दर्शन होते रहते पर काफी दिनों बाद यही हृदय में स्थिति प्राप्त करता है । वस्तुतः यह अवस्था साधक की इष्टलोक में स्थिति का नामान्तर है ।

(५) इस स्थिति के बाद हृदय स्थित इष्ट से उसका एक आभास स्फुरित होकर बाहरी आकाश में प्रकाशित होता है । उस वक्त अन्तराकाश की तरह बहिराकाश में भी अवाधित रूप से इष्ट का दर्शन होता है । यह जो इष्ट रूप है वह किसी बाहरी पदार्थ के साथ संसक्त अर्थात् जुड़कर प्रकाशित नहीं होता । यह निर्लिप्त भाव से बाह्याकाश में दृश्यमान होता है । किसी वस्तु के साथ इसका सम्बन्ध है, यह प्रतीत नहीं होता ।

(६) इसके बाह्य पदार्थों के हर एक में जड़ित रूप से इष्ट के साक्षात्कार होते हैं । उस वक्त देखने में आता है कि किसी भी ओर दृष्टिपात किया जाय—वहाँ मानो इष्ट का आसन या अधिष्ठान है । उस समय इष्टरूप ही मुख्य है, पदार्थ का रूप गौण रहता है । "जहाँ-जहाँ नेत्र ठहरे, वहाँ-वहाँ कृष्ण स्फुरे ।"

(७) इसके बाद बाह्य रूप के गौण भाव में क्रमशः वृद्धि होती है और उसी अनुपात में इष्ट-रूप प्रधानता प्राप्त करती है । चरमावस्था में केवल इष्ट रूप में रहती है, उसका बाह्यरूप नहीं रहता । यही कैवल्यवस्था है । साधक द्रष्टा के रूप स्थिति प्राप्त करता है ।

(८) अगर यह अष्टरूप दृक्शक्ति के द्वारा भिन्न हो जाय तो इसमें संसार के सभी पदार्थ दिखाई देते हैं । इसी को विश्वरूप-दर्शन कहा जाता है । एक मात्र इष्टरूप में अनन्त जगत् प्रतिभासमान होती है । उस वक्त यह समझ में आता है कि वही एक इष्ट ही मानो इष्ट रहते हुए अनन्त आकार में प्रकाशमान हो रहा है । कहने की आवश्यकता नहीं है कि यही अनन्तरूप चिन्मय है । कारण इष्ट के स्वरूप दर्शन के बाद यह आविर्भूत हुआ है । इष्ट का स्वरूप-दर्शन के बाद अचिदंश अवशिष्ट नहीं रह सकता ।

(६) इसके बाद इष्टरूप तिरोहित हो जाता है । उस समय अनन्त रूप में इष्ट रहते हैं । इष्ट की पृथक सत्ता नहीं रहती । यही पूर्णत्व या निर्गुण ब्रह्मावस्था है । इसी अवस्था को लक्ष्य करके 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहा गया है । उस समय भी द्रष्टा सूक्ष्म भाव में ही रहता है ।

(१०) इसके बाद इष्ट या ब्रह्म साधक के आत्मस्वरूप में प्रतिभासमान होते हैं । यही सर्वात्मभाव है । इस अवस्था में अपने को सर्वत्र देखा जा सकता है । बिलकुल अनुभव किया जा सकता है कि सर्वत्र मैं हूँ और खेल रहा हूँ । ब्रह्म या ईश्वर के नाम पर उस वक्त कोई पृथक वस्तु पृथक वस्तु नहीं रहती ।

(११) इसके बाद सभी का बोध नहीं रहता । एक मात्र मैं ही हूँ—अखण्ड, अव्यक्त, अनन्त मैं । यही रहता है— दूसरा कुछ नहीं । यह है चिदानन्दघन अवस्था ।

(१२) इसके बाद यह महान् अहन्त्व नहीं रहता । उस अवस्था को चिदानन्द नही कहा जा सकता, पूर्ण अहं नहीं कहा जा सकता । कारण वह अनन्त के अतीत है, भाषा के द्वारा उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता । यह भी स्वयं प्रकाश अवस्था है । इस अवस्था का यहाँ विश्लेषण नहीं किया गया । इसकी विचित्रता अनेक हैं । यही है वास्तव में अद्वैतावस्था ।

(१३) इसकी भी परावस्था है ।

गायत्री

गायत्री का चतुर्थपाद गृहस्थों के लिए नहीं है ।

यहाँ कुछ गुह्य तत्त्वों की सूचना दे रहा हूँ । अनुसंधान करते हुए समझने का प्रयत्न करना चाहिए ।

परम तत्त्व अलिंग, उभयलिंग, पुरुष, प्रकृति—अथवा सब होकर भी सभी के अतीत हो सकते हैं । यहाँ अलिंग का मतलब पुरुष या प्रकृति भाववर्जित स्थिति समझना पड़ेगा । इसे कूटस्थ ब्रह्मसत्ता माना जा सकता है । यही सच्चिदानन्द स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं । किन्तु इस अवस्था में शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं रहती, अर्थात् सदृश्य अभिव्यक्ति में जिस शक्ति का विलास सम्भव होता है, वह नहीं रहता, पर सामान्य अभिव्यक्ति रह सकती है । अन्यथा यह अवस्था स्वप्रकाश चैतन्य के रूप में वर्णित होने के योग्य नहीं होती । गोकि इस सामान्य अभिव्यक्ति की भी मात्रा है । मात्रा की कमी से आनन्द का ह्रास, यहाँ तक कि चिद्भाव का भी ह्रास हो जाता है । चरम में केवल सत्तारूपी ब्रह्म रह जाते हैं । यह स्थिति एक प्रकार से सुषुप्ति की तरह की स्थिति है । किन्तु इस तरह की अवस्थाएँ भी हैं । ब्रह्म सच्चिदानन्द नहीं है, ऐसी बात नहीं है । यह जीव के योग्यतानुसार ब्रह्मोपलब्धि का रहस्य है । मतलब यह कि अलिंग-अवस्था नाना प्रकार के हो सकते हैं ।

ब्रह्म की एकलिंगावस्था है । वह है परम पुरुष या परम प्रकृति । जो लोग परम-पुरुष के उपासक हैं, वे परम-पुरुष ब्रह्म को प्राप्त करते हैं । प्रकृति इसी पुरुष में लीन रहती है या लीन न रहने पर आपेक्षिक दुर्बलतावश आश्रित रूप में रहती है । ये सभी उपासक युगल के उपासक नहीं हैं । मनुष्य की गति यहाँ एकलिंग ब्रह्मस्वरूप में समझना चाहिए । जो लोग परमा प्रकृति के उपासक हैं, वे भी एकलिंग ब्रह्म को प्राप्त करते हैं । ये भी युगल सेवक नहीं हैं । उभयलिंग ब्रह्म युगपत् पिता और माता, पुरुषोत्तम और परमा प्रकृति दोनों ही हैं । वे अलिंग नहीं हैं, एकलिंग भी नहीं हैं—उभयलिंग हैं । युगल उपासक इस उभयलिंग ब्रह्म को प्राप्त करते हैं । यहाँ पुरुष और प्रकृति दोनों के भाव हैं । फिर भी दोनों में विरोध नहीं है । इन पुरुष और प्रकृति के भावों में कोई वैषम्य नहीं है—दोनों को बराबरी का समझना होगा । शिव के बिना शक्ति, शक्ति के बिना शिव अलीक

हैं—दोनों में अविनाभाव का सम्बन्ध है । जिस प्रकार अग्नि और दाहिका शक्ति अपृथक सिद्ध हैं, उसी प्रकार ब्रह्म के दोनों लिंग हैं ।

एकलिंग और उभयलिंग—दोनों ही सलिंग ब्रह्म हैं । इसके अलावा अलिंग ब्रह्म भी है । जब इस अलिंग और सलिंग ब्रह्मों का भेद रहते हुए भी नहीं रहेगा या एक निर्विरोध अभेद स्थिति में उभयलिंग और एक लिंग का प्रतिमास पूर्णरूप से प्राप्त होगा तभी परिपूर्ण ब्रह्म वस्तु की उपलब्धि हुई है, मानना पड़ेगा । ऐसी स्थिति में भोग और त्याग, गृहस्थ और सन्यास एकार्थ बोधक हो जाते हैं । स्थिति में शिव और शक्ति इन दोनों शब्दों का पृथक अर्थ नहीं रहता अर्थात् रहते हुए भी नहीं रहता ।

गायत्री के तुर्य प्रभाव से अलिंग की स्थिति होती है—यही साधारण नियम है । यह ब्रह्म निर्वाण या कैवल्यवत् स्थिति है । साधारण तौर पर संन्यास के फलस्वरूप इस स्थिति की उपलब्धि होती है । ऐसी दशा में स्वरूप में स्थिति होने परे भी स्वरूप शक्ति का उल्लास नहीं रहता । यही है निष्क्रिय शान्त अचल परमावस्था । यह तब की बात है जब तुर्यपाद पादत्रय को परिहार करते हुए एक रूप में आत्मप्रकाश करता है ।

किन्तु तुरीय पाद पूर्ववर्ती तीनों पादों का बिना परिहार किये अपने गर्भ में अन्तर्मुक्त कर ले तो उपासक की गति भिन्न होगी । तब परिपूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति होगी—अलिंग ब्रह्म की नहीं ।

त्रिपाद रहित तुर्यपाद और त्रिपाद सहित तुर्यपाद, इन दोनों के प्रभाव से जो ब्रह्मानुभूति होती है, वह पृथक है । प्रथम अनुभूति में जगत् मिथ्या रूप में प्रतिभात होता है । अनुभूति की पराकाष्ठा में जगत् का बोध नहीं रहता जबकि व्यापक ब्रह्मसत्ता का बोध निरवच्छिन्न रूप में मौजूद रहता है । वितीय अनुभूति में जगत् ही सत्य प्रतीत होता है । ब्रह्म सत्ता का बाह्य विलास के रूप में इसकी उपलब्धि होती है । शुद्ध ज्ञान के बिना इस तरह के विलास की अनुभूति असम्भव है । इसके मूल में अज्ञान का प्रभाव नहीं है ।

अर्थात् एक, नाना, एक और नाना—तीन प्रकार की अनुभूतियाँ हैं । एक है, नाना नहीं—यही है अलिंग ब्रह्मानुभूति । फिलहाल नाना का प्रतिभास रहने पर भी उसका सत्यताबोध खण्डित है । प्रारब्धावसान में देहपात के बाद मिथ्या प्रतिमास भी तिरोहित हो जाता है ।

नाना है, एक नहीं है—यह ब्रह्मानुभूति नहीं है, केवल विषयानुभूति है । इस विषय पर चर्चा करना नहीं चाहता ।

एक है, नाना भी है—यही है अलिंग और सलिंग युगपत् की अनुभूति, अभेद रूप में अनुभूति । इस अनुभूति के अनेक भेद हैं— एक प्रधान, अंगी—नाना गौण, अंग, एक में आश्रित नाना, नाना प्रधान, एक उसका अंग । एक और नाना— समान-समान तुल्यबल । एक और नाना=अखण्ड । दोनों ही एक अखण्ड अनुभूति । शब्द में केवल द्वैत है । वास्तव में कोई भेद नहीं है ।

त्रियाद गायत्री के उपासक ब्राह्मण सन्तान महा-सविता को प्राप्त कर लेते हैं । इस प्राप्ति में क्रम नहीं है । मगर ब्राह्मण-शरीर न रहने पर क्रम आवश्यक होगा । पुनः जन्म लेना ही पड़ेगा, ऐसी कोई बात नहीं है । ऊर्ध्वलोक से देह शुद्ध होते-होते ब्रह्म देह प्राप्त हो सकता है ।

अगर महानिर्वाण के मार्ग पर चलने की योग्यता हो तो ऊर्ध्वलोक में ही चतुर्थपाद का रहस्य ज्ञात हो जाता है और अगर दिव्य तथा दिव्यातीत लोक में साम्राज्य, वैराज्य, अधिराज्य और स्वराज्य प्राप्ति की योग्यता हो तो वह भी यही त्रिपाद देवी दान कर सकती हैं । अगर परमपद प्राप्त हो जाय तो यह भी प्राप्त किया जा सकता है । गायत्री ब्रह्म विद्यास्वरूपा है । ब्रह्म विद्या का सूक्ष्मातिसूक्ष्म बहु क्रम है—उसे जानने की आवश्यकता नहीं होती । गायत्री की पूर्ण प्रसन्नता में कुछ भी बाकी नहीं रहता । ब्रह्म विद्या की जो परावस्था है, वह भी अनधिगत नहीं रहती । गायत्री से सब हो सकता है ।

महासंन्यास और महाज्ञानादि उपासक के निकट समय होने पर आविर्भूत होते हैं ।

वर्णश्रेष्ठ ब्राह्मण हैं । आश्रम श्रेष्ठ संन्यास है । किन्तु दोनों ही चरमावस्था में अतिक्रान्त हो जाते हैं—यद्यपि दोनों के चरमोत्कर्ष सिद्ध होने के बाद ।

एक गुह्य बात बता रहा हूँ । गायत्री वेदमाता और छन्द जननी है । समग्र वेद और छन्दों का मूल गायत्री है । वेद में है—देवताओं ने मृत्युभय से भीत होकर छन्दों का आश्रय लिया था । छन्दों की प्रसूति एवं शुद्धतम स्वरूप ही गायत्री है । फलतः गायत्री का आश्रय लेते ही दिव्य देह और द्वितीय जन्म होता है । यह जन्म शुद्ध देहप्राप्ति का नामान्तर है । इसे विद्याजन्म कहते हैं । स्पष्ट है कि गायत्री संस्कार विशिष्ट ब्राह्मण जन्म वस्तुतः वैन्दव देह है । वेदों के अनुसार गायत्री के छन्द से ब्राह्मण का शरीर उत्पन्न होता है, इसे स्मरण रखना होगा । अर्थात् जिस देह का गठन गायत्री छन्द से हुआ है तथा जो गायत्री छन्द से शोधित हुआ है, वही शब्दब्रह्म अनुशीलन के लिए उपयोगी देह है । शब्द ब्रह्म का अनुशीलन ही वेद का अनुशीलन है—स्वाध्याय, वैदिक कर्म आदि इसके अन्तर्गत हैं । कर्मकाण्ड के पश्चात् ज्ञानकाण्ड का अनुशीलन भी वेदों का अनुशीलन है । इतना उत्कर्ष होने पर तपस्या और ब्रह्म विद्या का चरम विकास सम्पन्न होता है । तब समना भेद होकर विन्दु-राज्य का लंघन होता है । यही है महासंन्यास की अवस्था ।

इसके बाद परमशुद्ध आत्मस्वरूप में चिन्मात्र रूप में या नित्य चिदानन्द स्वरूप में स्थिति अथवा भगवत् भाव में उद्बोध दोनों ही हो सकते हैं ।

वहाँ एक महाकरुणा की लीला है । तदनुसार गति का वैशिष्ट्य नियंत्रित होता है । महाकरुणा की लीला में काल का क्रम किसी की अपेक्षा नहीं है । उसमें अघटन भी हो सकते हैं— असम्भव सम्भव होता है । इसका विश्लेषण करने की चेष्टा करना जीव के लिए अनधिकार चेष्टा मात्र है ।

तीन जन्मों का विचार

अधिकांश लोगों को यह ज्ञात है कि मेरे श्री श्रीगुरुदेव दीक्षाप्रार्थी लोगों को दीक्षा देने के पहले उसके भूतपूर्व तीन जन्मों के संस्कारों पर विचार करने के पश्चात् दीक्षा देते थे । साधारणतः साधन-संस्कार और प्रकृतिगत इष्टभाव के वैशिष्ट्य का निरूपण करने के लिए वे दीक्षार्थी के पूर्व तीन जन्मों के साधन-संस्कार पर विचार करते हुए यह देखते थे कि किस दिशा में चित्त की प्रवणता अधिक है एवं उसी के अनुकूल इष्ट का निर्णय करने के पश्चात् तदनुसार शक्ति-संचार करते हुए दीक्षा देते थे। इससे कृत-कर्मो की धारा के साथ वर्तमान कर्मों की धारा का सम्बन्ध स्थापित होता है और अपेक्षाकृत कम प्रयास से वास्तविक-मार्ग सुलभ हो जाता है । इस बारे में शिष्यों के व्यक्तिगत अनुभव से जानकारी मिल जाती है ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तीन जन्मों के संस्कार साक्षेप-रूप से देखने के बाद साधन-जीवन की धारा का आविष्कार करना चाहिए । साधना सोलह आने पूर्ण होने पर एक ही परम लक्ष्य तक अवश्य पहुँचा जा सकता है । जिस मार्ग पर चलने से अधिक परिश्रम करना पड़े और उसके लिए साधन-संस्कार अधिक हो, उसी मार्ग को उक्त साधक के लिए अपनाना उचित है । इससे परिश्रम की बचत हो जाती है और पूर्वजन्म के कृतकर्म वर्तमान जन्म में फलसिद्धि में सहायक होते हैं ।

किन्तु यह वास्तव में एक स्थूल व्यापार मात्र है । पिछले तीन जन्मों की बात दर किनार, इस प्रकार सहस्र जन्म का विचार करने पर भी वास्तविक मार्ग का पता नहीं लगेगा । उक्त तीन जन्म वस्तुतः एक ही जन्म का त्रिविध विलास मात्र है । स्थूलदेह धारण ही स्थूल जगत् में अर्थात् भौतिक स्तर में प्रवेश का चिह्नस्वरूप है । स्थूलदेह सर्वप्रथम कब धारण किया गया था, इसका इतिहास कोई बता नहीं सकता । स्थूल देह जात होता है और मृत भी—इस प्रकार जन्म-मृत्यु कितनी बार हुए हैं, इसका पता किसी को नहीं मालूम । काल की जगत् में आने का मतलब जन्म-मृत्यु के अधीन होना, किन्तु इस स्थूल देह में प्रवेश कहाँ से हुआ है, यह जान लेना आवश्यक है । अगर इसका पता चल जाता है तब वहाँ से और ऊर्ध्व में जाकर पता लगाना होगा कि मौलिक एवं सर्वप्रथम किस सूत्र से शुद्ध चैतन्य को ग्रास करता है ।

श्री श्रीगुरुदेव ने "प्रकृति तत्त्व" नामक लेख में कहा है— "स्वभाव की धारा त्रिधा सृष्टि करना ।" यह जो त्रिविध सृष्टि है, वास्तव में यही आत्मा की तीन जन्मों की बात है । इन तीन जन्मों का वृत्तान्त निपुण दृष्टि से न देख पाने पर इस मायिक जगत् से परम स्थान तक पहुँचने की धारा खोजने पर भी पता नहीं चलेगा । परम पथ का आविष्कार करना ही दीक्षा का उद्देश्य है । इन तीन जन्मों के माध्यम से अर्थात् त्रिविध स्तर भेद करते हुए यह पथ प्रसारित हुआ है । किसी भी साधक की प्रकृति का निर्णय करने के लिए उसकी मायिक-देह, महामायिक-देह एवं चिन्मय-देह की प्रकृति से अवगत होना आवश्यक है ।

विशुद्ध चैतन्य स्वरूपतः निराकार और निर्मल चिद-वस्तु है । जब वह सृष्टि

मुख से काल के राज्य में आता है तब उसे प्रकृति के विभिन्न स्तरों को भेद करते हुए आना पड़ता है । सर्वप्रथम चित्-स्वरूप से चित्-शक्ति का जो संकुचित उन्मेष होता है जिसका चिदणु कहकर वर्णन किया जा सकता है, वह जब चिन्मयी शक्ति के अभ्यन्तर में प्रविष्ट होता है तब चिदाकार एक स्वच्छ आवरण उससे युक्त हो जाता है। यही चिन्मयी शक्ति के आवरण से आवृत चिदणु है । यही अपरिच्छिन्न या पूर्ण 'अहम' का प्रथम प्रतिविम्ब है । यही आवरण आत्मा का प्रथम देह है । यह देह साक्षात् रूप से काल के राज्य में नहीं आता । यही विशुद्ध अचित् अथवा महामाया के गर्भ में प्रविष्ट होता है । महामाया अपने उपादानों के द्वारा लपेटकर इसके ऊपर द्वितीय आवरण की सृष्टि करती है । इसके बाद चिन्मय और अचिन्मय इस द्विविध आवरण विशिष्ट चिदणु माया-गर्भ में प्रवेश करते हैं । माया-गर्भ में प्रवेश करने के कारण मायिक उपादान उसे लपेटते रहते हैं । यह है तीसरा आवरण । इस मायिक आवरण तक जो तीन आवरणों की प्राप्ति है, वही चिदणु की त्रिविध देह के रूप में वर्णित होता है । एक-एक आवरण को पाने को एक-एक जन्म प्राप्त करना कहा जा सकता है । सुतरां इन तीनों प्रकार के आवरणों की प्राप्ति वास्तव में त्रिविध जन्म का द्योतक है । माया के आवरण से आवृत होकर जीव कालरात्रि के राज्य में हाजिर हो जाता है । हम लोग जो स्थूल देखते हैं, वह काल की देह है । यह परिणामशील और क्षय-प्रधान है । यह देह जबतक आरोह-क्रम के अनुसार पूर्व-पूर्व प्रकृति के स्तरों पर उत्थित नहीं हो सकती तबतक जीव अपने परम स्वरूप में उपनीत नहीं हो सकता।

काल की देह दीक्षा के लिए संस्कार प्राप्त न कर पाने एवं मूल स्थान तक वापस आने का मार्ग न पाने पर असंख्य बार उसे काल के आवर्त्त में चक्कर काटते रहना पड़ेगा। इस आवर्त्त से छुटकारा पाने के लिए उसे वापस लौटने का रास्ता जान लेना आवश्यक है । इस प्रसंग में तीन पूर्वजन्मों के प्रश्न योगी के विचार पथ पर उपस्थित होता है । काल से बाहर आने के लिए सर्वप्रथम मायिक देह भेद करना आवश्यक है । मायिक देह के बिना काल के राज्य में प्रवेश नहीं हो सकता । सुतरां वापस लौटते समय काल के राज्य से माया गर्भ में प्रवेश करना पड़ता है । यह विपरीत गति है । जिस प्रकार मायिक उपादानों से साधक की अपनी मायादेह गठित है, उसी के अनुरूप मार्ग का अनुसरण करते हुए उसे माया से निकलना होगा । कारण सभी मार्ग सभी के लिए नहीं है । माया से निर्गत होकर मायातीत अवस्था में स्थिति लेने पर परमस्थान में जाना संभव नहीं होता । सुतरां माया के बाहर जाकर निश्चिन्त होकर बैठने से काम नहीं चलेगा । उस वक्त महामाया के गर्भ से बाहर आकर मायिक देह ग्रहण करना पड़ा था, अब पुनः महामाया के गर्भ में प्रवेश करना पड़ता है । इसके बाद महामाया के गर्भ से निकलकर चित्शक्ति में प्रवेश करना पड़ता है । कारण चित्शक्ति से चिन्मय के आवरण से आवृत्त होकर जीव ने महामाया के गर्भ में प्रवेश किया था, इसीलिए वापस लौटते समय पुनः शक्ति के गर्भ में प्रवेश कर उसी स्थान से बाहर निकलना आवश्यक है । तब विशुद्ध चित्-स्वरूप की प्राप्ति होती है ।

जीव को जितने आवरण प्राप्त होते हैं, उतनी ही कर्म की भूमि उसकी बन जाती है । अनावृत्त चित्-स्वरूप में कर्म का कोई प्रश्न ही नहीं रहता । उतरते समय

एक-एक आवरण ग्रहण करना पड़ता है, पुनः वापस लौटते वक्त उस आवरण को कर्म के द्वारा काया में परिणत करते हुए चैतन्य के साथ उक्त काया का अभेद सम्पन्न करना पड़ता है । इस प्रकार से आरोह-क्रम में सर्वप्रथम मायिक देह का कार्य होता है । शरीर के कर्मों के लिए । शरीरोपयोगी कर्म पूर्ण न होने पर उस शरीर को धारण करने की सार्थकता नहीं होती । मायिक-देह का कर्म पूर्ण होने पर जीव माया से अतीत हो जाता है और उसकी आत्मसत्ता जाग्रत भाव से माया का अधिष्ठान करती है । ऐश्वर्य का यही प्रथम अंग है । महामाया के शरीर में महामाया का आवरण होने के कारण तदनुरूप कर्म भी हैं । वे सब कर्म पूर्ण न करने तक महामाया का शरीर अनिवार्य है । किन्तु वे सब कर्म पूर्ण होने पर महामाया का स्तर भेद हो जाता है । उस वक्त योगी महामाया से निर्गत होकर महामाया का भी अधिष्ठाता हो जाता है । चरम अवस्था में चिन्मय शरीर का भी उसी तरह के कर्म हैं । उसके सम्पन्न होने पर योगी चिन्मयी-शक्ति से अतीत होकर चिन्मयी-शक्ति को भी अपनी शक्ति के रूप में धारण करने में समर्थ होता है । इस प्रकार त्रिविध शक्ति ही उसकी निजी शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है । जीव तीन आवरण ले आता है, इसलिए योग-मार्ग में वापस जाते समय इन त्रिशक्तियों के अधिपति-रूप में त्रिकोण के मध्यविन्दु में अपना स्थान प्राप्त करता है ।

सद्‌गुरु दीक्षा के समय जब पूर्व तीन जन्मों का विचार करते हैं तब वास्तव में इन्हीं तीन जन्मों का ही विचार करते हैं । कारण चिन्मय अखण्ड सत्ता तक पथ निर्देश करना आवश्यक है । केवल काल राज्य के स्थूल उपादानों के तीन भूतपूर्व जन्म विचार के द्वारा अखण्ड चैतन्य तक, मध्यवर्ती विश्व प्रकृति की अन्तःस्थित दीक्षार्थी की व्यक्तिगत धारा निरूपित नहीं हो सकती । प्रत्येक प्रकृति से आकृति का गठन होता है एवं उस आकृति के द्वारा अपनी प्रकृति के अनुरूप कर्मों का निर्देश होता है । दीक्षाकाल में दीक्षार्थी गुरुदत्त काया प्राप्त करता है । उस काया में दीक्षार्थी की मायिक, महामायिक एवं चिन्मय काया अविभक्त रूप से निहित रहती है । कर्म-साधन यथा नियम से सम्पन्न होने पर वे सब आकृति और प्रकृति के कार्य समाहित होते हैं । उस समय निज-धाम में स्थिति प्राप्त करने की योग्यता उत्पन्न होती है । स्थूल रूप से तीन जन्मों का विचार साधारण अवस्था में उपयोगी है, इसमें कोई संदेह नहीं । किन्तु चरम मीमांसा उससे प्राप्त नहीं होती । तीन जन्मों का सूक्ष्म रहस्य साधक के निकट बोधगम्य न होने के कारण वे साधारणतः स्थूल रूप से व्याख्या करते थे । वास्तव में यह रहस्य समझ लेने पर जन्मान्तर-तत्त्व समझने का मार्ग सुगम हो जाता है ।

आत्मा का पूर्ण जागरण और उसकी परिणति

(१)

श्रीमद्‌भगवद् गीता में कहा गया है कि इस जगत् में आत्माएँ प्रकृत जाग्रत अवस्था में नहीं हैं । वे मायिक-जगत् में अज्ञान के आवरण में आच्छन्न होकर मोहनिद्रा

में निद्रित हैं । वे सब जबतक उस महानिद्रा से उत्थित नहीं होंगी तबतक मायातीत चिन्मय सत्ता अनुभव नहीं कर सकेंगी । चिन्मय दिव्य-जगत् में संचरण करना दूर की बात है । ठीक इसी प्रकार इस जगत् में ऐसे ही महापुरुष रूपी आत्माएँ हैं, जो संयमी होने के कारण इस मोहमायावाले जगत् को देख नहीं पातीं । उनकी दृष्टि निरन्तर चिद्भूमि में जमी हुई हैं । वे लोग चिद् आकाश और तदूर्ध्ववर्ती चिन्मय राज्य का निरन्तर दर्शन कर रहे हैं ।

या निशा सर्व्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यते मुनेः ।।

इस श्लोक में संयमी अथवा प्रबुद्ध एवं मूढ़ अथवा निद्रित आत्मा, सभी की विशेषताएँ वर्णित हैं ।

इससे समझ में आता है कि जगत् के अधिकांश जीव ही सोये हुए हैं । हम लोगों में प्रचलित जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इसी नींद के प्रकार भेद मात्र हैं । अर्थात् हम लोग व्यवहार भूमि में जिसे जाग्रत अवस्था समझते हैं, वह भी वास्तव में जाग्रत नहीं है । वह भी विज्ञान की दृष्टि में निद्रा के अन्तर्गत है । इस प्रसंग में स्मरण रखना होगा कि मनुष्य मात्र के जीवन का लक्ष्य है—इस मोहनिद्रा से जाग उठना एवं पूर्ण रूप से जाग्रत होकर ऊर्ध्वमुख की ओर क्रम-विकास के फलस्वरूप जीवभाव से शिवभाव में उन्नीत होना । इस प्रकार पूर्णत्व प्राप्त करना चाहिए । आचार्य शंकर ने अपनी दक्षिणा मूर्ति स्तोत्र में स्पष्ट रूप से निर्देश दिया है कि इस मोहनिद्रा से जो जीव को जगा देते हैं, वे ही वास्तव में गुरु हैं । जीव जब पूर्ण रूप से जाग उठता है तब सर्वप्रथम अनुभव करता है कि यह जगत् उससे बाहर नहीं है, बल्कि उसके अन्तर में है । स्वच्छ दर्पण में जिस प्रकार विराट् नगर प्रतिविम्बित होता है और वही प्रतिविम्बित नगर जिस प्रकार दर्पण के अन्तर्गत है, दर्पण से वहिर्भूत नहीं है, ठीक इसी प्रकार समग्र विश्व ही आत्मारूपी स्वच्छ दर्पण में प्रतिविम्बित होता है । वस्तुतः यह विश्व द्रष्टा आत्मा के अपने अन्तर्गत है, उसके वहिस्थित नहीं है । माया के कारण जो अन्तर की वस्तु है, उसे अन्तर में न देखकर बाहर देखा जाता है । सद्गुरु जब शुद्ध-विद्या संचार करके जीव को मोहनिद्रा से जगाते हैं तब जीव अपने आत्मस्वरूप में प्रबुद्ध होकर समग्र विश्व को अपने अन्तर्गत प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है । स्मरण रखना होगा कि तथाकथित इस बाह्य-जगत् से आंतर-जगत् में प्रवेश करना ही साधना का उद्देश्य है और गुरु-कृपा का भी यही लक्ष्य है ।

अभी जो आंतर-जगत् में प्रवेश के बारे में बताया गया, इसमें क्रम है । प्रथम अज्ञान-जगत् से ज्ञान-जगत् में प्रविष्ट होना पड़ता है । इसके बाद परासंवित में नित्यधाम की प्राप्ति होती है । अज्ञान-जगत् में रहते समय यह अनुभव होता है कि यह जगत् भेदज्ञान द्वारा अनुप्राणित है । जब गुरु-कृपा से ज्ञान का उदय होता है तब समझ में आता है कि वास्तव में ज्ञेय वस्तु के बाहर कुछ भी नहीं है । ज्ञेय वस्तु बाहर है, यह ज्ञान का भ्रम है । इस मार्ग में प्रवेश करने पर देखा जाता है कि ज्ञेय पदार्थ वस्तु वास्तव में साकार ज्ञान ही है, यही बाह्य रूप में अथवा स्थूल रूप में कल्पित

हुआ है । जिसे हम लोग माया कहते हुए वर्णन करते हैं, वह क्रियाशक्ति का नामान्तर है । इसी के प्रभाव से साकार ज्ञान-पदार्थ रूप में प्रतीयमान होता है । ज्ञानराज्य में ज्ञान ही एक प्रान्त में साकार ज्ञान या ज्ञेय रूप में भासमान होता है । दूसरे प्रान्त में वही ज्ञान ही ज्ञाता रूप में आत्मप्रकाश करता है । ज्ञानराज्य अतिक्रम करने के लिए ज्ञान का यह ज्ञेयभाव और ज्ञातृभाव दूर करना आवश्यक है । यह कर लेने पर ज्ञान विशुद्ध होता है ।

इस विशुद्ध ज्ञान का अवलम्बन करते हुए ज्ञान राज्य से संविदराज्य में प्रवेश करना चाहिए । माया या अज्ञान राज्य में भेदज्ञान प्रबल है । ज्ञानराज्य में भेदाभेद ज्ञान मौजूद रहता है । किन्तु संविदराज्य में लेश मात्र भी भेद नहीं है । यह अभेद ज्ञान की अद्वैत भूमि है । यह तुरीयराजा रूप में वर्णित होने योग्य है । इसके बाद अखण्ड प्रकाश है जिसे तुरीयातीत कहते हुए उल्लेख नहीं किया जा सकता ।

मनुष्य जीवन का वास्तविक उद्देश्य है रूपान्तर प्राप्त करना—यह व्यापार गुप्त रूप से सम्पादित होता है, इसलिए गुप्तपथ में प्रवेश करना चाहिए । गुप्तधाम का व्यापार वास्तव में रहस्यमय है ।

अभी रूपान्तर के बारे में मैंने चर्चा की, इसी का नाम है—जागरण । पूर्ण जागरण ही पूर्ण रूपान्तर है अथवा अखण्ड महाप्रकाश रूप में विश्राम । मायाराज्य में आत्मा भेदज्ञान से मुक्त नहीं हो सकती, कारण यहाँ की विद्या अशुद्ध विद्या है—यह माया का कंचुक है । इसके बाद कला का नियंत्रण है एवं अन्यान्य कंचुकों के आवरण हैं । अन्तर्जगत् में प्रवेश के लिए प्रथम उपाय है शुद्ध विद्या का उन्मेष । इसके कारण पशुत्व की निवृत्ति होती है । पशुभाव में रहनेवाला पुरुष संवित्-मार्ग में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् शुद्ध विद्या प्राप्त न होने तक महाशक्ति के मार्ग में प्रवेश असंभव है ।

(२)

आत्मा के विभिन्न प्रकार की अवस्था को समझने के लिए प्रतीति के भेद का विश्लेषण करना आवश्यक है । प्रतीति के अनुसार ही किस प्रमाता-आत्मा को अप्रबुद्ध अथवा निद्रित कहा जाता है और दूसरे प्रमाता को अप्रबुद्ध न कहकर प्रबुद्धकल्प कहा जाता है ।

यह विश्व-भुवन (जो महामाया और माया के अन्तर्गत है ।) अनाश्रित शिव से कालाग्नि रुद्र तक विस्तृत है अर्थात् समग्र विश्व के ऊर्ध्व शिखर पर अनाश्रित शिव विद्यमान हैं एवं सबके नीचे कालाग्नि रुद्र लीला कर रहे हैं । यह विश्व प्रकाशात्मक होने के कारण यद्यपि यह प्रकाश की नींव से जुड़ा है तथापि भवी आत्माएँ अर्थात् अप्रबुद्ध आत्माएँ सोचती हैं कि सब कुछ उनके बाहर है । यहाँ 'भव' का अर्थ है भेदज्ञान । भेदज्ञान सम्पन्न सिद्ध आत्मा भी भवी नाम से अभिहित होते हैं । ये माया के द्वारा अभिभूत रहने के कारण अभिन्न वस्तु में भिन्न ज्ञान का सहारा लेकर रहते हैं ।

भविगणों के ऊर्ध्व में और एक प्रकार की आत्माएँ हैं—इनमें भेदज्ञान नहीं है। किन्तु भेदज्ञान न रहने पर भी उनमें संस्कार है । इन्हें "भव पदी" कुछ लोग कहते हैं । ये आत्माएँ शुद्धविद्या पद में अनुप्रविष्ट हैं एवं कोई-कोई सम्प्रज्ञात समाधि के स्तर में विद्यमान रहती हैं । ये सभी आत्माएँ शुद्धविद्या के प्रभाव से आन्तरिक संस्कारादि भिन्नवत् अनुभव करती हैं । इनमें दो श्रेणियाँ हैं । कोई-कोई बाह्यज्ञान शून्य और किसी-किसी में बाह्यज्ञान रहता है । जिनमें बाह्यज्ञान रहता है, उन लोगों को परासंवित तत्त्व का उपदेश दिया जा सकता है । ये सब पशु होने पर भी योग्य पशु हैं, कारण ये अधिकारी हैं । ये सब चिद् अणु सोचते हैं कि ग्राहक और ग्राह्य रूप में विश्व के दो विभाग हैं । जिस अंश में ग्राहक हैं, वह अजड़ और चिन्मय है एवं जिस अंश में ग्राह्य है, वह जड़ और अचित् है । इस प्रकार के पशु माया द्वारा मोहित नहीं होते, कारण यह है कि ग्राह्य वस्तु को जड़ और अपने से भिन्न समझना यही माया है, ये सब पशु अपने स्वरूप को पहचान नहीं पाते । ये सब पूर्ववर्णित 'भवी आत्मा' के अन्तर्गत हैं ।

यहाँ दो प्रकार के प्रमाता की चर्चा की गयी है । इनमें से कोई प्रबुद्ध नहीं है । अब इसके बाद प्रबुद्ध नामक तीसरे प्रकार के प्रमाता की आलोचना करूँगा । इन सभी आत्माओं को द्विपदी कहा जा सकता है, कारण एक ओर जिस प्रकार इनमें भव-संस्कार है, उसी प्रकार दूसरी ओर इनमें उद्भव-संस्कार भी है । यह सब प्रमाता भेदाभेद दशा में अवस्थित हैं । ये सब एक ओर जिस प्रकार जड़ भावात्मक इदन्ता का आश्रय लेते हैं, दूसरी ओर उसी प्रकार चिद् भावात्मक अहन्ता प्राप्त करते हैं । सुतरां इनकी अनुभूति "यह और मैं" है, यह दोनों सामान्याधिकरण्य है । अर्थात् ये अहं भाव में आरोपण कर अनुभव के भेदांश में डुबोकर 'इदं अहं' रूप में बोध प्राप्त करते हैं । ये अपने शरीर जैसा विश्व को देखते हैं जिसमें भेद रहता है और अभेद भी । योगी लोग इसे ईश्वर-अवस्था कहते हैं । यह हुआ प्रबुद्ध-आत्मा का विवरण।

प्रबुद्ध-अवस्था से सुप्रबुद्ध-अवस्था तक आत्मा की उन्नति आवश्यक है । किन्तु प्रबुद्ध-अवस्था से सुप्रबुद्ध में जाने के लिए एक मध्य-अवस्था प्राप्त कर एवं उसका परित्याग करते हुए अग्रगति करना पड़ता है । अभेद ज्ञान अथवा कैवल्य "उद्भव" नाम से परिचित हैं । जो लोग इस अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, उनके निकट इदंरूपी प्रकृति का विषयीभूत ज्ञेय पदार्थ अहंरूपी आन्तरिक पद में निमग्न होकर रहता है । इस निमग्न भाव की प्रकृति को 'निमेष' कहा जाता है । विमर्श शक्ति के द्वारा ऐसा हो सकता है । यह अवस्था सदाशिव की स्थिति के अनुरूप है—इसमें अहंभाव द्वारा आच्छादित अस्फुट इदंभाव मौजूद रहता है । यह अवस्था स्थायी नहीं है । जब यह आविर्भूत होता है तब अपने स्वरूपभूत के प्रकाश में एक बार मग्न एवं इसके बाद उमग्न—इन दोनों रूपों का अनुभव होता है । मग्न-रूप को 'निमेष' कहा जाता है और 'उमग्न' रूप को उन्मेष । जिस प्रकार समुद्र में कभी तरंगें उठती हैं और कभी वे लीन हो जाती हैं, लेकिन दोनों स्थितियों में समुद्र समुद्र ही रहता है, ठीक इसी प्रकार शिवादि विश्व प्रकाशात्मक रूप से ही प्रकाश रूप में उन्मीलित होते हैं और फिर प्रकाश में ही विलीन हो जाते हैं । यह जो अवस्था है, वह प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध

इन दोनों अवस्थाओं की अन्तरालवर्ती अवस्था है । इसे समना अवस्था कहा जाता है ।

उन्मना द्वारा जब स्वरूप में स्थिति होती है तब उस स्थिति को उन्मना के नाम से निर्देश किया जाता है । जब उन्मना के द्वारा पूर्णत्व सिद्धि अविचलित होती है तब योगीसिद्ध भी सुप्रबुद्ध अवस्था प्राप्त करते हैं । इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर मन की कोई क्रिया नहीं रहती । अर्थात् मन की चंचलता इसे कदापि स्पर्श नहीं करती ।

योगी जब सुप्रबुद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है तब उसकी इच्छा से ही अभीष्ट विभूति का आविर्भाव हो जाता है । साधारण तौर पर इसे इच्छाशक्ति कहते हैं ।

इससे स्पष्ट समझ में आ जायगा कि योगी द्वार इच्छा करते ही वह इच्छाशक्ति रूप धारण नहीं करता । कारण मन का अतिक्रम न करने पर आत्मा का जागरण पूर्ण नहीं होता और जबतक आत्मा पूर्ण रूप से जाग न उठे अर्थात् मन से सम्पूर्ण रूप से मुक्त होने पर उनकी इच्छा इच्छाशक्ति का रूप धारण नहीं करती ।

अभी जिस सिद्धि की चर्चा की गयी, यह नाना प्रकार के हैं, और इसका आविर्भाव भी विभिन्न उपायों से होता है । इन सभी सिद्धियों को अपरसिद्धि और परसिद्धि इन दो श्रेणियों में रखना संभव है । अपरसिद्धि निम्नस्तर की सिद्धि है एवं परसिद्धि ऊर्द्ध स्तर की सिद्धि ।

आद्या-सिद्धि गुरु-प्राप्ति का नामान्तर है और द्वितीय सिद्धि शिवत्व का स्वरूप है। इन दोनों को महासिद्धि कहा जा सकता है । सूर्य आदि किसी वस्तु को आत्मा रूप में दृढ़ भावना कर लेने पर उसका जगत्-प्रकाशनादि कर्म जो नित्यसिद्धि है, उसे पहचान लिया जा सकता है । यही है—प्रत्यभिज्ञा (Recognition) । जब यह प्रत्यभिज्ञा अत्यन्त दृढ़ होती है यह अर्थकारिणी रूप में प्रतीत होती है अर्थात् कार्य में परिणत होती है । उस वक्त योगी सूर्यादि रूप न होते हुए भी स्वयं सूर्यादि वस्तु का रूप धारण करता है । विमर्श अथवा ज्ञान दुर्बल होने पर भिन्न रूप में स्थिति होती है । किन्तु उक्त विमर्शज्ञान प्रबल होने पर भेद और भ्रमर का संस्कार नहीं रहता । उस वक्त योगी स्वयं विश्वात्मक हो जाता है, इसलिए सभी प्रकार की सिद्धि नित्यसिद्ध रूप में प्रकट होती हैं । यह दृढ़ होने पर केवल भाव मात्र नहीं रहता, किन्तु अपने-अपने कार्य-साधन में सामर्थ उत्पन्न होता है । यहाँ स्मरण रखना होगा कि योगी को सभी अवस्थाओं में अपने परिपूर्ण प्रकाशात्मक विश्वरूपी स्वरूप से अविचलित रहना आवश्यक होगा ।

जो देवता कार्य-साधन करते हैं, अगर वह कार्य-साधन आवश्यक हो तो उक्त देवता का अहंकार धारण कर लेने पर वह कार्य-साधन संभव होता है ।

पृथ्वी का लक्षण है धारण, जल का लक्षण है संग्रह, तेज का लक्षण है पाक, वायु का लक्षण है व्यूह एवं आकाश का लक्षण है अप्रतिघात । योगी पृथिव्यादि जिस भूत का आत्मरूप में अनुसंधान करता है, उसी भूत का कर्मसिद्ध होता है । ठीक

इसी प्रकार तन्मात्रा, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, अस्मिता, बुद्धि, अव्यक्त और पुरुष—इनमें स्मृति-शक्ति धारण कर लेने पर अनुरूप कर्मसिद्धि होती है । इस प्रकार राग नियति, कला, विद्या, कला और माया में चित्शक्ति धारणा संभव है । पक्षान्तर से शुद्धविद्या या सरस्वती, ईश्वर, सदाशिव, इनके ऊपर भी चित्शक्ति धारणा संभव है । धारणा के साथ-साथ तदनुरूप सिद्धि आविर्भूत होती है ।

आचार्यों का कहना है कि शुकदेव, वामदेव, कृष्ण, दधीचि, वैन्य आदि के जो विश्वात्मक भाव पुराण तथा इतिहास में प्रसिद्ध हैं, वह पूर्वोक्त उपाय से आविर्भूत होते हैं । इसके बाद महासिद्धि की बात स्मरण रखना होगा । महाशक्ति या पराशक्ति के विषय को स्मरण करना आवश्यक है । यह शक्ति कोटि-कोटि कालाग्नि की दीप्ति लेकर षड़ध्वा को दग्ध कर रही हैं । निरन्तर इसकी खोज करना आवश्यक है । जब तृप्ति या आप्लावन रूपी सिद्धि का उदय होता है तब अमृत की लहरी बरसात की भाँति समस्त अध्वा को प्लावंचि करती है । इस अनविच्छिन्न सुधा-समुद्र की बातों को स्मरण रखना आवश्यक है ।

इस दाह और प्लावन के द्वारा "सकलीकरण" रूपी क्रिया की सिद्धि होती है । जितनी मात्रा में अध्वा पूर्वोक्त प्रणाली से शोधित होता है, निःशेष में उतना ही जगत् अनुग्रह का भाजन होता है ।

अभी जो शुद्धि के बारे में कहा गया, यह देहात्मक रूप में संक्षिप्त षड़ध्वा की शुद्धि नहीं है, बल्कि समग्र विश्व की शुद्धि है । सभी आचार्य विश्व शरीर हैं । किसी निर्दिष्ट देह में देहीरूपी जो अभिमान है, वह आचार्यत्व नहीं है । इसीलिए विश्व को अपने शरीर के रूप में परिणत करते हुए विश्व का साधन करना आवश्यक है। अतएव प्रकाश के साथ देह का अभेद दर्शनकारी जो स्वरूप अवस्थित है, उसे ही सभी अध्वा का दाह समझना चाहिए । यह अन्य कुछ नहीं है, विशुद्ध चैतन्य रूपी प्रकाश के साथ इसका तादात्म्य है । पहले जिस आप्लावन के बारे में कहा गया है, वह इसी विमर्श का नामान्तर है, इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है— "प्रकाशास्य विमर्शघनता प्रत्यभिज्ञान दार्ढ्यात्" परमानन्द का आविर्भाव भाव । इस व्यापार को प्राचीन शाक्तों ने सकलीकरण कहा है, यह परम आनन्द के आविर्भाव का नामान्तर है। वास्तव में प्रकाशरूपी चैतन्य जब विमर्श शक्ति के प्रभाव से घनीभूत होता है, उस वक्त दृढ़ प्रत्यभिज्ञा के उदय के कारण आनन्द प्रकट होता है । इसी का नाम है—आद्यासिद्धि । यह गुरु-प्राप्ति का नामान्तर है ।

स्मरण रखना होगा कि इस अवस्था में भी पूर्ण ख्याति का उदय नहीं होता, इसलिए यह अपूर्ण ख्याति के अन्तर्गत है । अपूर्ण ख्याति स्थायी नहीं होती । किन्तु जब स्थायित्व का उदय होता है तब इसका दृढ़ रूप से आश्रय लेकर अपूर्ण ख्याति का क्षय करना चाहिए । प्रति क्षण अनुसंधान को दृढ़ कर इस क्षय-क्रिया को सम्पन्न करना पड़ता है । योगी इस प्रकार पूर्ण ख्याति उन्मीलन करते-करते इच्छानुसार सभी भुवनों की सृष्टि करते रहते हैं एवं रक्षा आदि सभी कृत संपादन करते हैं अर्थात् उस वक्त योगी पंचकृत्य करने में समर्थ होते हैं ।

पूर्णत्व की प्राप्ति और नित्यलीला की चर्चा करने के लिए तीन ओर से विचार करना आवश्यक है । एक ओर महाप्रकाश जो अपने में स्वयं रहते हुए पंचकृत्यमय रूप में सर्वदा नित्यलीला-परायण हैं, दूसरी ओर चिदाकाश है, वहाँ आत्मा चिति-शक्ति के द्वारा अभिनय करती हैं । दूसरी ओर प्रेक्षक के रूप में सभी इन्द्रियाँ विराजमान रहती हैं । यहीं पर हमें कर्त्ता, द्रष्टा और नाट्-गृह का पता चलता है । यहीं लीला के मूल की ह्लादिनी शक्ति है । ये स्वयं रसास्वादन करते हैं और कराते हैं ।

(३)

गुह्यराज्य में जागरण का क्रम विभिन्न दिशाओं में, नाना प्रस्थानों में दिखाया गया है । यहाँ संक्षेप में किंचित बातों का उल्लेख कर रहा हूँ ।

पूर्ण जागरण का फल है पूर्णत्व की प्राप्ति । जिसे अद्वैत शैवगण परमशिव के रूप में वर्णन करते हैं, यह उसी अवस्था का नामान्तर है । यही परासंवित् है, यही कभी विश्वातीत होकर भी विश्वात्मक स्वरूप सर्वदा नित्य-प्राप्त करते हैं—शक्ति भी वही है । जिस ओर विश्व का भान नहीं है, उस ओर शक्ति की एक कला के अलावा पूर्ण संकोच अवस्था है । एक कला-शक्ति विश्वातीत अवस्था में भी रहती है, अगर यह न रहे तो विश्वातीत अक्षर स्वरूप जगत् में आत्मप्रकाश नहीं कर सकती थी । किन्तु इस कला के रहते हुए भी आत्मा को निष्कल कहा जाता है । इसके न रहने पर शिव का शिवत्व नहीं रह सकता । एक कला ही अमाकला का नामान्तर है । ऋषियों ने इसे अमृतकला कहा है । बाकी पन्द्रहों कला का संकोच और प्रसारण होता रहता है । विश्वात्मक अवस्था में प्रसार या विकास की घटना होती है ।

इस बात का विस्तृत विवरण यहाँ अनावश्यक है । शक्ति या कला चिति-शक्ति का ही नामान्तर है । इसका विकास किस प्रकार होता है, इस पर विचार कर लिया जाय । शक्ति की तीन अवस्थाएँ हैं यह मानी जा सकती है । इनमें एक सुप्तावस्था है। एक क्रमिक जागरण की अवस्था और एक पूर्ण जाग्रत अवस्था । पूर्ण जाग्रत के भी क्रम हैं । इसी प्रकार शक्ति के जागरण कहने पर यह समझना चाहिए कि यह अचित् अवस्था से चिन्मय रूप में उत्थित होता है । शक्ति की जो कृश-दशा है, उसमें आचार्य गण विश्व का आस्वादन नहीं कर पाते । यद्यपि विश्व का अभेद-सम्बन्ध उसमें है, इसमें संदेह नहीं, तथापि जो कुछ कहा गया, वह भी सत्य है । किन्तु वे स्वयं निज का आस्वादन नहीं करते । तभी तो अणुभाव या संकोच का उदय हुआ है । इसीलिए सुप्त अवस्था एक घेरे की अवस्था है । यही घेरा या आवरण महामाया का स्वरूप है । अणुभाव के साथ-साथ वह व्याप्त होता है । इसीलिए वह शून्य है, शास्त्र में उसे तिरोधान कहते हैं और इसीलिए अस्फुट विग्रह उसमें रहता है । स्फुट विग्रह की स्थिति में कंचुक के साथ योग होता है । बाद में कला से प्रकृति का आविर्भाव होता है । इधर पुरुष कर्ममल युक्त हो गया, उधर क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति का उदय हुआ, चित्त का आविर्भाव हुआ, फलस्वरूप देह प्रकट हुई । उस वक्त पुरुष कर्त्ता और भोक्ता बना । जगत् भी भोग्य रूप में परिणत हुआ । इस प्रकार संकोच के क्रम की वृद्धि के फलस्वरूप प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता रूप में विभक्त दशा का उदय हुआ ।

साधारण मनुष्य के स्तर पर आकर देखने में ऐसा देखा जाता है जैसे यह भेदमय ज्ञान का राज्य है । शाक्तों ने विश्व का विश्लेषण करते हुए इसके कई अंगों को देखा था । इनमें प्रथम ग्राह्य, द्वितीय ग्रहण और तृतीय ग्राहक था । किन्तु उन लोगों ने एक प्रकार के ऐसे ग्राहक का पता लगाया था जिसमें ग्राह्य और ग्रहण जनित क्षोभ नहीं था जबकि वह ग्रहण-फल का अधिकारी था । यह सच है । इस जगत् का प्रथम अंकुर यही है और सच पूछिये तो यही संवित् या प्रमा की अवस्था है । समस्त जगत् इसके गर्भ में है । ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी इसके अन्तर्गत हैं । सृष्टि के प्रसंग में पहले ज्ञाता का आविर्भाव होता है, इसके बाद ज्ञान का और सबके अन्त में ज्ञेय का । इन्हें शक्ति की दशा समझना चाहिए । यहाँ शिव शक्तिमान रूप में विराजमान नहीं हैं, किन्तु शक्ति रूप में हैं । इस शक्ति के तीन रूप हैं । एक पराशक्ति, दूसरी परापरशक्ति और तीसरी अपराशक्ति । इन तीनों शक्तियों के अलावा मातृ सद्भाव नामक एक सत्ता है । यही है चतुर्दल चक्र का रहस्य ।

पूर्णता का तिरोधान होने पर इस दशा का उदय होता है । यह शक्ति-दशा के नाम से परिचित है । इससे संसार-अवस्था का उदय होता है । शक्ति की दशा अविभक्त है । इसमें परा, परापर और अपरा तीनों शक्तियाँ एक साथ हैं । अभी तक ये सभी शक्तियाँ देवी रूप में प्रकट नहीं हुई हैं । यही है मातृ सद्भाव का तात्पर्य । यहाँ इस अवस्था में सभी प्रकार की अनुभूतियाँ विद्यमान हैं जबकि इनके मूल में क्षोभ नहीं है, पर यहाँ भी अपूर्णता है, यह एक अद्भुत राज्य है ।

पूर्ण सत्ता से अवतरण—इसी का नाम है तिरोधान । शाक्तों ने इस परम प्रकाशमय पूर्ण सत्ता को 'भासा' कहा है और इस शक्तिमय अवस्था को अनाख्या नाम से व्याख्या करते हैं । भासा से अनाख्या में अवतरण, इसका नाम निग्रह या तिरोधान है और अनाख्या से भासा में आरोहण, इसे अनुग्रह कहा जाता है । तिरोधान के फलस्वरूप चतुर्दल कमल का आविर्भाव होता है और उसमें से षोड़शदल तक विकसित होता है, पक्षान्तर से अनुग्रह के कारण षोड़शदल से चतुर्दल तक गति होती है और इसके बाद अनाख्या के सहारे 'भासा' में स्थिति होती है ।

भासा में आत्मा अविभक्त और अविभाज्य अव्यय स्वरूप है । यही है पुरुष । अनाख्या में चतुर्दल प्रकृति से स्थिति है । यह अविभक्त होने पर भी विभाज्य है । प्रमाता के स्थान पर अष्टदल कमल तथा आमिता रूप में प्रकाश होता है । यह विभाज्य और सत्त्व प्रधान है । प्रमाण भूमि पर द्वादश दल कमल है । यह मन, बुद्धि और दसों इन्द्रियों की प्रवृत्ति का क्षेत्र है । यह रजःप्रधान है । प्रमेय भूमि पर षोड़शदल कमल है, यह तन्मात्रा और भूतों का क्षेत्र है, यह तमःप्रधान है ।

अनुग्रह-शक्ति के प्रभाव से क्रमशः प्रमेय से प्रमाण, प्रमाण से प्रमाता, प्रमाता से अनाख्या एवं अनाख्या से पूर्ण या भासा में प्रवेश होता है ।

पूर्ण और भासा में समग्र विश्व अभेद में विद्यमान रहता है । तिरोधान काल में वह पृथक रूप से स्फुरित होता है । इसी का नामान्तर प्रकृति या "शक्तिचक्र" है। इसे एक प्रकार से पुरुष से प्रकृति का आविर्भाव अथवा ब्रह्म से माया का

आविर्भाव कहा जा सकता है । तिरोधान शब्द का अर्थ आत्म संकोच अथवा कालचक्र का प्रभाव है । इसमें प्रतिपदा से अमावस्या तक कृष्णपक्ष होता है । अमावस्या पूर्ण संकोच का प्रतीक है । इस अवस्था में सभी चित्कलाओं का संपूर्ण आकुंचन होता है—एक मात्र कला बची रहती है, इसी का नाम है "अमा" ।

यहाँ एक बात पर विचार करना आवश्यक है । पूर्ण से जिस अनाख्या का आविर्भाव होता है, इसकी प्रणाली विवर्त्त होती है, अनाख्या से जिस त्रिपुटी का आविर्भाव होता है, इसकी प्रणाली है परिणाम । इसके बाद आरंभ-क्रिया को अवसर मिलता है । जागरण से अनुग्रह का उदय होता है । इसके बाद शाक्त स्रोतों का वर्षण होता है । यह प्रक्रिया अनाख्या तक चलती है । इसके बाद अनाख्या से पूर्ण अथवा भासा में प्रवेश परम अनुग्रह के स्वरूप होता है । जिस प्रकार आरंभवाद अवरोह अवस्था में हो जाती है, उसी प्रकार आणव-व्यापार आरोह के बाद समझना चाहिए । आरोह के क्रम में पहले रहती है अपनी चेष्टा । इसका नाम है— "आणव उपाय," इसके बाद शाक्त स्रोत में बहा ले जाता है, लक्ष्य हुआ शक्ति या अनाख्या। अनाख्या में गमन कर प्रतीक्षा करनी पड़ती है । कारण अपने से पूर्ण या भासा में जाया नहीं जा सकता । उस वक्त पूर्ण खींच लेता है, फलस्वरूप होता है—पूर्णत्व लाभ । अनाख्या से भासा में तभी जाना संभव होता है जब आत्मा स्वयं समर्पण करती है । यह अनुग्रह के कारण ऊर्ध्व स्रोत के बहाव से अनाख्या तक जाता है। किन्तु ऊर्ध्व स्रोत में भी अन्त तक पहुँचा नहीं जा सकता । वहीं तुंग शिखर पर जाकर बैठ जाना पड़ता है, तब वे खींच लेती हैं ।

महाशक्ति मां अपने साथ खींचकर ले जाती हैं और इसी उपलक्ष्य में वे रूपान्तर साधन करती हैं । वे शिखर तक पहुँचा देती हैं । यही विश्व का ऊर्ध्वतम स्थान है । मगर यह विषयी विश्व है । इसके बाद पूर्ण की महाकृपा से विश्वातीत अवस्था की प्राप्ति होती है अर्थात् पूर्णत्व प्राप्त होता है ।

अतएव अनुग्रह की धारा है शुक्लपक्ष । पूर्णिमा है पंचदशी । आरोह क्रम से वही है अनाख्या । अवरोह काल में शिव थे शक्तिरूप, आरोह काल में शक्ति हुई शिवरूप में। यहाँ शक्ति ही शिवरूप धारण करती हैं, इसीलिए शक्तियुक्त शिव का प्रकाश जो कि युगल पद्म है । इसीलिए पंचदशी युक्त है । इसके बाद षोड़शी अर्थात् "अमा," यह युक्त नहीं है, अकेली है । इसके बाद वाली अवस्था परा है ।

अनाख्या के बाद भासा है । इसमें अनन्त व्यवधान है । तिरोभाव के कारण इस व्यवधान की सृष्टि हुई है । जब अनुग्रह का उदय होगा तब यह व्यवधान दूर हो जायगा । तिरोभाव के कारण वह कालराज्य में मिलता है, सुतरां यह फाँक (दरार) यमुना अथवा कालनदी किंवा विरजा है । वैष्णवी भाषा में कहने पर पूर्ण है नित्य वृन्दावन या नित्यलीला भूमि, यमुना अथवा कालनदी को पार कर उस पार जाना है, नाविक एक अकेला है, वे ही पूर्ण हैं ।

आत्मा के जागरण का एक और क्रम है । आत्मा इस वक्त माया के आवरण में आच्छन्न होकर सुप्तावस्था में है अर्थात् सो रही है । इसीलिए उसका आत्मःविमर्श

नहीं है, इसी के प्रभाव से पिण्ड मात्र में उसकी अहंता रक्षित है । इसी का नाम है—देहाभिमान । यही सर्वत्र विराजमान है और इसीलिए वह विश्व शरीर होने के कारण अपने को समझ नहीं पाता, सुतरां उसका जागरण भी नहीं हो पाता ।

प्रकृत प्रस्ताव से विशुद्ध आत्मा अनवच्छिन्न चैतन्य स्वरूप है और अशुद्ध आत्मा अवच्छिन्न चैतन्य जिसे हम लोग ग्राहक कहकर वर्णन करते हैं । विशुद्ध आत्मा ही वस्तुतः परमशिव हैं, समग्र विश्व उनका शरीर है । अनाश्रित शिव से प्रारंभ कर पृथ्वीतत्त्व तक सभी उनका शरीर है । अनवच्छिन्न चैतन्य और ग्राहक चैतन्य एक प्रकार के नहीं हैं । शुद्ध चैतन्यरूपी आत्मा किसी निर्दिष्ट रूप में विशिष्ट ग्राह्य के प्रति उन्मुख नहीं होती । जो इस प्रकार उन्मुख हो जाती हैं, उसी का नाम है ग्राहक । वह अवच्छिन्न चैतन्य है । उक्त ग्राह्य के द्वारा ही चैतन्य या प्रकाश अवच्छिन्न होता रहता है । अनवच्छिन्न चैतन्य का भान किस प्रकार का है ? निर्दिष्ट विशेष रूप से उसमें भान नहीं होता । परन्तु भान होता है सामान्य सत्ता में । इसी सामान्य का अनुसंधान ही उसका स्वभाव है । सर्वत्र अनुगत एक अखण्ड सत्ता का अनुसंधान ही उसका स्वभाव है । कोई भी आत्मा यदि अपने ग्राहकत्व निबंधन नियत दर्शनादि से मुक्त हो सके तो वह चैतन्यरूप में अपने को प्रकट कर सकती है । समस्त विश्व उस समय उसके शरीर के रूप में गण्य हो जाता है ।

शुद्ध आत्माएँ विभिन्न स्तरों में विद्यमान हैं । किसी आत्मा की अस्मिता-विषय को लेकर खेलती है, किसी की देह का सहारा लेकर, दूसरे किसी की इन्द्रिय अन्तःकरण प्राण या शून्य का सहारा लेकर कार्य करती हैं । शून्य ही सुषुप्तिरूपी माया है । अहं अभिमान होने के लिए देह में ही हो अथवा दृश्य में ही हो, ऐसी कोई बात नहीं है । देह बाह्य विषयों में अस्मिता होती है, पक्षान्तर से अदृश्य होने पर उसमें भी अहं अभिमान हो सकता है । असली बात यह है कि अहं अभिमान भी माया है । यह अहं अभिमान चिति अथवा संवित् को ही होता है, ग्राहक को नहीं होता । उसे किसी-किसी पद में धारण किया जाता है । अगर उसे छः अध्वा में धारण किया जाय तो शिवादि पृथ्वी तक सभी वस्तुओं को नित्य शुद्ध प्रत्यभिज्ञा के द्वारा अनुसंधान किया जा सकता है । ऐसी हालत में साधारण आत्माएँ भी अपने को विश्वरूप समझने के लिए मजबूर हो सकती हैं ।

एक बात और है । जिसमें चिति का दृढ़ अभिनिवेश अथवा अस्मिता रहती है, इसमें इच्छा मात्र से क्रिया का उत्पादन किया जा सकता है । अस्मिता अहं आकार का अभिनिवेश मात्र है । एक मात्र शिव की अस्मिता विश्व में सर्वत्र विद्यमान रहती है, कारण शिव ग्राहक नहीं हैं अर्थात् अवच्छिन्न प्रकाश नहीं हैं ।

यह जो अहंता है, यह विन्दु से शरीर तक वेष्टन किये हुए है । विन्दु है स्वरस वाहिनी, सामान्यभूता, सूक्ष्म अहं प्रतीति, जो ग्राहक, ग्रहण और ग्राह्यादि प्रतीति विशेष का पूर्ववर्ती है । प्राण है उसी सत्ता या अणु का नाम जो अभिमान अध्यवसाय आदि अन्तःकरण का क्षोभक । शक्ति है बुद्धि, अहंकार, मन इन्द्रिय और शरीर रूप में प्रसिद्ध । विन्दु से शरीर तक जो अहन्ता छः अध्वाओं को आवेष्टन कर कम्पित करता

है, उसी की धारणा चाहिए । भावना के द्वारा ही इस अहन्ता का विकास होता है। इसका नाम कर्तृत्व, ईश्वरत्व, स्वातंत्र्य, चित्स्वरूपता इत्यादि हैं । सिद्धि मात्र ही अहन्तामय है, इसलिए दृढ़ प्रत्यय होना आवश्यक है ।

(४)

सुप्त प्रमाता की प्रतीति किस प्रकार की है ? यह माया-मोहित है । ग्राहक चिदात्मक एवं ग्राह्य अचिदात्मक भी इससे भिन्न रूप में प्रतीत होती है । यद्यपि समग्र विश्व भुवनवालियाँ पूर्ण या प्रकाश के अन्तर में स्थित हैं, तथापि सुप्त-आत्मा सोचती है कि यह उससे बाह्य है । ये सब आत्माएँ भवी नाम से वर्णित होती हैं ।

जाग्रत कल्प प्रमाता प्रतीति किस प्रकार की है ? इसका नामान्तर भवपदी है । शुद्ध विद्यारूपी प्रमाता एवं सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त प्रमाता इसके अन्तर्गत है । ये न ठीक सुप्त हैं और न ठीक जाग्रत ही हैं । सुप्त नहीं हैं, कारण इनका भव या संसार नहीं है, चूँकि इनमें भेदज्ञान नहीं है इसलिए अभिन्न वस्तु में भिन्न प्रतीति नहीं है । किन्तु इतना होते हुए भी इनकी अवस्था उद्‌भव है । भव अर्थात् भेदज्ञान न रहने पर भी उसके संस्कार इनके चित्त में मौजूद है, कारण अन्तः संकल्प आदि आकार में भिन्नवत् प्रतीति शुद्ध विद्या के प्रभाव से, अथवा सम्प्रज्ञात-समाधि के कारण हो सकता है । इस अवस्था में अविवेक रहता है । इसके बाद विवेक ख्याति का उदय होता है और बाद में शुद्ध सत्ता का आविर्भाव होता है । यह अवस्था ठीक स्वप्न की तरह है । सुप्ति जरूर नहीं है, पर ठीक-ठीक जागरण भी नहीं हुआ है । ठीक-ठीक जागरण होने पर भेद का संस्कार रहना संभव नहीं होता । यह सब आत्मा धर्माधर्म के क्षय के कारण किसी-किसी दृष्टि से मुक्त-पुरुष के रूप में परिगणित होने पर भी ये वास्तव में मुक्त-पुरुष नहीं हैं । तंत्रशास्त्र में इन्हें रुद्राणु कहा गया है । वास्तव में ये सब पशु हैं । कर्म-संस्कार रहित होने पर भी ये संवित् श्रवण के अधिकारी नहीं हैं ।

अब जाग्रत अथवा प्रबुद्ध प्रमाता की अनुभूति की बातें बता रहा हूँ । इन सभी आत्माओं में भेद तथा अभेद के संस्कार मौजूद रहते हैं । ये सभी आत्माएँ जड़ वस्तु को इदंरूप में अनुभव करते हैं और पक्षान्तर से अहं वस्तु की प्रतीति भी अहंरूप में रहती है । सामान्याधिकरण्य के कारण अभेद आरोप होता है, इसलिए भेदांश ढक जाता है और 'इदं-अहं' रूप का अनुभव उदय होता है । इनके अनुभव से समग्र विश्व अपने शरीर के रूप में प्रतीयमान होता है । इस अवस्था में दो अनुभव युगपत् विद्यमान रहता है । इसी को ईश्वर-अवस्था कहा जाता है ।

सुप्रबुद्ध कल्प और सुप्रबुद्ध प्रमाता के अनुभव के बारे में अब बताया जा रहा है । इस अवस्था में इदं प्रतीति का विषयीभूत ज्ञेय पदार्थ अहंरूपी स्वरूप में निमग्न होकर प्रकट होता है । यह निमेष रूप में वर्णित होने योग्य है । ये सभी आत्माएँ अभेद ज्ञान अथवा कैवल्य प्राप्ति के कारण उद्‌भवी रूप में वर्णित हैं । ये अहंरूप स्वरूप में मग्न रहती हैं । यह अवस्था अहंभाव के द्वारा आच्छादित अस्फुट इदंभाव की दशा है, इसे हम सदाशिव-अवस्था मानते हुए ग्रहण कर सकते हैं । लेकिन यह स्मरण रखना होगा कि यह आत्मा की पूर्ण स्थिति नहीं है । इसके बाद पूर्ण स्थिति

का उदय होता है, किन्तु वह अस्थायी होती है । इस अवस्था में "निमेष और उन्मेष" दोनों रहते हैं । समुद्र के तरंगों में जिस प्रकार निमेष-उन्मेष दोनों रहते हैं, यह भी लगभग उसी प्रकार का है । प्रकाश सर्वदा रहता है, पर शिवादि विश्व का भान कभी रहता है और कभी नहीं रहता । जब भान रहता है तब प्रकाशात्मक रूप में उसका उन्मेष होता है । जब भान नहीं रहता है तब भी प्रकाश-स्वरूप में ही उसका निमेष होता है ।

इसके बाद वास्तविक पूर्णत्व का आविर्भाव होता है । यही स्थायी अवस्था है। पहले जिस पूर्णत्व की अभिव्यक्ति हुई थी, उसमें प्रकाश और निमेष का सम्बन्ध था। किन्तु इस वक्त वह नहीं है । इसका कारण यह है कि पहले मन रहने की वजह से निमेष और उन्मेष होते रहे । इस वक्त की स्थिति ठीक उन्मना है । उन्मना के कारण पूर्णात्मा की सिद्धि अचल है । इसी का नाम सिद्ध सुप्रबुद्ध अवस्था है । इस प्रकार योगी की इच्छा मात्र से ही अभिमत विभूति का आविर्भाव होता है । यही है आत्मा की पूर्ण जागरण अवस्था ।

(५)

अब विभूति अथवा सिद्धि के बारे में कुछ कहूँगा । सिद्धि नाना प्रकार की हो सकती हैं । कोई-कोई सिद्धि अर्थमूलक होती है । ये सिद्धियाँ निम्नस्तर की अथवा अपरासिद्धि हैं । कोई-कोई सिद्धि तत्त्वमूलक होती हैं । इन्हें उच्चस्तर की सिद्धि या परासिद्धि कहते हैं । प्रत्येक अर्थ के एक-एक कर्म है । इसे Cosmic Function (ऐहिक क्रिया) कहा जा सकता है । नित्य सिद्ध योगी जब जिस अर्थ में आत्म-भावना करता है, उस वक्त वह उसी अर्थ के रूप में स्वयं ही अवस्थित होता है और साथ-साथ तत्कर्म का निर्वाह हो जाता है । सूर्य, चन्द्र, बिजली, बादल, बज्र, समुद्र, पर्वत इत्यादि प्रत्येक का जो अर्थक्रियाकारित्व है, उसे योगी इसी क्षण में प्राप्त कर सकता है । जिस देवता, जिस अर्थ या प्रयोजन का वह सम्पादन करता है, इच्छा करने पर वही अर्थ उसी देवता में अहं अभिमान धारण कर पाने पर, क्षण मात्र में स्वयं ही प्रकट हो जाता है । इस प्रकार पृथ्वी से शिवत्व तक अहंभाव में अभिनिवेश निबंधन योगी तत्-तत् सिद्धि प्राप्त कर लेता है । माया तक जो-जो सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, उनके नाम हैं—गुहान्त सिद्धि। ये सब अपरासिद्धि हैं अर्थात् निम्नस्तर की सिद्धियाँ हैं । सरस्वती या शुद्ध विद्यादि सिद्धि परासिद्धि है । यह उच्चस्तर की सिद्धि है । इसके बाद सर्वसिद्धि के ऊर्ध्व में दो महासिद्धियाँ हैं ।

प्रथम महासिद्धि है सकलीकरण । कालाग्नि सदृश तीव्र ज्वाला के द्वारा छः अध्वरूपी पाश दग्ध होते हैं । इसके बाद अमृत द्वारा आप्लावन होता है । उसी समय इष्ट देवता का दर्शन होता है । इस अवस्था में शोधित समग्र अध्वा अर्थात् समस्त विश्व के गुरु पद का वरण होता है । वे जगद्गुरु हैं, वे समस्त विश्व के अनुग्राहक हैं । यह भी किन्तु अपूर्ण ख्याति है । इसके बाद जो द्वितीय महासिद्धि है, वही है पूर्ण ख्याति, अर्थात् परम शिवत्व की प्राप्ति । इस अवस्था में उनकी स्वयं की इच्छा के अनुसार भुवनादि की सृष्टि का अधिकार प्राप्त होता है । परम शिव का

पंचकृत्यकारित्व सर्वदा विद्यमान रहता है । स्मरण रखना होगा कि मुक्त शिव ही परम शिव के साथ अभिन्न होने के कारण पंचकृत सम्पादन के अधिकारी हैं । किन्तु अधिकारी होने पर भी वे कृत्य सम्पादन नहीं करते ।

यहाँ एक रहस्य की बात इशारे में बता रहा हूँ । सिद्ध-अवस्था में एक ऐसी स्थिति है जब योगी इच्छाशक्ति की उपेक्षा कर भक्ति की ओर उन्मुख होता है । तब जितने दिनों तक इच्छारूप में इच्छाशक्ति मौजूद रहती है, उतने दिनों तक लक्ष्य बाहर की ओर रहता है । किन्तु इच्छा के अन्तर्मुख होते ही भक्ति रूप में वह परिणत हो जाती हैं; उस वक्त योगी भक्त कुछ नहीं चाहते । एक मात्र उन्हीं को चाहते हैं । अपना कोई प्रयोजन सिद्ध करना उनका उद्देश्य नहीं होता । फिर भी उनकी चाह बिना किये रह नहीं पाते । शंकराचार्य ने कहा है— "सत्यपि भेदापगमे नाथ तबैवाहं" इत्यादि । यहाँ भी वही अवस्था है । इसे ही श्रीमद्‌भगवद् गीता में 'ज्ञानी भक्त' कहा गया है । ये ही श्रेष्ठ भक्त हैं, कारण ये ही नित्ययुक्त एवं भक्त हैं ।

आध्यात्मिक उत्कर्ष का क्रम-विकास

१. शास्त्र तथा महाजनों के वाक्यों से पता चलता है कि मनुष्य-देह अति दुर्लभ है। मनुष्य-देह प्राप्ति न होने तक पूर्णत्व लाभ एवं भगवत् सत्ता के साथ मिलन असंभव है । प्रकृति और पुरुष के संयोग से जीव और जगत् की सृष्टि हुई है । जीव चौरासी लाख योनि भेद कर दुर्लभ मनुष्य-देह प्राप्त करता है । इन चौरासी लाख योनियों में स्थावर एवं जंगम दोनों विद्यमान हैं । ये सभी जीव निम्नतम अवस्था से उच्चतम अवस्था तक प्रकृति के क्रम-विकास की धारा के अनुसार एक के बाद एक करके प्रकट हुए हैं। प्रत्येक जीव का देह विशिष्ट है, उसमें चिद् अंश आत्मा रूप में एवं अचिद् अंश देह रूप में विद्यमान है । क्रम-विकास के मार्ग पर देह के विकास के साथ-साथ भोक्तारूपी आत्मा का विकास संघटित होता है और भोक्ता के विकास के साथ-साथ भोगायतन देह का विकास होता जाता है । वेदान्त-दर्शन में अर्थात् उपनिषदों में यह विकास अन्नमय कोष से प्राणमय कोषों में समझना चाहिए । प्रति कोष में असंख्य जटिलता क्रमशः परिस्फुट होती हैं । प्राण का विकास होने पर भी देह का विकास पूर्ण नहीं होता । कारण मन का विकास आवश्यक है । प्राणमय कोष के विकास के फलस्वरूप मन का पूर्वाभास प्रकट हो जाता है, यह सच है, किन्तु यथार्थ मनोमय कोषों का विकास चौरासी लाख योनि भेद के न होने पर नहीं होता। मनोमय कोषों का विकास जिस देह में होता है, उसी का नाम है—मनुष्य-देह । चौरासी लाख योनि का भेद न करते-करते विभिन्न स्तर पर विशिष्ट अन्नमय और प्राणमय कोषों का विकास सिद्ध होता है । इन सब जीव देहों में मन का विकास नहीं रहता, इसीलिए आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग नहीं खुलता । मनुष्य-देह प्राकृतिक क्रम-विकास का श्रेष्ठ दान है ।

२. मनुष्य-देह का गौरव सभी धर्मों में स्वीकृत हुआ है । ईसाई लोग कहते हैं— God Created Man After His Own Image.

इससे समझ में आता है कि साकार भगवान की आकृति मनुष्य की आकृति के अनुरूप है । वृहदारण्यक उपनिषद में आत्मा को पुरुषाकार कहा गया है । मनुष्य-देह में मनोमय कोषों का विकास होता है, यह पहले ही कहा जा चुका है । मनोमय कोषों से संश्लिष्ट षट्चक्रादि चक्र और केन्द्र समूह मनुष्य के देह में ही विकसित होता है । मनोमय कोष उद्भूत होने के बाद धीरे-धीरे इसका क्रमिक विकास होता रहता है । विवेक और विचार शक्ति पशु से मनुष्य को उत्कर्ष प्रदान करती है । यह शक्ति भी मनुष्य-देह में ही उन्मेष प्राप्त करती है । पर यह स्मरण रखना होगा कि मनुष्य-देह का आविर्भाव होने पर उससे सर्वांगीण पूर्णता प्राप्त करेंगे, ऐसी कोई बात नहीं है ।

३. प्रथम अवस्था में मनुष्य की आकृति पशु से श्रेष्ठ होने पर भी उसकी प्रकृति पशु के अनुरूप ही रहती है । काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि पाशविक वृत्ति मनुष्य-देह में प्रथम अवस्था में रह जाती है, फिर क्रमशः यह सब वृत्ति क्षय होते-होते वास्तविक मनुष्य-भाव का उदय होता है । पाशविक अवस्था में मनुष्य जीवन में नैतिक आदर्शों का मूल्य नहीं रहता । यद्यपि नैतिक उत्कर्ष के बीज मनुष्य-देह में निहित है, तथापि उसका विकास काल तथा साधना के अधीन है । इसलिए प्रथम अवस्था में मनुष्य जीवन का प्रधान लक्ष्य नैतिक जीवन का उत्कर्ष होना चाहिए । योगशास्त्र के अनुसार ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य आदि यम नैतिक धर्म के अन्तर्गत है । यही सार्वभौम धर्म है। सर्ववर्ण और सर्वाश्रम के लिए अधिकार के अनुसार इनका पालन आवश्यक है। धर्म-जीवन की नींव इसी नैतिक उन्नति पर प्रतिष्ठित है । बौद्धों ने शील, समाधि और प्रज्ञा इन तीन हिस्सों में साधन-जीवन का विभाग किया है । पंचशील अथवा दसशील का अभ्यास साधन-जीवन का मूल स्तम्भ स्वरूप है । इसमें देश या काल का कोई बंधन स्वीकृत नहीं होता । यही सार्वभौम धर्म है ।

४. प्रतिवर्ण और प्रतिआश्रम का यही अन्तरंग साधन है । इस अवस्था में निष्काम कर्म की व्यवस्था योग्य अधिकारी के लिए गृहीत हुआ है । गीता इस निष्काम धर्म का प्रतिपादक श्रेष्ठ ग्रंथ है । निष्काम कर्म में एक ओर जिस प्रकार व्यक्तिगत कल्याण सिद्ध होता है, उसी प्रकार दूसरी ओर सामाजिक कल्याण की पुष्टि होती है। फलाकांक्षा को वर्जन कर शुद्ध रूप से कर्म करने पर कर्म का बंधन कट जाता है और चित्त निर्मल होकर प्रकट होता है । ऐसी अवस्था में आत्मा एवं पराया इन दोनों में निगूढ़ भेद क्रमशः शिथिल हो जाता है एवं कर्तृत्व अभिमान धीरे-धीरे क्षीण होता रहता है । जिन ग्रंथियों के द्वारा जीव आबद्ध है, उनमें अहंकार-ग्रंथि प्रधान है । प्रकृति के गुण से ही कर्म सम्पन्न होता है, किन्तु कर्त्ता अहंकार विमूढ़ रहने के कारण भ्रमवश वह सोचता है कि सभी क्रियाएँ उसके द्वारा सम्पन्न हुई हैं । मनुष्य की क्रिया अभिमान के अधीन होने कें कारण जबतक अभिमान की निवृत्ति नहीं होती तबतक मनुष्य अपने को कर्त्ता समझने को बाध्य होता है ।

५. निष्काम कर्म के अनुष्ठान के समय भी साधक का कर्तृत्व अभिमान रहता है, इसीलिए वह कर्म करने में समर्थ होता है, किन्तु निष्काम कर्मो में फलाकांक्षा नहीं रहने के कारण उसका चित्त निर्मल होता है और इसकी सभी ग्रंथियाँ शिथिल हो जाती हैं । जब अल्प मात्रा में अभिमान रहता है तब श्री भगवान् कृपापूर्वक साधक जीव

को आश्वास प्रदान करते हैं । फलस्वरूप जीव सभी प्रकार के कर्मानुष्ठान से विरत होता जाता है और श्री भगवान् के निर्देशानुसार एक मात्र उन पर निर्भर होकर रह जाता है । भगवत् आदेश का तात्पर्य यह है कि जीव दूसरी ओर लक्ष्य न रखकर एक मात्र उन्हीं को सर्वमूल मानकर विश्वास कर ले एवं उनकी शरण में जाकर उन पर भरोसा कर सके तो वे जीव को सभी पापों से मुक्ति दिला देते हैं ।

६. श्री भगवान् का आश्रय प्राप्त होने पर जीव को चित्त-शुद्धि के लिए कर्मकाण्ड का सहारा लेना नहीं पड़ता । वे स्वयं ही जीव को सभी पापों से मुक्त कर देते हैं। इसी को "एकायन" मार्ग कहते हैं । तब भगवान् जीव के सभी योगक्षेम वहन करते हैं । जीव साक्षीरूप या द्रष्टारूप में उनके सहारे उनकी सभी लीलाओं का दर्शन करता है । इस समय जीव द्रष्टा होता है और भगवान् कर्त्ता । इस अवस्था में जीव का पृथक स्वकीय कोई कर्त्तव्य नहीं रहता, कारण भगवान् ने स्वयं ही अनुगत जीव के सभी प्रकार के दायित्व को ग्रहण कर लिया है । यही वास्तविक अध्यात्म जीवन Spiritual Life या नैतिक जीवन Moral Life से अनेक स्तर ऊपर स्थित है । इस परिस्थिति में भगवान् की क्रिया-शक्ति साधक में अगाध रूप से क्रिया करती रहती है। कृपाशक्ति साक्षात् भगवत्-शक्ति है । वह जीव को शोधित करके अपना बना लेती है । इस अवस्था में जीव की सारी मलिनता दूर होकर उसका विशुद्ध चिन्मय स्वरूप प्रकट हो जाता है । इस परिवर्तन के फलस्वरूप जीव का देह, मन, प्राण, यहाँ तक कि बुद्धि भी संस्कार प्राप्त कर चिन्मय शक्ति के पूर्वाभास के रूप में कार्य करती हैं, उस वक्त जीव के स्वरूप का आमूल परिवर्तन हो जाता है, केवल देह या इन्द्रियों की ओर से नहीं, उसका मन, बुद्धि, अहंकार भी उस वक्त चिन्मय रूप में आत्मप्रकाश करता है । इस प्रकार जीव की देह से अहं सत्ता तक सभी उपकरण अचित् रूप से मुक्त होकर चिन्मय भाव में परिवर्तित हो जाता है । इसके बाद चिन्मय आकार सम्पन्न जीव, जीव रूप में परिगणित नहीं होता । इस अवस्था की प्राप्ति के बाद जीव का प्राकृत शरीर दिव्य-शरीर के रूप में प्रस्तुत हो जाता है । यह परिस्थिति जीव के अमृतत्व प्राप्ति का पूर्वाभास है । कुण्डलिनीरूपा तन्द्राच्छन्न चित्शक्ति तन्द्रा से मुक्त होकर साक्षात् चिदानन्दमयी रूप धारण कर अवस्थान करती है । इस अवस्था में जीव तथा उसके देह का Integration युग्मन पूर्ण होता है ।

७. नैतिक-जीवन के बाद आध्यात्मिक-जीवन का यही रहस्य है । आध्यात्मिक-जीवन की प्राप्ति के पश्चात् यदि भगवत्-अनुग्रह अक्षुण्ण रहे तो दिव्य-जीवन का सूत्रपात होता । इस अवस्था में प्रकृति की क्रिया नहीं रहती और न माया का ही प्रभाव रहता है । एक चिन्मय लोकोत्तर दिव्य सत्ता मात्र मौजूद रहती है ।

८. सुतरां स्मरण रखना होगा कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए सर्व प्रधान अन्तराय कर्तृत्व अभिमान है । इस अभिमान के विगलित हो जाने के बाद कुण्डलिनी रूपा महाशक्ति अनादि सुषुप्ति से उद्‌बुद्ध होती है एवं क्रमशः ऊर्ध्वगामी होकर सहस्रार की ओर अग्रसर होती है एवं वहाँ अमृत विन्दु को विगलित कर अपनी दैहिक और मानसिक उपादानों को विशुद्ध करती है । इसकी परिणति परा भागवती-शक्ति का उन्मेष है । अध्यात्म-जीवन के ये तीन मुख्य क्रम साधु मात्र के लिए नित्य स्मरणीय

है । इस प्रकार क्रमशः नैतिक-जीवन से अध्यात्म-जीवन में, अध्यात्म-जीवन से दिव्य-जीवन में परिणति प्राप्त होता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि अध्यात्म-जीवन का उत्कर्ष एवं अध्यात्म-जीवन से दिव्य-जीवन की श्रेष्ठता स्वभावतः परिणति प्राप्त करती है । नैतिक-जीवन में कर्त्ता जीव अपने को कर्त्ता रूप में अभिमान करता है । किन्तु अध्यात्म-जीवन में अहंकार निर्मूल होने के कारण देहाभिमान स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हो पाता और उसके फलस्वरूप चिद्-अभिमान जाग उठता है । इसके बाद वाली अवस्था में अध्यात्म-जीवन से भी दिव्य-जीवन में रूपान्तर हो जाता है । दिव्य-जीवन की परिणति पूर्ण अहंभाव का सम्यक विकास है ।

६. चौरासी लाख योनि में अहंभाव के विकास के उपयोग से उपादानों का संग्रह अत्यन्त सूक्ष्म भाव से जरा-जरा हो रहा था । इसके बाद मनोमय कोष के विकास के साथ-साथ मनुष्य-देह प्राप्ति के फलस्वरूप प्रकृत अध्यात्म-जीवन की प्राप्ति की सूचना मिलती है । इसके बाद अध्यात्म-जीवन में रूपान्तर की अभिव्यक्ति के साथ-साथ दिव्य-जीवन प्रारंभ हो जाता है । दिव्य-जीवन की पूर्ण परिणति "सोहं" भाव या "पूर्णाहं" बोध है । इसके बाद अवस्थान्तर संभव नहीं है । यही है—"साकाष्ठा स परागतिः ।" मनोमय कोष के बाद विज्ञानमय कोष के विकास के समय अध्यात्म-जीवन एवं आनन्दमय कोष के विकास के साथ-साथ दिव्य-जीवन प्रारंभ हो जाता है, जान लेना चाहिए ।

जीव का आविर्भाव और पूर्णत्व लाभ—एक दृष्टि

अन्यान्य धर्मों की भाँति शाक्त-धर्म का भी एक अन्तरंग और एक बहिरंग दिशा है एवं इन दोनों दिशाओं के अन्तराल में एक मध्य विभाग भी है । केवल यही नहीं, जो साधना के नाम से परिचित है, वह प्रत्येक दिशा में है । अन्तरंग-साधना में जिस प्रकार साधक और साध्य हैं, उसी प्रकार बहिरंग-साधना में साधक और साध्य हैं । स्वभावमूलक अधिकार के अनुसार साधना का मार्ग निर्दिष्ट होता है । इसलिए साधक मात्र पथिक है, पर सभी के पथ एक जैसा नहीं है । इसके अलावा प्रति विभाग में प्राकृतिक नियम से दृष्टिगत वैचित्र्य देखने में आता है । इसी वजह से अन्तरंग-साधना में भी जिस तरह प्रकारगत भेद है, बहिरंग-साधना में उसी तरह है । इसका मूल कारण "रुचीनां वैचित्र्यात्" मनुष्य की रुचिगत विचित्रता । इसीलिए प्रकृति-भेद से लक्ष्य में भेद होते हैं और मार्ग में भी भेद होते हैं । किन्तु रुचि निरपेक्ष अखण्ड दृष्टि से देखने पर कहना पड़ेगा कि परमार्थता-लक्ष्य एक के अलावा दूसरा नहीं है । किन्तु सामर्थ्य भेद के कारण रुचि का भी अधिकार भेद होने के कारण मार्ग भी नाना रूपों में प्रतिभात होते हैं । इस लेख में अन्तरंग-शक्ति की एक प्रकार की बातें बताने की मेरी इच्छा है ।

सर्वप्रथम लक्ष्य अथवा महाशक्ति के स्वरूप पर विवेचना करूँगा । इस स्वरूप की दो दिशाएँ हैं । एक ओर से देखने पर यह परम प्रकाशमय, निरपेक्ष, आत्मस्वरूप

मात्र, अपरिच्छिन्न सत्तास्वरूप एवं अखण्ड भाव मात्र है । किन्तु उसमें कुछ भी प्रतिभात नहीं हो रहा है, मानो चिदात्मक एक अनन्त दर्पण पड़ा हुआ है जिसमें कोई भी चित्र भासमान नहीं हो रहा है। मानो केवल दर्पण ही है, अपने आप और कुछ भी नहीं है । यही है निराभास चैतन्य—विश्वातीत चित् सत्ता । इसे कोई-कोई आचार्य अखण्ड, अनन्त सत्ता, समुद्र में केवल चित्कला का प्रवेश कहते हैं । यह कला मानो कलातीत के साथ एकाकार होकर स्थित हो गया है । यही परम साक्षीस्वरूप, यही स्वप्रकाश द्रष्टा है ।

अपने को स्वयं देख रहा है । भिन्न दृश्य कुछ भी नहीं है । यह कला होने पर भी अस्पन्द एवं शक्ति होने पर भी शिवस्वरूप है । कलातीत सत्ता चित्कला का कभी त्याग नहीं करता । अगर करता है, इस बात को स्वीकार कर लिया जाय तो उसे कलातीत अचित कहकर असत् या असत् कल्प रूप में वह वर्णित होता है । यह चित् कला स्पन्दहीन होने पर भी अचिन्त्य रूप में स्पन्दनशील है । चित्कला की यह स्पन्दनशीलता ही महाशक्ति की अपर एक दिशा है । इस स्पन्दन के प्रभाव से इसमें निरन्तर संकोच और प्रसार नामक दो व्यापार चल रहे हैं । जिस प्रकार कलातीत सत्य है, चित्कला उसका नित्य का साथी है, उसी प्रकार चित्कला भी सत्य है, संकोच-प्रसार उसके नित्य के साथी हैं । पक्षान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि संकोच-प्रसार सत्य है, चित्कला उनका साथी है । एक को छोड़कर दूसरा रह नहीं सकता । चित्कला तो अमृतकला है, संकोच-प्रसार तो उसका आश्रय लेकर कलनात्मक काल की लीला रूप में प्रकाश पा रहा है । किन्तु कलनात्मक काल के अलावा कलनहीन महाकाल का एक परमरूप है—वह काल होकर भी काल नहीं है एवं काल न होकर भी काल है ।

संकोच-प्रसार के मूल में है चित्कला की स्वातंत्र्यमयी लीला—यह उसका स्वभाव है । चित्कला जब प्रसृत होती है तब उसमें आभास खिलता है । प्रसार की जो पूर्णता है तदनुरूप प्रसारमय समग्र विश्व उसमें उतराने लगता है । यह प्रसार क्रमशः होता है और अक्रम से एक ही क्षण में हो जाता है—दोनों ही संभव है । अक्रम स्थल के चिद् दर्पण में पूर्ण आभास विद्यमान रहता है । शाक्तों ने इसे महासृष्टि कहा है । यह खण्ड सृष्टि नहीं है, क्रमशक्ति सम्पन्न काल की क्रमिक सृष्टि भी नहीं है—यह है महाकाल की महासृष्टि । वास्तव में यह सृष्टि होकर भी सृष्टि नहीं है—नित्य वर्तमान है । यह चित् से पृथक कुछ नहीं है, चित् का आभास वाला क्षेत्र विश्वात्मक और निराभास वाला क्षेत्र विश्वातीत है । वास्तव में निराभास चित् में, निराभास दशा में भी नित्य साभास दशा विद्यमान रहता है । इसीलिए ब्रह्म उभय लिंग है—नित्य निर्गुण होकर भी नित्य सगुण एवं नित्य निराकार होकर भी नित्य साकार है । चिद्रूपा महाशक्ति में विश्व तैर रहा है, यह सत्य है जबकि तैर नहीं रहा है, यह भी सत्य है। यह एक पहेली है ।

जिसे हम सृष्टि और संहार कहते हैं, वह काल की लीला है, इसीलिए क्रमयुक्त है, किन्तु परिच्छिन्न प्रमाता के निकट है, स्वरूपतः नहीं है । चित्कलायुक्त शिव परप्रमाता, परिच्छिन्न या खण्ड प्रमाता नहीं है । परप्रमाता प्रकाश और विमर्श का

मिलित रूप होने के कारण पूर्ण अहं है—परमेश्वर या परमेश्वरी। कलातीत और चित्कला एक ही साथ अभिन्न स्वरूप में स्थित है—उसमें चित्कला अस्पन्द होने पर भी निरन्तर स्पन्दन लीलाशील है, उसकें अहं में अनन्त शक्ति का समाहार है।

जब परप्रमाता अपरिच्छिन्न रहते स्वेच्छावश या लीलावश अपने को परिच्छिन्नवत् प्रदर्शन करती हैं तब उक्त परिच्छिन्न अहं के सामने उनके प्रतियोगी के रूप में इदं का प्रतिभास होता है। इस प्रतिभास में क्रम रहता है। कारण यह काल का आश्रय लेकर होता है। इसे एक हिसाब से आत्मा का Self-Alienation आत्मविरक्ति कहा जा सकता है। आत्मा उस वक्त स्वयं ही अपने लिए पराया बन जाती है—यही है परप्रमाता का सर्वोच्च संकोच ग्रहण और फलस्वरूप चिदणुभाव की प्राप्ति। यही चिदणु परिच्छिन्न प्रमाता, माया प्रमाता, खण्ड अहं, आदिम अहं आदि जीव प्रभृति नाम से अभिहित होते हैं। इसके सामने इदम् रूप में सर्वप्रथम जो प्रकाशित होता है, वह शून्य आकाश है। इसे कुछ लोग चित्ताकाश के रूप में वर्णन करते हैं। पर यह चिदाकाश नहीं है, यह सत्य है। आगे जिस महासृष्टि के बारे में कहा जा चुका है, जो चित्-सत्ता में दर्पणस्थ प्रतिविम्बवत् प्रतिभासमान होती है और जिसका नाश नहीं है, यह वही है। निराभास चैतन्य दशा में उसकी उपलब्धि नहीं होती। यह आभास रूपी विश्व का दर्शन जब अभेद में संघटित होता है तब वही किसी-किसी के निकट भगवद्-दर्शन के रूप में गृहीत होता है। यह अभेद सर्वज्ञत्व की अवस्था है। किन्तु यह दर्शन भेद में भी हो सकता है। अर्जुन का विश्व-दर्शन, योगवाशिष्ठ में वर्णित लीला का विश्व-दर्शन, Dante का Divine Comedy में वर्णित Sempiternal Rose अनन्त पुष्प का दर्शन—यह सब भेद सृष्टि के दर्शन मात्र हैं, यह महासृष्टि के दर्शन नही हैं।

आत्मा से भिन्न रूप में जगत्-दर्शन परिमित प्रमाता का दर्शन, परप्रमाता का दर्शन नहीं है। परप्रमाता समग्र विश्व को अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में, आत्मस्थ प्रतिविम्ब रूप में दर्शन करता रहता है। अणुभाव के साथ-साथ चित् महामाया में सो जाती है—इसी का नामान्तर है—कालराज्य में प्रवेश। काल की दृष्टि से यही अनादि सुषुप्ति है। यह अनादि होने पर भी वास्तव में इसकी जड़ में है आत्मा का स्वातंत्र्यमूलक संकोच ग्रहण। इस सुषुप्ति के बाद जागरण होता है, अवरोह क्रम से माया भेद के बाद। उस वक्त चिदणु खेचरी चक्र द्वारा नियंत्रित होकर मित प्रमाता सजता है अर्थात् अल्पज्ञ, अल्पकर्त्ता, देशावच्छिन्न, कालाविच्छिन्न और सर्वदा अभाव बोध के द्वारा क्लिष्ट प्रतीत होता है। आत्मस्वरूप की अख्याति या अज्ञान महामाया रूप में वर्णित है। पशुभाव या जीवभाव इसके बाद होता है। परावाक् इस आदि जीव को महासृष्टि मूलक खण्ड-खण्ड अर्थ प्रदर्शन करती है। ये सब विकल्प और क्षणस्थायी हैं—निरन्तर चित्तक्षेत्र में इनका आना-जाना होता है। वेदान्त शास्त्र में ये ही अविद्या के विक्षेपवृत्ति हैं। इसके बाद आता है कर्म, उस वक्त देह भी दिखाई देने लगती है। अणु उसमें प्रवेश करता है। देह कर्म सृष्ट है। श्रुति में है—"तत् सृष्टवा तदेवानुप्राविशत्"। पहले था आत्मा में अनात्म भाव या इदम् भाव, इसके बाद देह में अहंभाव या अनात्मा में आत्माभाव होता है। इसकी जड़ में है

शब्द, वर्गशक्ति और वर्णमाला की लीलाएँ । पश्यन्ती भूमि में अवरोहण काल में, आत्मा में अनात्म भाव की सूचना होती है, मध्यमा में सूक्ष्म में प्रवेश होता है और वैखरी में स्थूल भाव का उदय होता है । उस वक्त भौतिक देह में अहंत्व का उदय होता है । अब प्रथम बार बाह्य जगत् का दर्शन होता है । यह जो बाह्य जगत् या पूर्वोक्त महासृष्टि का एक देश है, यह देहावच्छिन्न अहम् की बहिर्मुखी दृष्टि के सामने तैरता रहता है । इसी का नाम है पतन । यह आत्मा की पंचकृत्यकारिणी पंचशक्ति के अन्तर्गत तिरोधान शक्ति का चरम फल है ।

अब इस विषय की पुनरालोचना प्रसंग में, परिस्फुट रूप में संक्षेप में वर्णन कर रहा हूँ । मूल में—परमशिव—उस वक्त विशव उनके साथ अभिन्न है । इसके बाद स्वातंत्र्यमूल में आणव भाव की प्राप्ति होती है । यह अणु की सुप्तावस्था है । यही है महामाया या स्वरूपाख्याति । प्रचलित भाषा में यही है कुण्डलिनी की सुप्ति । इसके बाद माया के स्पर्श से सुप्ति भेद और जाग्रत भाव का उदय होता है । इसी समय चित्त का आविर्भाव होता है एवं स्वरूप से भिन्न रूप में विश्व का बोध होता है और मायिक कंचुक का सम्बन्ध होता है । महान् और अणुभाव इस अवस्था में प्रस्फुटित होता है । महान् समग्र विश्व को देख पाता है, किन्तु भिन्न रूप में । अणु विश्व का किंचित अंश देख पाता है, वह भी भिन्न रूप में । इसी समय विकल्प का उदय होता है, क्षण-क्षण में नव-नव उन्मेष प्रकट होते हैं । इस नाटक के सूत्रधार के रूप में परावाक् सब दिखा देती है । मित प्रमाता उसे देखकर मुग्ध होते हैं । इसके बाद वही शब्द ही नाद रूप में प्रकट होता है । उस वक्त सर्वत्र आकाश ही आकाश रहता है । इसके बाद वही नाद खण्डित होकर वर्णमाला के रूप में प्रतिभात होता है । देह-रचना का यही समय है । माया के बाद कर्म की सूचना यहीं से होता है । सहस्रार में समष्टि वर्ण अहं के रूप में रहता है, नीचे रहता है चक्र में चाक्र । यहाँ अहं नहीं है, अहंकार है । सहस्रार सहस्रदल अर्थात् अनन्त दल, उसमें अनन्त वर्ण हैं । केन्द्र में शिव शक्ति हैं । प्रत्येक वर्ण का अपना-अपना दल है । उसमें अपने निजी चक्रों का विस्तार होता है । मध्यमा से वर्ण आरंभ होता है, किन्तु अस्पष्ट । वैखरी भूमि में वर्ण स्पष्ट होता है । मनुष्य का देह वर्ण से परिपूर्ण है । सब कुछ की रचना के मूल में वर्ण है । कलना, संकल्प, वृत्ति, भाव, संस्कार, वासना, स्वभाव, सब कुछ वर्णमूलक है, सर्वत्र वक्र वायु के खेल हैं । ये सब शुद्ध वर्ण नहीं हैं । सहस्रार का वर्ण शुद्ध है, कारण वहाँ वायु की वक्रता नहीं है । जहाँ वर्ण है, वहीं राज्य है—प्रवेश करने पर भीतर पाया जाता है—नाद, केन्द्र में मिलता है विन्दु । विन्दु का भेद करने पर महाकाश मिलता है ।

सहस्रार में भी चारों ओर वर्ण है । केन्द्र के मार्ग में महानाद या परनाद है और केन्द्र में विन्दु, यही विन्दु ही ब्रह्मविन्दु है—भगवत्-धाम का केन्द्र, भगवत् धाम अभिन्न विश्व है । मातृगर्भ में देह की रचना होती है, वर्ण के द्वारा अर्थात् प्रणव के द्वारा या रश्मि के द्वारा । जीव वास्तव में निज देह की रचना स्वयं ही करता है, बाद में उसमें अहंबोध करबद्ध हो जाता है । स्थूल दृष्टि से यही है अहंबोध का सूत्रपात—प्रसव के बाद, प्राथमिक श्वास ग्रहण के साथ-साथ । यही है देहात्म बोध का रहस्य ।

शाक्त दृष्टि से अनात्मा में, आत्मबोध के मूल में वर्ण अथवा अशुद्ध मातृका की क्रिया है । पक्षान्तर से आत्मा में आत्मबोध अथवा अहंबोध के मूल में शुद्ध मातृका की क्रिया है । आत्मा में जो आत्मबोध होता है, वह उक्त शुद्ध मातृका के प्रभाव से ही होता है । जिसे भगवान् की स्वातंत्र्य-शक्ति की लीला कहा जाता है, यह उसी का स्वरूप है ।

अवतरण के क्रम हैं (फिर नहीं भी है) पर यह बौद्ध क्रम है, कालगत क्रम नहीं, किंवा देशगत क्रम भी नहीं है । अवतरण के समय यह क्रम साधारणतः अलक्षित रहता है और उत्थान के समय दिखाई देता है ।

पहले स्फुरित होता है ज्ञाता या प्रमाता । इसके बाद ज्ञान या प्रमाण और सबके अन्त में ज्ञेय या प्रमेय । परमेश्वर अवश्य परम प्रमाता और सर्वज्ञाता हैं । वहाँ उनका ज्ञान नित्य सिद्ध एवं ज्ञान भासमान ज्ञेय नित्यसिद्ध है, वस्तुतः वहाँ तीनों अभिन्न या एक हैं । यही है पराशिवावस्था में भगवान् की विश्वात्मक स्थिति । भगवान् की जो विश्वातीत स्थिति है, उसे ही साधारणतः निर्गुण ब्रह्म कहकर वर्णन किया जाता है । उक्त निर्गुण विश्वातीत स्थिति से समग्र सृष्टि प्रपंच अनिर्वचनीय माया की लीला के रूप में प्रतीत होता है । इसीलिए यह मिथ्या या विवर्त्तमात्र हैं । ब्रह्म कर्त्ता नहीं है, मायिक प्रपंच के अधिष्ठान मात्र हैं । इस सृष्टि में ईश्वर हैं, जीव है, जगत् है, और है काल, कर्म, अविद्या आदि प्रवाह रूप में । ब्रह्म में कुछ नहीं है, जबकि माया के कारण उसमें सब कुछ तैरता रहता है । किन्तु विश्वात्मक परमशिव में अभिन्न भाव में विश्व सर्वदा रहता है । स्वातंत्र्य के कारण वह उससे पृथक रूप में भी तैर सकता है । जो कुछ तैरता है, वह उससे अभिन्न रूप में भी सदा तैरता है, किन्तु उनकी इच्छा होने पर वह पृथक रूप से तैर सकता है । यही सृष्टि का रहस्य है । यह झूठ नहीं है, कारण उसमें अभिन्न रूप में यह सदा मौजूद है । इसीलिए कहा जाता है कि समग्र विश्व शक्ति रूप में उनके साथ अभिन्न है, उनकी इच्छा से सृष्ट या विसृष्ट मात्र होता है । जो उसमें नहीं तैरता, उसका स्फुरण अलग से नहीं हो सकता ।

ऊपर अवतरण के क्रम के बारे में जो कुछ कहा गया, इस पर गौर करना आवश्यक है कि स्वतंत्र चिति ही विश्वसिद्धि का कारण है । शक्ति सूत्रकारों ने भी यही कहा है । इससे प्रतीत होता है कि सभी के आदि में अर्थात् त्रिपुटी रूप विश्व रचना के प्राक्काल में जो विद्यमान था, वही प्रमिति या संवित् है । पहले इस पूर्ण संवित् या चित्शक्ति से खण्ड प्रमाता या चिदणु का उदय होता है । यह ज्ञानहीन ज्ञेयहीन ज्ञाता का मूलस्वरूप है । इसके बाद उक्त ज्ञाता से ज्ञान का उदय होता है। उस समय की स्थिति ज्ञाता और उसका ज्ञान है । यही ज्ञान अभेदात्मक (वर्ण) है, इसके बाद भेदभेदात्मक (मंत्र) और अन्त में भेदात्मक (पद)—ये तीन प्रकार के हैं जान लेना चाहिए । यह वर्ण रूप अभेद ज्ञान भी पूर्वोक्त संवित् ठीक एक नहीं है। मंत्ररूप ज्ञान में ज्ञेय का भान रहता है । यह अभेद में भेद का उन्मेष है समझना चाहिए । पदरूप ज्ञान में भेद की प्रधानता रहती है, किन्तु याद रखना होगा कि वह भी ज्ञान है, यद्यपि वह ज्ञेय के रूप में प्रतिभासमान होकर रहता है । इसके बाद

ज्ञान के अवसान पर अज्ञान में क्रियाशक्ति का खेल आरंभ होता है । उस वक्त केवल ज्ञेय मात्र रहता है, ज्ञान नहीं रहता । तंत्र मत से यही है वाचक अध्वा से वाच्य अध्वा में प्रवेश । क्रियाशक्ति कलना के रूप में ज्ञेयरूपी ज्ञान को बाहर कर देती है, इसी का नाम है अर्थसृष्टि या Matter का आविर्भाव । इसकी प्रगति के क्रम हैं । पहले कलन के प्रभाव से कला का आविर्भाव होता है और अन्त में तत्त्व से भुवन का आविर्भाव होता है । यहीं अर्थ का अवसान हो जाता है । यही है थोड़े में जगत् के स्वरूप की आलोचना ।

आरोह क्रम ठीक इसके विपरीत है । अवतरण क्रम के बारे में जीव जान नहीं पाता, पर उद्धार का क्रम जान पाता है । इससे यह समझ में आता है कि भगवान् की तिरोधान-शक्ति ही उनका आत्मसंकोचन संपादन करती है । प्रचलित भाषा में यही है—कुण्डलिनी की सुप्ति । यह बात पहले ही कहा गया है । इसका ऊर्ध्व प्रान्त है अणुभाव का उदय एवं आत्मा में अनात्मभाव का स्फुरण । इसका अधः प्रान्त है, अनात्मभाव में आत्मभाव का उन्मेष । मनुष्य गर्भ से भूमिष्ठ होने के साथ-साथ अस्फुट भाव में होने पर भी देह अहंबोध करने लगता है, यही है अहंकार । देह ही उस वक्त अहं होता है, उस समय दृष्टि बहिर्मुखी होती है और इन्द्रियों के द्वारा अहंरूपी आत्मा बाह्य जगत् का अनुभव करता है । देहाभिमानी होने के कारण जगत् को अपने से भिन्न अनुभव करता है । यही अनुभव भोगरूप है । यही बाह्य जगत् की सृष्टि है । एक हिसाब से यह बाह्य-जगत् जीव की निजी सृष्टि है । जितने दिनों तक इस जगत् को अपने अन्तर्गत रूप-दर्पण में दृश्यमान नगरी की भाँति देख नहीं पाता, उतने दिनों तक वह पतित रहता है और पतित ही रहेगा । भले ही इसमें दीर्घकाल लगे और वह लोक-लोकान्तर में संचरण करे, वह वास्तव में पतित है—इसमें संदेह नहीं। शुभ कर्म के फल से लोक-लोकान्तरों में जाकर भोग-ऐश्वर्य का आनन्द लेने पर भी वह पतित बना रहता है । बिना सद्गुरु के उसका उद्धार होना संभव नहीं है ।

आत्मा जब जीव बनकर पतित होता है तब प्रत्येक स्तर में भगवत्-शक्ति उसकी पतित-अवस्था के अनुरूप सहायता करते हैं अर्थात् भगवत-शक्ति उसके प्रतिकूल रूप में कार्य करती है । वास्तव में आत्मा की निजी शक्ति ही आत्मा को मोहित करके रखती है । ये सब चक्र के रूप में नियंत्रित करते हैं । कुछ शक्तियाँ जिन्हें खेचरी-शक्ति कहा जाता है, खेचरी चक्ररूप में आवर्तित होकर उसे मित प्रमाता के रूप में परिणत करती हैं । सभी दिक्चरी शक्तियाँ दिक्चरी चक्र के नाम से आवर्त्तित होकर उसके अन्तःकरण के रूप में प्रस्फुरित होती हैं । इसी प्रकार गोचरी शक्तियाँ गोचरीचक्र नाम धारण कर उसकी इन्द्रियाँ रूप में परिणत होती हैं । भूचरी शक्तियाँ भूचरीचक्र के नाम से उसकी देह में अहंरूप को आबद्ध करती हैं । विशाल और अनन्त मुक्त सत्ता में अहं प्रतीति का उदय भूचरीचक्र के द्वारा प्रतिरुद्ध होती है ।

इस प्रकार जीव जब पाशबद्ध होता है तब Dumb Driven Cattle हांकी गई गूंगी भेड़ों की तरह होने के कारण पशु पदवाच्य होता है । इस पशुरूपी जीव का उस समय की अनुभूति किस प्रकार की होती है ? इस प्रकार बद्ध पशु जगत् को निज सत्ता से पृथक है, इसे जानता तथा भिन्न देखता है । केवल यही नहीं, सर्वत्र उसमें एक नियत

भाव रहता है जिसे शाक्त आचार्य विकल्प के नाम से निर्देश करते हैं । जिस प्रकार एक फूल देखकर उसे फूल के रूप में ग्रहण करते हैं अर्थात् वह फूल ही है, अन्य कुछ नहीं, इस रूप में ग्रहण करते हैं, तब समझना चाहिए कि हम लोगों का यह दर्शन एक विकल्प मात्र है । यह जो नियम रूप में अवधारण है—यह फूल है, पर पत्ते नहीं हैं, फल भी नहीं है, अन्य कुछ है, यही है विकल्प । सर्वत्र नाम जाति आदि की योजना होती है । वास्तव में यह फूल है, इसमें सब कुछ है, अर्थात् "सर्व्वं सर्व्वात्मकम" के रूप में इसे ग्रहण करना—यही है निर्विकल्प दर्शन । बद्ध जीव नाम, जाति, आकार आदि योजना विरहित रूप में कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकता । अगर कर पाता तो यह नियंत्रण नहीं रहता और किसी भी स्थान में, किसी भी क्षण में, किसी भी सत्ता को ग्रहण करना उसके लिए संभव होता ।

अवतरण के पथ पर जीवरूपी अनेको अणु का अधिकार भुक्त होता है । पहले विन्दु स्थित शिव का अधिकार भुक्त होता है । यह शिव अनाश्रित शिव हैं । इसके फलस्वरूप क्रमशः आत्मा का अणुभाव प्राप्ति, महामाया का आश्रय ग्रहण एवं स्वरूप की विस्मृति होती है । इसके बाद वही संकुचित आत्मा या अणु मायाधिष्ठाता ईश्वर के अधिभुक्त होती है । वे अणु को मायायुक्त करते हैं अर्थात् षट्कंचुक के आवरण में आच्छन्न करते हैं । यह कंचुकित आत्मा इसके बाद ब्रह्मा के अधिकार में आती है और उनसे ही देहयुक्त होती है । कहना नहीं होगा कि कंचुक आवरण में आवृत होकर आत्मा अनादि, अनन्त कर्म-संस्कार के बीच गुजरते हुए गुणराज्य में प्रवेश करती है । गुणराज्य में रजोगुण-अधिष्ठाता ब्रह्मा उसे संस्कारानुरूप प्राकृत देह प्रदान करते हैं । इस स्थान का व्यापार रहस्यमय है । कालातीत सत्ता से कालराज्य में प्रवेश के साथ-साथ आत्मा स्वरूपतः साक्षी मात्र होने पर भी कर्तृत्व अभिमान युक्त होता है । कर्म-प्रवाह अनादि है । आत्मा माया-स्पर्श के बाद काल और कर्म के साथ युक्त होकर अनादि कर्म संस्कारयुक्त रूप में अवस्थान करती है । वस्तुतः प्रकृति के गुण से कर्म के संपादन होने पर भी अविवेक निबंधन अहंकार मोह से मूढ़ होकर आत्मा अपने को कर्त्ता समझती है । कहना न होगा कि यह परिच्छिन्न कर्तृत्व है जिसके मूल में कला और अशुद्ध विद्या है । देह-प्राप्ति के बाद जबतक देह का अवसान नहीं होता तबतक देह की स्थिति-काल तक विष्णु के अधिकार में रहता है । विष्णु प्राकृत सत्त्वगुणों के अधिष्ठाता हैं । इसके बाद देह-संस्कार के व्यापार में मृत्यु के समय वह रुद्र के अधिकार में आ जाता है । इस प्रकार मल के परिपाक न होने तक अणुरूपी जीवात्मा या पशु, मृत्यु से जन्म और जन्म से मृत्यु तक इस क्रम का अवलम्बन करते हुए ब्रह्मादि त्रिदेव के आश्रय में संचरण करता है । संचरण काल में कर्मानुसार अधः, ऊर्ध्व और मध्य त्रिविध गति प्राप्त करता है । मलपाक जितने दिनों तक सुसम्पन्न नहीं होता, उतने दिनों तक इस प्रकार उसका भवचक्र में आवर्त्तन होता रहता है ।

मलपाक होने पर श्री भगवान् की अनुग्रह-शक्ति उसमें संचारित होती है । उस वक्त वह जगत्गुरु सदाशिव का अधिकृत होता है । दीक्षा के साथ-साथ वह शुद्ध विद्या प्राप्त कर शुद्ध मार्ग में आरोहण करते-करते, अनाश्रित शिवतत्त्व का भेद करते हुए पूर्ण परमेश्वर या परमशिव की अवस्था में स्थिति प्राप्त करता है ।

(२ क)

पूर्वोक्त प्रणाली से आत्मा जीवभाव परिग्रह पूर्वक अर्थात् आत्मविस्मृत होकर अनादिकाल के स्रोत में बहती जा रही है । यही उसका पतन है । आत्मा वास्तव में देश और काल से अतीत है । इसीलिए कब वह इस स्रोत में पतित हुआ है, इसे मानवीय भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता । किन्तु पतित होने के बाद अगर वह उन्मीलन करने में समर्थ होती है तब वह देख पाती कि यह एक अनादि-प्रवाह है । खोज करने पर भी इसके आदि का पता नहीं लगता । वास्तव में जीव का पतन काल और अकाल संधि का व्यापार है । वस्तुतः काल स्रोत से मुक्ति प्राप्त करना भी उसी तरह का व्यापार है ।

जीव आत्मविस्मृत होकर निजी शक्ति के अधीन हो जाता है और देह इन्द्रिययुक्त अवस्था में कर्मानुसार समग्र मायिक-जगत् में संचरण करता है । मायिक-जगत् में अर्थात् मायाण्ड में असंख्य प्रकृत्याण्ड रहते हैं और प्रत्येक प्रकृत्याण्ड में असंख्य ब्रह्माण्ड रहता है—यह सब जीव के भ्रमण-क्षेत्र हैं । उत्थान-पतन निरन्तर होते रहते हैं । इसका कोई मूल्य नहीं है । कारण जीव ऊर्ध्वलोक में जाने पर भी जैसा पतित था, वैसा ही पतित रहता है । ऊर्ध्वगति होती है कर्म के अनुसार से, कर्मानुसार अधोगति भी होती है । इसलिए यह ऊर्ध्वगति या अधोगति के प्रभाव से जीव स्वरूप का कोई परिवर्तन नहीं होता ।

जीव के प्रकृत उत्कर्ष लाभ की सूचना ठीक उसी समय कहना होगा जब जीव जीवभाव से निर्मुक्त होकर अपने नित्यसिद्ध शिवस्वरूप का संधान करने में समर्थ होता है । यह भगवत् अनुग्रह रूपी शुद्ध विद्या के उदय हुए बिना नहीं हो सकता । शुद्ध विद्या के उदय होने पर जीव इस विराट् विकल्प जाल के बंधन से चिरमुक्त होकर निर्विकल्प परमपद में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है । जीव जब परमपद में स्थान प्राप्त कर लेता है, उस वक्त वह जीवसृष्टि और ईश्वरसृष्टि से मुक्त होकर विशुद्ध विकल्प शून्य आत्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त करता है । जीव सृष्टि में प्रत्येक जीव का जगत् भिन्न-भिन्न वासना और कल्पना द्वारा रचित है । नाम, जाति आदि योजना के फलस्वरूप जीव का ज्ञान विकल्पमय एवं इस विकल्प के ऊपर जागतिक व्यवहार प्रतिष्ठित है ।

श्रीगुरु की कृपा से जब शुद्ध विद्या का संचार होता है तब जीव दृष्टि क्रमशः परिवर्तित होता रहता है । शुद्ध विद्या कहने का अर्थ यह है कि गुरु अनुग्रह पूर्वक ज्ञानांजन शलाका के द्वारा शिष्य की तिमिराच्छिन्न दृष्टि को उन्मीलित कर देते हैं । कौलगण कहते हैं कि समग्र सृष्टि के मूल में जो परमबोध समुद्र है, उसका नाम अकूल है । इस अकूल में तरंग ऊर्मि का उन्मेष ही अनुग्रह के नाम से परिचित है । यह तरंग स्पन्दात्मक है । अकूल समुद्र में जब प्रथम स्पन्दन का उदय होता है तब वही स्पन्दन अनुग्रह के विषयभूत जीव को स्पर्श करता है । वह स्पन्द चित्शक्ति का विकाशात्मक है । जीव की अज्ञानमूलक विकल्प दृष्टि के ऊपर जब इस चिद् ऊर्मि का आघात पतित होता है तब जीव की सत्ता में परिवर्तन होना प्रारंभ हो जाता है। सर्वप्रथम उक्त उन्मेष प्राप्त चित्शक्ति काल को ग्रास करने को प्रवृत्त होती है । काल

ग्रास सम्पन्न होने पर जीव की दृष्टि से विकल्प जाल क्रमशः कटना प्रारंभ हो जाता है। इस प्रक्रिया के क्रमिक विवर्तन में सर्वप्रथम प्रमेय शोधित होता है । प्रमेय के शोधित होने के फलस्वरूप आत्मा के आध्यात्मिक जीवन में एक विराट् परिवर्तन देखने में आता है । भगवान् शंकराचार्य ने कहा है— "विश्वं दर्पण-दृश्यमान-नगरी-तुल्यां निजान्तर्गतम्" अर्थात् जिस प्रकार दर्पण में नगर दिखाई देता है, उसी प्रकार विश्व में आत्मा नगर-प्रतिविम्ब की तरह प्रतिविम्बित होते दिखाई देती है । तथापि "मायया बहिरिबोधभूतां" अर्थात् माया के कारण वाह्यवत् प्रतीत होता है । यह प्रतीति सत्य नहीं है, माया के दूर हो जाने पर या दूर होना आरंभ होने पर, समग्र विश्व को आत्मा अपने में अनुभव करती है । यह जो बाह्यवत् आभास है, यह पूर्ववर्णित प्रमेय शुद्धि का फल नहीं है । देहात्मबोध विद्यमान रहने के कारण आत्मा भ्रमवश सोचती है कि विश्व उसके बाहर है, देहात्मबोध दूर हो जाने पर वास्तव में बाहरी कुछ नहीं होता। विश्व उस समय भी रहता है, पर बाहर नहीं, अन्तर में । शुद्ध विद्या या जाग्रत चित्शक्ति बुभुक्षु है । वह पहले विश्व ग्रास करने के लिए उन्मुख होता है । वह बहिर्मुख होकर विश्व को भीतर लें आता है । विसर्ग द्वारा विश्व विसृष्ट हुआ है, अब विन्दु उसे अपने भीतर खींच लाता है । संवित् विषय ग्रहण करके जब वह तृप्त होता है तब फिर विषय भोग क्रिया नहीं रहती । ज्ञान रागात्मक होता है एवं स्वात्म रूप में साक्षात्कृत होता है । यह स्थिति किस प्रकार की है, उसे संक्षेप में कह रहा हूँ । उस वक्त अर्थात् ग्राह्य-ग्राहकभाव के अवस्थान काल में भी पराशक्ति, विषय-भोग या क्रोध को निर्विकल्प रूप में अनुभव करता है । यही है—विकासमयी चिद्‌देवी का द्वितीय विकास । परमयोगी इस अवस्था में वीरेन्द्र या वीरेश्वर के नाम से अभिहित होते हैं । यह वास्तव में भोग की अवस्था है—यह पशुओं का भोग नहीं है, वीर का भोग है । कारण पशु जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों काल में पृथक-पृथक भाव में भोक्ता रहता है, उसकी तुरीय अवस्था नहीं है । लेकिन अभी जो भोग की अवस्था के बारे में कहा गया, यही तुरीय दशा है । इस दशा में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों काल में ही तुरीयानन्द का उल्लास विद्यमान रहता है । इसीलिए शिवसूत्र में "त्रितयभोक्ता वीरेशः" कहकर इस अवस्था का वर्णन किया गया है । उत्पलाचार्य ने इस अवस्था के बारे में अपने शिवस्तोत्र में कहा है—

"तत् तद् इन्द्रिय मुखेन सन्ततं
युष्मद अर्चन रसायनासवम्
सर्व्वभावचषकेषु पूरिते—
स्वापिवन्नपि भवेयम उन्मदः"

यह एक अद्‌भुत अवस्था है । यह जो भोग है यही श्री भगवान् की अर्चना है । प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा ही उनकी पूजा, रसायन रूप आसव आदि भावरूपी चषक या पात्र में पूर्ण रूप से भर देने पर नशा जैसा भाव उदय होता है, यह भी वही है । आँखों से रूप देखना, अर्थात् आँखों द्वारा रूप नामक भाव में या चषक में पूजा-रस पान करना और फिर तन्मय हो जाना । कानों से शब्द सुनना यह भी वही है । यह भोग ही उपासना है । यह जाग्रत अवस्था में होता है, स्वप्न में भी होता है, सुषुप्ति में होता है, जब जिस

रूप में रहा जाय, सभी समय उनकी पूजा होती है । यह दुर्बलों का काम नहीं है, यही वीर भाव है । भगवान् शंकराचार्य ने कहा है— "यद् यत् कर्म्म करोमि तत् तदखिलं शम्भो तवाराधनम्"—यह वही अवस्था है ।

इसके बाद विषय भोगान्त में तृप्ति । तृप्ति के बाद अन्तर्मुख दशा का आविर्भाव होता है । तब ग्राह्य और ग्रहण की स्थिति आत्मसात होती है । उस वक्त कौन तृप्त होता है ? करणेश्वरी देवियाँ । कब तृप्त होती है ? विषय-भोग क्रिया की समाप्ति पर । उस वक्त क्या होता है ? करणेश्वरी देवियाँ चिदाकाशरूपी भैरवनाथ के साथ आलिंगित होकर पूर्ण अन्तर्मुखी होती हैं, उस वक्त वे सभी करणेश्वरी देवियाँ और चिद्भैरवनाथ अभिन्न हो जाते हैं । यही है उनका आलिंगित होकर शयन भाव का तात्पर्य । जबतक इन्द्रियाँ आकांक्षायुक्त रहती हैं तबतक करणेश्वरी देवियाँ चिदाकाशनाथ का आलिंगन नहीं कर पातीं ।

जबतक इन्द्रियों की विषय-भोग आकांक्षा रहती है तबतक श्वास-प्रश्वास की क्रिया चलती रहती है एवं ७२,००० नाड़ियाँ सक्रिय रहती हैं । उस वक्त आन्तर और बाह्य द्वादशान्तर के मध्य में एक गतागति की क्रिया चलती रहती है । अन्तर्मुखी गति में आन्तर द्वादशान्त में प्रवेश होता है और बहिर्मुखी गति में बाह्य द्वादशान्त का स्पर्श होता है । ये दोनों संघट्ट स्थान हैं । इन दोनों संघट्ट स्थानों में संधि होती है। तभी परप्रमातृपद उन्मीलित होता है । ठीक यही अवस्था प्रमाण और प्रमेय की संधि में होती है । यह परप्रमातृदेवी परसंवितूरूपा हैं, इसमें संदेह नहीं । उस वक्त परासंवित् अपने तेज और दीप्ति के प्रभाव से मितप्रमाता को निजस्वरूप में मग्न करती है । इसके फलस्वरूप एक ओर जिस प्रकार और अज्ञान का संघर्ष जनित क्षोभ निवृत्त होता है, दूसरी ओर उसी प्रकार प्रमाण और प्रमेय का संघर्ष समाप्त हो जाता है । यह है—शान्त निर्विकल्प अवस्था । उत्पलाचार्य आदि के मत से यही है— आध्यात्मिक शिवरात्रि । उस वक्त चन्द्रादि के सहयोग से सूर्य भी अस्तमित होते हैं ।

इस अवस्था को अतिक्रम कर लेने पर जो विशिष्ट स्थिति प्राप्त होती है, उसके दो भाग हैं । एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तरीन । जिसे बाह्य कहा गया, वह स्वरूप का आच्छादन है और दूसरा स्वरूप का उन्मीलन । इसी स्थितिकाल में ही योगियों की परीक्षा होती है । इस स्थिति में जिस प्रकार प्रमाण-प्रमेय भाव नहीं रहता, ठीक उसी तरह प्राण और अपान की क्रिया भी नहीं रहती । पहला ज्ञान या मन की दिशा है एवं दूसरा प्राण की दिशा । दोनों दिशाएँ समान रूप से शान्त हैं । शाक्तगण गुह्य परिभाषा में एक दिशा को सूर्य के द्वारा एवं दूसरी दिशा को चन्द्र के द्वारा द्योतन किया जाता है । चन्द्र और सूर्य का समरूप में अस्तमित होने का तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में ज्ञान-ज्ञेय भाव का तरंग नहीं रहता और प्राण का चलाचल भी शान्त हो जाता है । इस स्थान को योगियों का परीक्षा-स्थान निर्देश करने का कारण यह है कि यहाँ स्वरूप अनुसंधान को जगाकर न रखने पर स्वरूप ढक जाता है, तब महामाया में प्रवेश होने के कारण स्वरूप आवृत होता है । इस अवस्था में स्वरूप अनुसंधान जगाकर रखना पड़ता है । शिवरात्रि को जागकर रहना पड़ता है, उसका यही तात्पर्य है । शिवसूत्र की परिभाषा में यह जागते ही रहने को "उद्यमो भैरवः"

कहा गया है । यह अनाख्या दशा के नाम से परिचित है । स्वरूप अनुसंधान ठीक रहने पर इस अवस्था में प्रवेश के साथ-साथ स्वरूप का विकास हो जाता है—यही है महाव्योम । इस व्योम में चन्द्र-सूर्य का संचार नहीं है अर्थात् प्राण-अपान की क्रिया नहीं है एवं प्रमाण, प्रमेय की क्रिया भी नहीं है । इसी का नामान्तर चिदाकाश है, कारण इसी में चन्द्र-सूर्य लीन हो जाते हैं । यह अवस्था प्राप्त होने के साथ ही योगी कृतार्थ नहीं हो सकता, कारण यहाँ आकर सुषुप्त रहने पर यही मोह रूप में परिणत होता है और जागते रहने पर नित्य निवारण प्रकाशरूप में परिगणित होता है । जागते रहने का तात्पर्य यह है कि योगी को इस अवस्था में अपनी सत्ता के बोध में सतर्क रहना चाहिए—अर्थात् अनाख्या दशा में आत्मा निजी सत्ता बोध को कायम रख सके तो हमेशा के लिए आवरण शून्य प्रकाश के राज्य में उन्नीत होने में समर्थ होता है । आत्म विमर्श न रहने पर यहाँ तक उत्थित होकर भी पतित होना असंभव नहीं है ।

इस महाव्योम के बारे में उत्पलाचार्य ने कहा है— "तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीन शशिभास्करे । सौषुप्तपदवत् मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ।" यहाँ तक ऊर्ध्वगति प्राप्त करने पर भी योगी के चित्त में शंका उत्पन्न नहीं हो सकती, ऐसी बात नहीं है। किन्तु शंका उत्पन्न होने पर भी योगी स्वात्मानुसंधानरूप प्रयत्न के द्वारा उसे दूर कर सकता है । यदि इस प्रकार अनुसंधान न हो सके तो पतन असंभव नहीं है । आत्मानुसंधान रहने पर स्पष्ट देखा जाता है कि विकल्परूपी समग्र जगत् तब अन्तर्मुख पद में लीन हो जाता है । उस समय आत्मा चराचर को ग्रास कर उसी ग्रास के उल्लास में एक रसमय स्थिति प्राप्त करता है । यह स्थिति परप्रमातृ दशा में ही स्थिति है, अन्य कुछ नहीं है । ब्रह्मसूत्र में "अत्ता चराचर ग्रहणात्" कहते हुए आत्मा को चराचर समग्र विश्व का ग्रासकर्त्ता रूप में वर्णन किया गया है, यह वही है । स्वरूप अनुसंधान के न रहने पर इस स्थिति में ठीक विपरीत अवस्था उदय होती है, वह प्रमोद विलास रूप में मितप्रमातृ भाव का विस्तार मात्र है ।

(२ ख)

स्मरण रखना होगा कि स्वरूप गोपन और स्वरूप उन्मीलन इन दोनों व्यापारों में पूर्ण दशा रहती है, किन्तु गुरु-कृपा के प्रभाव से स्वरूप-गोपन तो समूल रूप से उपसंहृत हो जाता है अर्थात् महामाया निवृत्त हो जाती है और बहिर्मुखी वृत्ति या संसारचक्र स्वात्माग्नि से अभेद-ज्ञान में परिणति प्राप्त करता है एवं अन्तर्मुख पद के सहारे अद्वय स्वरूप में स्थिति होती है । यहाँ तक निष्पन्न होने पर बाद की अवस्था बिना प्रयत्न के ही संघटित हो जाती है । उस वक्त फिर स्वरूप गोपन नहीं होता एवं बाह्यवृत्ति भी नहीं जागती । इस अवस्था का पारिभाषिक नाम है—'भाव-संहार ।' यह उन्मना अवस्था में जब निर्विकल्प आत्मसंवेदन उदित होता है तब प्रकट होता है । इस स्थिति में आत्मस्वरूप भूत ज्वलन्त अग्निराशि में, भावमय समग्र विश्व संहार की घटना होती है । परासंवितरूपा देवी की महिमा से तभी समस्त प्रमेयों का समूल उच्छेद होता है। इस अवस्था में एक ओर जिस प्रकार भेदज्ञान नहीं रहता, दूसरी ओर उसी प्रकार हेय और उपादेय बोध भी नहीं रहता । इसलिए यह शंका शून्य और कल्पना शून्य

निर्विकल्प स्थिति के रूप में वर्णित होता है ।

फिर भी पूर्णहन्ता-स्वरूप नहीं है, कारण संस्कार रहने के कारण अति सामान्य होने पर भी इदान्ता का लेश तब भी रह जाता है । कौलों का कहना है कि पाँच संवित् देवी द्वारा प्रमेयों का समूल उच्छेद होने पर भी उसके संस्कार रह जाते हैं । इसलिए इस स्थिति में योगी का इस तरह विमर्श होता है कि "मैंने ही यब सब अभेदों में अवभासित किया है" अर्थात् संहार होने पर भी संस्कार रह जाने के कारण संहार का परामर्श तो होता ही है । इसके बाद यह जो संस्कार रूप उपाधि है, यह भी नहीं रहती । परासंवित् का यह रूप पूर्वोक्त पाँचों रूपों को आत्मसात् कर प्रकट होता है । जबतक संस्कार-रूप उपाधि विद्यमान थी तबतक काल की कलना भी कुछ-कुछ थी, किन्तु संस्कार के नाश के बाद जो अहंभाव उत्पन्न होता है, वह स्वभावभूत अहम् है । योगी के उस समय की अनुभूति में 'सब कुछ मैं हूँ' इस प्रकार का परामर्श देखने में आता है । यह भी योगी की आत्मारूपी शिव की पूजा की ही एक उच्च अवस्था है । इस अवस्था को लक्ष्य करके उत्पलाचार्य ने कहा है—

"तामगाधमविकल्पमद्वयं
स्व-स्वरूपमखिलार्थघस्मरम् ।
आविशन्नहमूमेश सर्व्वदा
पूजयेयमभिसम्भवीय च ।।"

इसके बाद वाली स्थिति में परासंवित् जिस रूप में आत्मप्रकाश करती है, वह भिन्न रूप का विकास है और वह सब विकासों का निज स्वरूप में विलयन-संपादन करते रहते हैं । यह अवस्था संहार का और भी गहरी अवस्था है । पहले जिस भाव-संहार की चर्चा की गयी है, वह प्रमेय तक संहार का नामान्तर था, पर अब जो संहार का स्वरूप प्रकट हुआ है, उससे प्रमाण तक उपसंहृत हो गया है । महाकल्प के बाद जो संहार होता है, यह उसी के अनुरूप है । इस समय समस्त प्रमेय और प्रमाण चिद्रूपी दीप्ति में सम्यक प्रकार से लीन हो जाता है । यहाँ पर आचार्यों ने एक विषय के सम्बन्ध में संभाव्यमान शंका का समाधान करने का प्रयत्न किया है । पूर्व संहार भूमि का जो विवरण दिया जा चुका है, उसके साथ वर्तमान भूमि की तुलना करने पर देखा जायगा कि दोनों जगहों पर शंका उदय होना संभव है, किन्तु इन दोनों भूमियों में स्थितिगत अन्तर यह है कि निम्न भूमि में उक्त शंका को दूर करने के लिए अपना व्यक्तिगत प्रयत्न या अनुसंधान करना आवश्यक है । इसके रहने पर शंका स्वभावतः निवृत्त हो जाती है और न रहने पर शंका की निवृत्ति न होने के कारण पतन हो जाता है । ऊपर की भूमि में शंका जरूर उठ सकती है, किन्तु अपने प्रयत्न के बिना वह अपने आप दूर हो जाती है । कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विचार ही यहाँ शंकापद से तात्पर्य है । यह भूमि सदाशिव दशा के अनुरूप है । इस अवस्था में शंका और ग्लानि उत्पन्न होने पर योगी के कार्यों में विघ्न उत्पन्न नहीं हो सकता । इस स्थिति में प्रमेय सर्वतोभाव से विलीन हो जाता है, पर प्रमान स्थित प्रमेय की जीवनीशक्ति अभी तक मौजूद है । यह जीवनी-शक्ति हमारी दार्शनिक भाषा में द्वादश इन्द्रिय रूप में वर्णित है । यह भी आगम के मत से सूर्य का ही एक रूप है ।

किन्तु इसके बाद की अवस्था में द्वादश इन्द्रियात्मक सूर्य अहंकार रूपी परमादित्य में लीन हो जाता है । यह अहंकार ही प्रमाता है । इसी का नामान्तर किसी-किसी आगम के अनुसार 'भर्ग शिखा' है । परासंवित् के आठ रूपों में शब्दादि विषय रस के आत्मस्वरूप में किस प्रकार लय होता है, इसकी जानकारी हो गयी । इस अवस्था में समस्त कला का उपसंहार होकर केवल परमा-कला या अमा-कला ही मौजूद रहती है । यही शिवकला और परप्रमातृरूपा है ।

(२ ग)

अभी जिस अहंकाररूपी परम आदित्य की चर्चा की गयी, यह किन्तु परिच्छिन्न प्रमाता है—इस बात को स्मरण रखना होगा । परमादित्य के बाद जिस अहं सत्ता का उदय होता है, वह परम आदित्य से आकृष्ट अवस्था जरूर है, किन्तु वह भी परिच्छिन्न प्रमाता ही है । इसका पारिभाषिक नाम कालाग्निरुद्र है । यह परमादित्य के ऊर्ध्व में है, तथापि यह अमित प्रमाता नहीं है । यह एक ज्वलन्त स्थिति है, संसार दग्ध हो गया है जरूर, फिर भी लेश मात्र पशुत्व तब भी मौजूद है । योगी की इस स्थिति में विषय और इन्द्रिय-संस्कार नहीं रहता । एक मात्र इन्द्रियातीत निर्विकल्प प्रमाता ही प्रकाश रूप में विद्यमान रहता है ।

इसके बाद रुद्रावस्था कट जाती है । रुद्रावस्था के अवसान पर भैरव अवस्था का उदय होता है । आदित्य के बाद रुद्र और रुद्र के बाद भैरव, ऐसा ही क्रम है। भैरव का जो रूप है, सर्वप्रथम जो आत्मप्रकाश करता है, उसका नाम है—महाकाल भैरव । परासंवित् यहाँ महाकाली के रूप में प्रकाशित होती हैं । महाकाल भैरव पंचकृत्य संपादन करते हैं, गोकि निरपेक्ष रूप में नहीं, कारण आप स्वतंत्र नहीं हैं । जिनकी इच्छा से आप सृष्टि आदि पंचकृत्य संपादन करते हैं, वे स्वयं जगदम्बा हैं । इस अवस्था में, इस परम तेजवाली गर्भ में सभी प्रकार के परिच्छिन्न अहन्ता लीन हो जाती है । देहगत अहंता, प्राणगत अहंता, पुर्य्यष्टकगत अहन्ता एवं शून्यगत अहन्ता सब कुछ इसी महाग्नि में जल जाते हैं और एक मात्र विश्व के साथ अभेदमय पूर्ण अहंता विद्यमान रहती है । जब योगी इस अवस्था तक आ जाता है तब परमशिव की भाँति पंचकृत्यकारी बन जाता है । पर परमशिव का पंचकृत्य इस अवस्था में व्यापिनी कला में प्रकट होता है, ऐसा अनेक लोग कहते हैं । इसके बाद महाकाल भैरव भी नहीं रहते—यह है महाभैरव की अवस्था । यह महाकाल का अतीत है । इस स्थिति में सब कुछ शान्त, किसी का कोई संस्कार नहीं रहता । जो स्वात्मसंवेदन क्रमशः अधिकाधिक परिस्फुट होते-होते विकास प्राप्त कर रहा था, यहाँ वह पूर्ण हो जाता है । उस वक्त महाकाली भगवती भी स्वधाम या अकूल में जाने के लिए उन्मुख हो जाती हैं, इसलिए यह काल द्वारा कलित अवस्था नहीं है । इस अवस्था में योगी व्यापिनी के परसमना भूमि में प्रविष्ट हो गया है, कहा जा सकता है । उस वक्त सृष्टि संहार रूप काल नहीं रहता, साम्यरूप काल रहता है । उस वक्त काल की सत्ता मानो नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है । उस अवस्था में अनन्त काल क्षण मात्र में प्रतीत होता है । इस अवस्था की चर्चा उत्पलाचार्य ने इस कारिकाटी में की है—

न सदा न तदा न चैकदेत्यपि सा
यत्र न कालधीर्भवेत ।
तदिदं भवदीय दर्शनं
न च नित्यं न च कथ्यते हन्यथा ।

इसके बाद जो अवस्था है, वही क्रम-विकास का अन्तिम स्वरूप है—यही परमशिव की अवस्था है । यहाँ परसंविद् देवी का—स्वरूप साक्षात्कार होता है । देवी पूर्णरूपा और कृशरूपा एक साथ दोनों ही हैं । आप अघटन घटन पटीयसी हैं। जब आप स्वाश्रित देवियों का उदय करती हैं, प्रमाता, प्रमाण आदि समस्त पदों और सृष्टि आदि समस्त चक्रों का विकास करती हैं तब आप पूर्ण, और जब आप सबको अपने में लीन कर लेती हैं, केवल एक मात्र कालसंकर्षिणी नामक चक्र अवशिष्ट रहता है तब आप कृश नाम से अभिहिता होती हैं ।

इस परम स्थिति में क्रम नहीं रहता, यौगपद्य भी नहीं रहता, क्रमाक्रम का कोई संबंध नहीं रहता । क्रम विज्ञान से देवी के क्रम का विकास होता है । ऐसा लगता है जैसे इस विकास के फलस्वरूप प्रमेयादि क्रमशः स्वात्मसंवित्तिरूप में तैरते रहते हैं।

यही है जीव का पूर्णत्व की प्राप्ति । जिस अखण्ड स्वातंत्र्यमय बोधरूपी सच्चिदानन्दात्मक परब्रह्म या परमशिव आगम शास्त्रों में, जीवों की आत्म साधना का चरम लक्ष्य कहा है, वह यही अवस्था है । महास्थिति में सब कुछ रहता है जबकि कुछ भी नहीं रहता और यहाँ रहने या न रहने का विरोध भी नहीं रहता । सुतरां जीव जगत् और ईश्वर सभी के वही परम स्वरूप अद्वय रूप में प्रकाशमान होने पर भी उनकी निजी विशिष्टताएँ वहाँ अक्षुण्ण रहती हैं । इस अवस्था में परम प्रकाश अखण्ड होने के कारण सभी अवान्तर भेद इसके साथ अभिन्न रूप में प्रकट होते हैं। जीव के अनादि काल की त्रिपाप ज्वाला इस पूर्णत्व में अवगाहन करने के बाद हमेशा के लिए शान्त हो जाता है। वास्तव में यही परमपद है ।

मानस-पूजा

(१)

गुरु-ध्यान और गुरु-प्रणाम

सर्वप्रथम गुरु-ध्यान और गुरु-नमस्कार मांगलिक कार्यों के पूर्व आवश्यक है, कारण गुरु की चिन्ताजनित शक्ति से शक्तिमान बिना हुए सूक्ष्म उपासना-मार्ग में प्रविष्ट होना संभव नहीं है । यह ध्यान स्वरूपतः नित्य गुरु होने पर भी आपाततः उनका बाह्य रूप आचार्य गुरु मूर्त का ध्यान है । इसे अनुलोभ और विलोम में करना पड़ता है । गुरु के चरण से आरंभ कर प्रति अंग के क्रम से क्रमशः देह के ऊर्ध्व भाग तक अन्तर्दृष्टि से देखना पड़ता है और भावना के बल से उसमें चित्त को लगाना पड़ता है । इस प्रकार क्रमशः मस्तक के शिखा तक चिन्ता करने पर ध्यान का अनुलोम

अंश अनुष्ठित होता है । यह ध्यान रूपचिन्ता श्वास लेते हुए अर्थात् पूरक के साथ करना चाहिए । यह हुआ गुरु मूर्ति के सभी अंगों का क्रमिक ध्यान । इसके बाद मस्तक के ऊर्ध्वतम स्थान पर आरूढ़ होकर कुंभक के साथ श्री गुरु का समग्र शरीर युगपत् सर्वांग सह अखण्ड चिन्तन करना चाहिए । कुछ देर इस प्रकार करने के बाद ध्यान का विलोम धारा आरंभ करना चाहिए अर्थात् मस्तक से प्रति अंग क्रमानुसार उतरते हुए पादांगुली तक चिन्ता करनी चाहिए । इस चिन्ता के साथ-साथ धीरे-धीरे वायु का रेचन करना चाहिए । पहले पूरक, इसके बाद कुम्भक और तब रेचक । श्री गुरु की पादुका का चिन्तन करने के बाद स्वयं साष्टांग रूप से भावना के द्वारा उन चरणों में प्रणाम करना चाहिए । यही आत्मनिवेदन की क्रिया है । इसके फलस्वरूप गुरु-सत्ता और गुरु-शक्ति साधक में आपूरित होती है । अनुलोम ध्यान से लौकिक भेदभाव क्रमशः दूर हो जायगा और गुरु के शिरोदेश ध्यान के समय गुरु के साथ अद्वैतभाव स्थापित होगा । सर्वांग संपूर्ण गुरु-देह का चिन्तन वास्तव में निज स्वरूप का ही चिन्तन रूप में परिणत होता है । यही अभेद स्थिति की अवस्था है । इसके बाद अवरोह क्रम से विलोम चिन्ता के कारण अभेद भाव से क्रमशः अलौकिक भेद भाव का उन्मेष होता है । उस समय अपने को अणु और गुरु को महान् के रूप में विश्वास होता है । तब साष्टांग प्रणाम अथवा आत्मसमर्पण के द्वारा उस अणु को भी महान् के भीतर विसर्जन कर देना चाहिए । ऐसा करने पर साधक का आधार अहंकार शून्य होता है, गुरु सत्ता ही शुद्ध अहंरूप में अर्थात् अप्राकृत स्वरूप में साधक देह में कार्य करना प्रारंभ कर देती है ।

(२)

इष्टमूर्ति का आविर्भाव

साधना प्राकृत-देह से नहीं होती । शुद्ध अथवा अप्राकृत देह के अलावा प्रकृत-साधना संभव नहीं है । साधक का बाह्य-देह शुद्ध देह नहीं है, कारण वह मायिक देह है । भावना के द्वारा उसे शुद्ध मानकर कल्पना की गयी है । मायिक-देह किसी भी स्तर का हो, सभी मलिन होती हैं । निम्न स्तर से ऊर्ध्व स्तर में, सत्त्वगुण का उत्कर्ष रहने पर भी और उसी हिसाब से ऊर्ध्व स्तर वाली देह अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध होने पर भी इनमें कोई भी विशुद्ध सत्त्वमय पदार्थ नहीं है । कारण मायिक सत्त्वगुण से रजोगुण और तमोगुण बिल्कुल पृथक नहीं होता, इसीलिए मायिक देह से प्रकृत उपासना नहीं होती । कारण उपास्य और उपासक एक भूमि का न होने पर ठीक-ठीक उपासना नहीं हो सकती । उपास्य रूप अप्राकृत होने पर उपासक का देह भी तद्रूप होना आवश्यक है । अप्राकृत शुद्ध सत्त्व ही विन्दु है । इसी विन्दु से इष्ट देवता की देह कल्पित होती है । विन्दु कुण्डलिनी का नामान्तर है । किन्तु इष्टदेह कुण्डलिनी से उद्भूत है, साधक की मायिक देह कुण्डलिनी से उद्भूत नहीं है—वह माया से उद्भूत है । साधक की देह के उपादान मायिक सत्त्व है, उसकी पृष्ठभूमि में शुद्ध सत्त्व या विन्दु है, पर वह निष्क्रिय है । इसी निष्क्रिय विन्दु को हम लोग निद्रित कुण्डलिनी कहते हैं । किन्तु सद्गुरु की कृपा कटाक्ष पड़ने पर विन्दु कंपित

होता रहता है अर्थात् कुण्डलिनी जाग्रत होकर स्पन्दित होती रहती है । कुण्डलिनी की यह निद्रा अनादि निद्रा के रूप में है । कारण इस निद्रा का आदि है । स्वीकार करने पर निद्रा के पहले कुण्डलिनी का जागरण था, इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु यह द्वैत दृष्टि से कहा जाता है । अद्वैत-दृष्टि से अनादि निद्रा का प्रश्न ही नहीं उठता । कृपाशक्ति चित्शक्ति है, किन्तु विन्दु या शुद्ध सत्त्व मायातीत होने पर भी चित्शक्ति का स्वरूप नहीं है, किन्तु शुद्ध अचित् है । यही है शुद्ध सृष्टि के उपादान । गुरु का अनुग्रह साधक के विन्दु में संचारित होने पर विन्दु कम्पित होकर नाद या ज्योति की सृष्टि करता है । इन दोनों का आश्रय लेकर साधक का शुद्ध शरीर और उसके इष्ट का शुद्ध शरीर उद्भूत होता है, कारण साधक रहने पर साध्य रहेगा ही । साधक भी इष्ट का अनन्त रूप है और परस्पर अनन्त सम्बन्ध बना हुआ है । किन्तु सब कुछ भावमय है—साधक का जो निजी भाव है, उसका आपूरक भाव ही उसके लिए इष्ट का भाव है । एक ओर तृष्णा रहने और दूसरी ओर जिस प्रकार पानी का रहना स्वाभाविक है—कारण इन दोनों के योग से साम्य की प्रतिष्ठा होती है—इसी प्रकार साधक का जो भाव या स्वभाव है, उसके पूरक भाव के द्वारा ही उस भाव की पूर्णता आती है—वही उसका इष्ट भाव है । भाव-जगत् में साधक शिशु या संतान होने पर उसके इष्ट होंगे उसकी माता या पिता या इसी प्रकार का कोई भावमय सत्त्व । प्रत्येक भाव में इसी प्रकार का व्यापार रहता है । साधक और साध्य एक ही भूमि पर रहते हैं । सद्गुरु प्रदत्त दीक्षा के बाद अथवा बिना दीक्षा के भी, किसी प्रकार से भगवत्नुग्रह क्रियाशील होने पर कुण्डलिनी जागरण के साथ-साथ शुद्ध शरीर प्रकट हो जाता है । कभी इष्टदेह पहले अनुभूत होती है, बाद में निज देह और कभी पहले अपनी देह अनुभूत होती है, बाद में इष्टदेह । सच तो यह है कि दोनों देह एक साथ प्रकट होती हैं, पर अभिव्यक्ति के भीतर कालगत अग्र-पश्चात् भाव रहता है । साधक की साधना इस अव्यक्त भाव को अभिव्यक्त करने के लिए है । गुरु ने दीक्षा या अनुग्रह के माध्यम से जिस आवरण को हटा दिया है, साधक अपने प्रयत्न अर्थात् साधना के द्वारा साधारण तौर पर उसे हटा नहीं पाता । किन्तु मूल आवरण गुरु-कृपा से हट जाने पर भी बुद्धि का आवरण उपासना के बिना नहीं हटता । इसलिए बुद्धि का आवरण न हटने तक साधक में अनुभूति नहीं आ पाती ।

शब्द और अर्थ वास्तव में एक ही सत्ता के दो क्षेत्र हैं । बुद्धि और बुद्धि का विषय भी मूल में एक ही है । जपादि या ध्यानादि के द्वारा अग्रसर होते रहने पर वाच्य अर्थ का क्षेत्र अथवा ध्येय अर्थ का क्षेत्र आवरण से मुक्त होता है । उस वक्त इष्ट अनावृत्त रूप में साधक की अन्तर्दृष्टि के सामने प्रकाशमान होते हैं । यही है मंत्र के देवता के रूप में साक्षात्कार या ध्यान के ध्येय रूप में आत्मप्रकाश ।

(३)

इष्टमूर्ति का सान्निध्य

किन्तु इष्टमूर्ति का आविर्भाव होने पर भी उनकी तबतक उपासना नहीं की जा सकती जबतक वह सन्निहित न हो जाय । साधक और इष्ट परस्पर अभिमुख न होने

पर इष्ट के साथ साधक का 'मैं-तुम' व्यवहार नहीं होता । इसीलिए आविर्भाव के पश्चात् इष्ट जिससे साधक का सन्निहित हों, उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए । वर्तमान स्थल में भक्तिमूलक भाव नहीं है । इसीलिए सान्निध्य के बाद पूजा का सूत्रपात होता है । व्यवधान दूर न होने पर पूजा हो नहीं सकती ।

इष्ट को अपने में सन्निहित रूप में चिन्तन करना आवश्यक है । चित्त की वृत्ति एकाग्र होने पर दृष्टि के सामने ध्येय विषय के अलावा अन्य पदार्थ दिखाई नहीं देता। उस वक्त एक मात्र ध्येय विषय ही अति उज्ज्वल रूप में प्रकाशित होता है । चारों ओर कुछ न तैरने के कारण शून्य का प्रकाश होता है—यह शून्य ही आकाश है । यही हृदयाकाश है, कारण उस वक्त बाह्य-आकाश नहीं रहता । बाह्य-आकाश में वायु का संस्पर्श रहने के कारण ध्येय के साथ तद्भिन्न अन्य अनेक वस्तुओं का प्रकाश मिश्रित रह जाता है, किन्तु हृदयाकाश में ध्येय के अलावा अन्य कुछ दृश्य पदार्थ रह नहीं सकता । कारण चित्त की एकाग्रता प्राप्त किये बिना हृदय में प्रवेश नहीं होता। उस समय वायु स्तंभित रहता है और एक मात्र ध्येय वस्तु उज्ज्वल-ज्योतिर्मय रूप में दृष्टि के समसूत्र में अवस्थित प्रतीत होता है । इसके स्वच्छ आलोक में हृदयाकाश आलोकित रहता है । यह आकाश वास्तव में हृदय-कमल की कर्णिका के अलावा अन्य कुछ नहीं है । इस आकाश में इष्ट देवता समासीन हैं, इस तरह का चिन्तन करना होगा । मानस-पूजा के प्रयोजनानुसार उन्हें उपविष्ट के रूप में चिन्तन करना आवश्यक है । गोकि अवस्था विशेष में अन्य प्रकार से भी चिन्तन किया जा सकता है । साधक की दृष्टि इष्ट देवता की दृष्टि के साथ युक्त रहने पर अच्छा होता है । कारण इससे इष्ट देवता और साधक के बीच परस्पर भावानुप्रवेश संभव होता है । उस वक्त इष्ट की मुखच्छवि स्मित हास्य से सुशोभित देखने में आता है ।

भावना के द्वारा यह धारण करनी होगी कि मेरा इष्ट रूप ही महाइष्ट रूप है, ये ही समग्र विश्व के इष्ट हैं, इनके रोमकूप में अनन्त ब्रह्माण्ड निहित हैं । समग्र विश्व इनका देह-स्वरूप है—अधोलोक या पाताल से अथवा और भी निम्नस्थ निरय- हृद और कालाग्नि भुवन से ऊर्ध्वलोक या ब्रह्मलोक तक, यहाँ तक कि मायातीत स्तर समूह के शिखर स्थित शिव व्योम तक का जगत्, इस इष्ट मूर्ति की देह में पादांगुष्ट से मस्तक के शिखास्थान तक के अंगों में विराजमान हैं । यह मूर्ति विशुद्ध सत्त्वमय एवं चिदानन्द में उच्छ्वलित है । ये चाहे कोई भी रूपधारी क्यों न हो, मूल में साधक के लिए मातृरूप ही हैं और विश्व जननी के साथ अभिन्न हैं । ये चैतन्यमयी एवं चित्शक्ति, आनन्दशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति की सम्मिलित मूर्ति हैं । साधक इन्हीं की संतान हैं, इनसे आविर्भूत और इनमें ही स्थित और इनकी शक्ति से शक्तिमान है ।

(४)

इष्टपूजा—उपचार समर्पण

इष्टमूर्ति आविर्भूत होने के बाद उपचार के द्वारा उनकी सेवा करनी चाहिए । अप्रकट देवता की पूजा नहीं होती, प्रकट होने पर पूजा चाहिए । मुख्य उपचार

पंचविध माना जा सकता है । यह पंचविध उपचार वस्तुतः अपने स्थूल स्वरूप का बाह्य प्रतीक मात्र है । गंध पृथ्वी तत्त्व का वाचक, पुष्प आकाश तत्त्व का वाचक, धूप-वायु तत्त्व का वाचक, दीप-तेज तत्त्व का वाचक एवं नैवेद्य रस या जल तत्त्व का वाचक है । इन पंचतत्त्वों के द्वारा साधक की स्थूलदेह की रचना होती है । पंचतत्त्व से उद्भूत देह में एवं वस्तु में यथाक्रम से 'मैं' और 'मेरा' भाव का उदय होता है । यह पंचतत्त्व उपचार के रूप में अर्पित होने पर समझ लेना पड़ेगा कि साधक की अहंता और ममता रूप अभिमान का आलम्बन स्वरूप सब कुछ इष्ट को समर्पित हो गया—केवल अपनी देह नहीं, देह संसृष्ट समस्त उन्हें अर्पित किया गया ।

इस प्रकार उपचार समर्पण सम्पन्न होने पर फलस्वरूप वे सब चिदानन्दमय इष्ट स्वरूप में एकीभूत हो जाते हैं, इसलिए वे भी चिदानन्दमय रूप प्राप्त करते हैं और इष्ट के आशीर्वाद स्वरूप उक्त चिदानन्द रूप साधक के निकट वापस आ जाता है । तब और अधिक मात्रा में साधक की देह शुद्ध होती है । इस प्रकार से साधक का चित्त या सूक्ष्म-शरीर इष्ट के स्वरूप में अर्पित होने पर वह पहले जैसा चिदानन्दमय अवस्था प्राप्त कर, इष्ट देवता के आशीर्वाद के रूप में शुद्ध स्वरूप लेकर साधक के पास वापस आ जाता है । अब तक के उपचार के फलस्वरूप साधक की देह- शुद्धि और चित्तशुद्धि अलौकिक उत्कर्ष होता है । वास्तव में यह गुरुदत्त काया का बुद्धि कल्पित आवरण का अपसारण मात्र है । कारण साधक पहले से ही गुरुकृपा के बल से स्वयं इष्ट के अनुरूप शुद्ध सत्त्वमय निर्मल देह सम्पन्न होता है । ऐसा न होने पर उसके लिए ठीक-ठीक इष्ट-सेवा संभव नहीं हो सकता । यह भावना रखना ही होगा कि साधक और इष्ट दोनों शुद्ध रूप होने पर भी एक ओर साधक का अभाव जिस प्रकार इष्ट के द्वारा पूर्ण होता है, दूसरी ओर उसी प्रकार इष्ट का अभाव साधक द्वारा पूर्ण होता है । इसलिए दोनों का योग सम्पन्न होने पर, साधक की दुर्बलता दूर हो जाती है और उसका बलाधान होता है । इष्ट भी उस वक्त सार्थक होते हैं । तब साधक इष्ट को अपने साथ अभिन्न रूप में प्राप्त कर लेता है । यह प्राप्ति योगात्मक है । एक बार यह योग प्राप्त कर लेने पर फिर कभी वियोग नहीं होता ।

इष्ट के साथ अपने सम्बन्ध के बारे में तीन अवस्थाएँ लगभग भावराज्य में दिखाई देती हैं । गोकि यह एक ओर की बात है । मैं अभी एक ओर की बातें कह रहा हूँ । प्रथम अवस्था में भाव दृष्टि से मैं छोटा तुम बड़े हो, तुम्हारे प्रति मेरा जो भावों का विकास है, वही भक्ति है । मैं तुम्हें माता के रूप में, पिता के रूप में, गुरु के रूप में, प्रभु के रूप में भक्ति करता हूँ । इसके बाद मैं उतना छोटा नहीं हूँ और न तुम उतने बड़े हो, दोनों ही बराबर-बराबर हैं । इस अवस्था में जिस भाव का विकास होता है, वही सख्य और प्रीति है । इस स्थिति में मुझमें और तुममें व्यवधान न रहने के कारण तुममें मैं प्रविष्ट होता हूँ और मुझमें तुम प्रविष्ट होते हो—साधक इष्ट में अनुप्रवेश करता है पूर्ण रूप में और इष्ट भी तद्वत् साधक में प्रवेश करता है । इसके बाद इस परस्पर अनुप्रवेश के फलस्वरूप एक उच्छ्वास जगता है या एक उद्वेलित अवस्था उदय होती है । तब यह मैं-तुम का मिलन-फल एक रूप धारण कर बाहर प्रकट होता है । यह बाह्य रूप मैं-तुम से उद्भूत होने के कारण मैं-तुम से निम्नस्तर

में प्रकट होता है । यहाँ जो भाव प्रकट होता है, उसका नाम है वात्सल्य । कुछ लोग इसे करुणा कहकर ग्रहण करते हैं । पिता-माता, गुरु और प्रभु जिस स्नेह की दृष्टि से सन्तान, शिष्य या आश्रित का आन्तरिक निरीक्षण करते हैं, यह वही दृष्टि है। फलस्वरूप वात्सल्य का यह पात्र विश्वरूप सन्तान, शिष्य या आश्रित बाहर से भीतर प्रवेश करता है । उस वक्त मैं खण्ड नहीं रहता । वह खण्ड मैं से सभी के लिए महासमष्टि रूप में महा मैं रूप धारण करता है । उस वक्त जो मैं पहले धारा-विशेष से सन्तान था और मातृ-स्नेह का अधिकारी हुआ था, वहीं स्वयं ही मातृरूप में परिणत होता है । इस माता के बाहर कुछ नहीं है, सभी उसके गर्भ में है । यही प्रकृत महाप्रलय की दशा है । उस वक्त अनन्त एक के गर्भ में है । मां उन दिनों इस गर्भस्थ आभास को अपनी सत्ता के साथ अभेद से लालन करती हुई किसी महाक्षण में निराभास महाचैतन्य रूप में स्थिति प्राप्त करती हैं । अर्थात् संतान को पाने के बाद माँ तब माँ नहीं रहतीं, पिता के स्थान पर अर्थात् विश्व गुरु परम शिव के स्थान पर उपविष्ट हो जाती हैं । यह एक और अद्वितीय है । जब संतान भाव था तब समस्त विश्व और अनन्त उनके अन्तर्भुक्त होने पर वह भी एक, जब मातृरूप धारण हुआ तब सभी शक्तियाँ उनका आश्रित एवं समग्र विश्व उनमें निहित हुआ । इसलिए उस समय भी एक है और जब सन्तान नहीं है, माँ नहीं है, सभी मूल स्थान या विश्व पिता के स्थान पर एकीभूत हैं तब भी वही एक हैं । यहाँ तक भावराज्य है । यह महाभाव ही भाव की परिसमाप्ति है । इसके बाद भावातीत—यह बाद की अवस्था है ।

(५)

ऊर्ध्व पथ की यात्रा—उन्मनी की ओर

बाह्य इष्ट-पूजा के बाद साष्टांग प्रणाम, साथ ही साथ बाह्य साकार भाव का अवसान, निराकार में प्रवेश । साधक और इष्ट इस समय अभिन्न हैं । इस अभिन्न भाव के बीच से निर्गुण विश्व गुरु भाव का प्रथम स्फुरण होता है । साष्टांग प्रणाम के बाद प्रकृत उपासना होती है । मूलाधार से आज्ञा तक चक्रमय और कलामय है । आन्तर इष्ट-पूजा का अधिकार यहीं तक है । आज्ञा भेद के साथ-साथ निष्कल की सूचना आती है । एकाग्र भूमि निरोध भूमि में प्रवेश होता है । कलायुक्त दशा न रहने पर भी उसका संस्कार तब भी रह जाता है । इसलिए यह ऊर्ध्व मार्ग निष्कल होने पर भी विशुद्ध निष्कल नहीं है—यहाँ दोनों का मिश्रण है । एकाग्र भूमि के बाद निरोध भूमि का सूत्रपात निष्कल के उन्मेष से ही पकड़ा जा सकता है ।

एकाग्र भूमि पर भ्रू में समग्र मन को पाया जा सकता है—फैला हुआ मन नहीं, संहत और करीने से रखा हुआ मन । चिन्तन करना होगा कि विक्षिप्त भाव अब नहीं है एवं एकाग्रता का उदय हुआ है । ध्येयवस्तु का आकार या भाव लेकर मन ही तब प्रकाशमान होता है । यही प्रकाश ही ज्ञान या प्रज्ञा का स्वरूप है । वस्तुतः यह मन की वृत्ति है—पर मन उस समय एक में आलम्बित होने के कारण अब उसमें विक्षेप नहीं है । अनन्त महाकाश में सूर्य के उदय होने पर जैसे एक मात्र सूर्य ही

दिखाई देता है, यह भी उसी तरह का है । गुरुशक्ति के प्रभाव से यह अवस्था में अतिक्रान्त हो जाता है—आज्ञाचक्र के भेद के साथ-साथ । एक मात्र मन को तोड़कर तब अर्द्ध मात्रा में परिणत होता है—मन की अतीत भूमि में जाने की यह पहली सूचना है । मन और मंत्र अभिन्न हैं, मंत्र और इष्ट देवता भी अभिन्न हैं । अब मन टूटकर भग्नांश में परिणत हो रहा है । क्रमशः मन का विकास सूक्ष्म से सूक्ष्मतर क्रम के अनुसार होता जा रहा है । अब इष्ट देवता के स्वरूप के भीतर से मानो निर्गुण गुरु स्वरूप का प्रकाश दिखाई दे रहा है । इष्ट देवता तो गुरु से अभिन्न हैं, सगुण, साकार जो निर्गुण, निराकार में ही आत्मप्रकाश करते हैं, यह प्रकट हो रहा है । यही जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति का अतीत तुरीय की सूचना है । अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण से अतीत महाकारण की सूचना है । इसी रास्ता के सहारे काल से कालातीत संचार होता है । भ्रू के भीतर आज्ञाचक्र के मध्यविन्दु में समग्र मन में काल का पूर्ण प्रकाश है । बाह्य जगत् में जो त्रिकाल अर्थात् अतीत है, अनागत और वर्तमान रूप में प्रकाश पाता है । उस वक्त अतीत और अनागत पृथक नहीं रहते—अनिरुद्ध प्रकाश वर्तमान के भीतर वर्तमान के रूप में अपनी सत्ता लेकर प्रकट होता है । देश भी उस वक्त पृथक-पृथक नहीं रहता । देशगत अनन्त व्यवधान, दूर-दूरान्तर के भाव उस वक्त दूर हो जाते हैं । आज्ञा का अन्तःस्थ प्रज्ञा के आलोक में, अनन्त देश और अनन्त काल नित्य वर्तमान और सन्निहित रूप से इष्ट देवता के साथ अभिन्न भाव में प्रकाशित होते हैं । इष्ट उस समय केवल विश्व का प्रतीक नहीं है, विश्व के आधारभूत अनन्त देश और अनन्त काल के भी प्रतीक हैं । एक हिसाब से यह कहा जा सकता है कि उस वक्त साधक विश्व के केन्द्र में स्थित हो गया है । आज्ञाचक्र का मध्यविन्दु ही जगत् का केन्द्र है । कारण यहीं से विश्व का नियंत्रण होता है । इष्ट की पूजा समाप्त हो जाने के बाद उस विश्व केन्द्र में इष्ट की सत्ता और बल से सत्ता और बल सम्पन्न होकर स्थिति लाभ किया जा सकता है । जागतिक ऐश्वर्य का यही परमाश्रय स्थल है ।

लेकिन यहाँ रहने से काम नहीं चलेगा । विश्व का अतिक्रम करना ही होगा । यही सकल, सगुण, साकार से निष्कल, निर्गुण और निराकार की ओर की यात्रा है । मन की एक मात्रा तोड़कर अर्द्ध मात्रा के क्रम में प्रवेश करने का यही उद्देश्य है । स्वरूपतः गुरु निर्गुण-निराकार हैं जबकि इष्ट संयोग से अभिन्न दृष्टि में वे फिर सगुण और साकार हैं । सर्वप्रथम जो गुरु-दर्शन है, वह यही सगुण साकार गुरु-दर्शन है । इसके बाद गुरुकृपा लब्ध मंत्र या इष्ट को प्रस्फुटित करने का कार्य होता है । इसकी वजह से मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त अवस्था से मन एकाग्रता प्राप्त करता है—साथ ही प्रज्ञालोक का उद्भासन होता है । यही है—इष्ट साक्षात्कार । इस अवस्था में मंत्र दर्शन होता है, मंत्र और देवता की अभिन्नता होती है, साथ ही साथ मन एकाग्र होता है । इसके बाद निर्गुण गुरु स्वरूप की ओर यात्रा प्रारंभ होती है । यह मार्ग षट्चक्र के ऊपर वाला मार्ग है, दिव्य अनुभूति का पथ । मन ही शुद्ध चैतन्य का आवरण है, यद्यपि जागतिक दृष्टि से मन ही चैतन्य का प्रकाशक जरूर है, कारण जगत् की ओर मन में प्रतिविम्बित चैतन्य ही को वृत्ति-ज्ञान रूप में पाया जाता है । विक्षिप्त

अवस्था भी वही है, एकाग्र अवस्था भी वही है । विशुद्ध चैतन्य की अनुभूति ही दिव्य अनुभूति है, उसके लिए मन के बाहर जाना पड़ता है ।

यहाँ दो अवस्थाएँ हैं । मन को तोड़ते-तोड़ते क्रमशः क्षुद्र (छोटा) करना पड़ता है । जिस अनुपात में मन की मात्रा कम होती है, ठीक उसी अनुपात में दिव्य चैतन्य का प्रकाश मात्रा अधिक होती है । इस प्रकार जितना दूर संभव हो सके मन के भग्नांश को बढ़ाना चाहिए । द्वितीय साष्टांग के बाद जो स्थिति होती है वही विन्दु है, तब मन की मात्रा एक न होकर आधा—अर्द्ध मात्रा हो जाती है । उस वक्त मन टूट जाता है, टूट जरूर गया है, किन्तु अर्द्ध मात्रा में । उसी अर्द्ध मात्रा में मन विशुद्ध चैतन्य को इस तरह प्रकाश करता है जैसा कि इष्ट साक्षात्कार या एकाग्र भूमि तो नहीं हो सका है ।

कहना न होगा कि यह रास्ता शब्दमय या नादमय है । अर्द्ध मात्रा या विन्दु भूमि से इस रास्ते का सूत्रपात होता है । जैसे-जैसे मन की मात्रा घटती रहती है, वैसे-वैसे अधिकतर उज्ज्वल रूप से चैतन्य का प्रकाश बढ़ता रहता है । भ्रूमध्य से ऊर्ध्व की ओर यह मार्ग प्रसारित है—यह उन्मनी की ओर धावित है । स्थूल साकार जगत् अधिकार किये हुए है । विक्षिप्त और एकाग्र स्थूल में काल के साथ संसृष्ट है। निरोध के मार्ग पर स्थूल काल नहीं है, किन्तु सूक्ष्म कालांश रहता है । जहाँ मन है, वहीं काल है । मन टूटना शुरू हो गया है, इसीलिए काल टूटते-टूटते सूक्ष्म होता जा रहा है । नाद की क्रमिक अग्रगति से ऐसा होता है । नव नाद तक नौ स्तर इसी प्रकार चलते रहते हैं । उन्मनी में जाने पर काल नहीं रहता—समनी में काल का सूक्ष्मतम परमाणु पकड़ में आ जाती है ।

कोई-कोई उन्मनी से इस काल परमाणु का सूत्रपात मानते हैं । एकाग्र भूमि में काल की मात्रा = १ । यह उसके ५१२वें हिस्से का एक हिस्सा है । वास्तव में मन, काल, नाद लगभग साथ-साथ समाप्त होते हैं । यह गुरु की अहेतुक महाकृपा साध्य है। वास्तव में समाप्त नहीं होता, समाप्त करना पड़ता है । मन का बल जिसका जहाँ है, समाप्ति उसका वहीं पर है, मन टूटने की प्रक्रिया की समाप्ति । वास्तव में यह टूटने की प्रक्रिया अनन्त काल तक चल सकती है । इसलिए इस राज्य का अन्त नहीं है । यहीं सदानन्दमयी योगमाया का राज्य है जो नित्य चिदालोक से आलोकित है । यहाँ टूटे मन का किंचित आभास मात्र है । उज्ज्वल, चैतन्य प्रकाशमान । यह अनन्त जरूर है—पूर्णता की ओर निरन्तर गतिशील, किन्तु पूर्ण नहीं है ।

पूर्ण में क्षीणतम रूप से काल, मन आदि की लीला नहीं रहती ।

(६)

श्रीगुरु का परमस्वरूप निर्गुण और निष्कल

योगमाया का अधिकार शुद्ध मनोराज्य तक है । उन्मनी में जाने पर विशुद्ध निष्कल पद का प्रकाश होता है । यही श्रीगुरु का परम स्वरूप है—निर्गुण और निराकार । यह मन के अतीत की स्थिति है । यहीं आत्मसाक्षात्कार होता है ।

गुरु-स्थान पर अगर नहीं गये तो आत्मा को पहचनवायेगा कौन ? यहाँ भी साष्टांग प्रणाम । यही तीसरा और चरम प्रणाम है । इसके बाद ही स्वरूप में स्थिति है ।

(७)

आत्मस्वरूप अखण्ड-पूर्ण सत्य

आत्मा ही स्वयं-पूर्ण आत्मस्वरूप—अखण्ड पूर्ण सत्य । वे सगुण, साकार से अतीत, निर्गुण, निराकार से भी अतीत हैं । फिर वही एक ओर सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार, सक्रिय, निष्क्रिय एवं सत्-असत् हैं । वही परम स्थिति है ।

मार्ग में रहने तक यह सब सोचने की बातें हैं । किन्तु वास्तव में यह चिन्तन से अतीत है । बुद्धि के द्वारा इसे पकड़ा नहीं जा सकता । अपकड़ को कौन पकड़ सकता है, अगर वे कृपा करके पकड़ में न आयें तो ? सर्वत्र एक क्रम है, किन्तु कहीं भी असली बन्धन नहीं है, कारण किसी भी क्षण अक्रम सत्ता प्रकट हो सकती है ।

निष्कल की प्रथम सूचना विन्दु में है । पूर्ण निष्कल = महाविन्दु । यही अखण्ड का आसन है । कारण अखण्ड सकल, सकल-मिश्र-निष्कल और शुद्ध निष्कल से भी अतीत जबकि सर्वमय है । वही पूर्ण सत्य है ।

रवीन्द्रनाथ की वलाका

एक अर्से से रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में कुछ आलोचना करने की इच्छा थी । बचपन में ही उनकी कवि प्रतिभा से मुग्ध होकर उन्हें भक्त-विनम्र हृदय की पूजा अर्घ्य समर्पित किया था । अज्ञात हृदय की वह नीरव-उपासना नीरव में उत्पन्न होकर नीरव में विलीन हो गयी । याद आ रही है, आज वही नव किशोर की कहानी—जब बाल्यावस्था समाप्त हो चुका था, पर यौवन का संचार नहीं हुआ था; उसी स्वप्नमय, आवेशमय, अर्द्ध प्रकाश, अर्द्ध छायामय वयःसंधिकाल में, रवि कवि की कल्पना रश्मिपात में, संध्यालोक के रागारुण आकाश मण्डल की तरह जीवन का आदर्श विचित्र रंग में रंजित हो उठा था । उन दिनों क्या देखता था, क्या समझता था, क्या सोचता था, आज ठीक उसी तरह से अनुभव करने का कोई उपाय नहीं है । मगर इतना याद है कि रवीन्द्रनाथ के काव्य मुकुर में अपनी आशा-आकांक्षामय अव्यक्त वेदना और आनन्द से भरपूर रहस्यपूर्ण जीवन के प्रतिविम्ब में प्रतिफलित होते देखा करता था । इसीलिए दिल में सनसनी पैदा होती, हृदय के निगूढ़ प्रदेश से न जाने कौन सा विचित्र प्रभाव प्राण के स्पन्दन में प्रस्फुटित हो जाता था । जिस अनन्त भाव की लीला देखते-देखते आजकल प्राण आत्महारा हो जाता है, और समय-समय पर मानो महाभाव में मग्न होकर सभी जीवों के अतीत परम अव्यक्त पद में स्थिति प्राप्त करता है, इसका प्रथम उन्मेष उन दिनों अनुभव करता था ।

जिनके कर-स्पर्श से हृदयतंत्री इस प्रकार झनझना उठती थी, उनसे जरा अच्छी

तरह परिचित होने के लिए मन में इच्छा उत्पन्न होती थी । मन में आता, एक बार उस शिल्पी का प्रकृत स्वरूप निरीक्षण करूँ जिनकी मोहन-प्रतिभा हृदय में इस प्रकार अपरूप इन्द्रजाल की अवतारणा करती है । जिस निगूढ़ केन्द्रस्थल से यह वैचित्र्यमयी सृष्टि की धारा स्वाभाविक उच्छ्वास से उच्छ्वसित हो उठता है, उस मर्मस्थान को देखने की इच्छा जगती थी । इसीलिए रवीन्द्रनाथ के भावराज्य का उत्स कहाँ है, अक्सर उसे खोजकर बाहर निकालने की इच्छा होती थी । किन्तु नाना कारणों से वह इच्छा कार्यरूप में परिणत नहीं हो पाता था । सामर्थ्य का अभाव और अवसर की कमी उनमें प्रधान थी । आज भी उन्हीं कारणों से रवीन्द्र-काव्य समालोचना करने का गुरु कार्य करने की जिम्मेदारी लेने की साहस नहीं कर पाता । अनेक योग्यतर व्यक्ति इस कठिन कर्त्तव्य का संपादन अंशतः कर चुके हैं और भविष्य में और भी लोग करेंगे । इसीलिए मेरे लिए इस जिम्मेदारी को लेने की आवश्यकता अनुभव नहीं करता ।

अपने कुछ स्नेहास्पद मित्रों के आग्रह और अनुरोध पर रवीन्द्रनाथ की भागवत वैशिष्ट्य सम्बन्ध में दो-एक बात संक्षेप में कहने को प्रवृत्त हुआ हूँ । कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य-समालोचना नहीं है । रवीन्द्रनाथ के काव्य ग्रंथों में—खासकर नैवेद्य के बाद वाले काव्य-साहित्य में उनकी जो विशिष्ट भावमूर्ति प्रकट हुई है, उस सम्बन्ध में किंचित आलोचना करना मेरा उद्देश्य है । उनके 'वलाका' नामक काव्य-संग्रह को लेकर उन्हें समझने का प्रयत्न करूँगा । किन्तु प्रसंगवश मूल वक्तव्य पदार्थ की परिस्फुटता के लिए आवश्यकतानुसार अन्यान्य ग्रंथों का भी उल्लेख रहेगा ।

+ \+ \+ \+

मनुष्य का पूर्व इतिहास क्या है ? जो अहन्त्व उसके भीतर प्रकट हुआ है अथवा विकासोन्मुख हुआ है, उसका प्रथम उन्मेष जब लक्षित नहीं हुआ था तब वह कहाँ था ? वह कौन सी अवस्था थी ? उसका स्वरूप कैसा था ? कवि कहते हैं—वह अव्यक्त पद है, वहाँ मैं-तुम का भेद नहीं है, अभेद भी नहीं है, जहाँ प्रकाश नहीं है, अंधेरा भी नहीं है, किसी प्रकार द्वन्द्व नहीं है, उसका मानवीय भाषा में वर्णन नहीं किया जा सकता । वही अनन्त अनजाना, जहाँ अपने आप में मग्न-ज्वार-भाटा के अतीत, संकोच-प्रसार के ऊर्ध्व में, शुभाशुभ के ऊपर वहीं नित्य पूर्ण सनातन रहस्य सदा विराजमान है । वहाँ दुःख नहीं है, आनन्द भी वहाँ लीला नहीं करता । वायु वहाँ नहीं बहती, काल का स्रोत वहाँ निस्तब्ध है, आधार-शक्ति वहाँ विलीन है । **'नाहि रात्रि दिनमान आदि अन्त परिमाण, से अतले गीत-गान किछु नाहि बाजे'** । उसी चिर नीरव गंभीर प्रशान्ति समुद्र में कौन-सा एक अनिर्वचनीय स्वभाव की प्रेरणा से एक दैव मुहूर्त में स्पन्दन हुआ ।

ज्योंही स्पन्दन हुआ त्योंही अव्यक्त गर्भ से 'मैं' का उदय हुआ । 'मैं' उठा, 'तुम' भी उठा—अव्यक्त अनन्त सत्ता द्विधा विभक्त होकर 'मैं-तुम' के रूप में बदल गया । अव्यक्त रूप में भगवान् अप्रकाश हैं, अहन्त्व के साथ-साथ वे स्वप्रकाश हुए । जबतक वे अपने आप में डुबकी लगाकर अकेला रहते हैं तबतक वे अपने को देखते

नहीं, किंवा जानते नहीं । यह एक प्रकार की निद्रा है । इसका भंग ही उनका आत्मपरिचय या आत्मबोध है—अर्थात् 'मेरी' की उत्पत्ति, साथ ही साथ महाशून्य में आनन्दमयी ज्योतिर्मयी सृष्टि की धारा बहने लगती है—

जे दिन तुमि आपनि छिले एका,
आपना के तो हयनि तोमार देखा ।
आमि एलाम, भांगल तोमार घूम,
शून्ये शून्ये फुट्ल आलोर आनन्द कुसुम ।

सुतरां एक हिसाब से कहा जा सकता है कि 'मैं' ही उसका स्वरूपगत नित्यानन्द आस्वादन का साधन है । मधु में माधुर्य रहने पर भी यदि उसका संभोग न हो, किंवा होने की संभावना न रहे तो उसे मधुर कहकर विशेषित करना निरर्थक है । उसी प्रकार उक्त अनन्त और पूर्ण वस्तु आनन्दस्वरूप होने पर भी जबतक वे आनन्द के आस्वादन में नहीं होते तबतक उन्हें रसवस्तु के रूप में धारण नहीं किया जा सकता। उपनिषद में है—'स एकाकी नारमत । तस्माद् द्वितीयमसृजत्' इत्यादि । एक अनन्त अद्वितीय सत्ता में जबतक स्वगत से द्वितीय का स्फुरण नहीं होता तबतक वह सत्ता अपने निकट स्वयं परिचित नहीं हो सकती, तबतक वह चैतन्य नाम के अयोग्य है । आदि तत्त्व के साथ इस नवोदित द्वितीया का जो लीला-विलास है, वही आनन्दरूपा सृष्टिधारा का उत्स है । संक्षेप में यही है सच्चिदानन्द भाव का रहस्य । यह जो नवोद्गत 'द्वितीय' है, कवि की भाषा में यही 'मैं' है । यह द्वितीय होने पर भी अनन्त से उद्भूत होने के कारण उससे अभिन्न है । कारण वही पूर्ण या अनन्त सत्ता ही 'मैं' के रूप में प्रकाशमान है—'मैं' उसी का ही आत्मप्रकाश है । इस अखण्ड विशुद्ध 'मैं' के निकट पूर्ण सत्ता उद्बुद्ध होकर जिस रूप में प्रकट होती है, वही 'तुम' है । अनन्त ही 'मैं' के रूप में आविर्भूत होकर 'तुम' के रूप में भासमान हो स्वयं का निरीक्षण करते हैं । जगत् में जितने सब 'मैं' हैं, वे 'विराट मैं' का ही व्यष्टि रूप है । उसी प्रकार 'तुम' भी जगत् में वस्तुतः एकाधिक वर्तमान नहीं हैं । सभी दृश्यों और ज्ञेय पदार्थों के अन्तर्देश में एक मात्र अखण्ड 'तुम' ही विद्यमान है।

'मैं' जीव, 'तुम' ईश्वर—दोनों परस्पर सापेक्ष हैं । जब हैं तब दोनों हैं । न रहने पर कोई नहीं है । एक मात्र अज्ञात रहस्य अपने में स्वयं छिपे हुए हैं ।

अव्यक्त रूप महासमुद्र मथित होकर जब इस प्रकार से जीवेश्वर विभाग होता है तब सृष्टि का विकास होता है, पृथ्वी पर स्वर्ग का जन्म होता है, इस शुभ मुहूर्त में अनन्त के गर्भ से अनन्त निहित पूर्ण सौन्दर्य और पूर्ण कल्याण रूप के भीतर से प्रकट होते हैं । एक का कार्य है तपस्या भंग करना, नवजात जीव उद्मना करना, नवबसन्त के मदिरा स्पर्श से उसके प्राण-मन को आकर्षित कर निरन्तर विक्षिप्त करना—

एक जन तपोभंग करि'
उच्चहास्य अग्निरसे फाल्गुनेर सुरापात्र भरि'
निये जाय प्राण मन हरि'
दू हाथे छड़ाये ता रे बसन्त पुष्पित प्रलापे,

रागरक्त किंशुके गोलापे,
निद्राहीन यौवनेर गाने ।

भीतर से बाहर ढकेलकर चारों ओर बिखेर देना ही इसका कार्य है । यह सौन्दर्य स्वर्ग की अप्सरा, विश्व कामना का श्रेष्ठ धन है । दूसरे का कार्य है विक्षिप्त प्राण-मन को बटोर लाना एवं शोक-दुःख के मंगलमय स्पर्श से वासना को संयत और शीतल करके जीव को सफलता और शान्ति देना । इसके साथ ही जगत् के साथ उसका आनन्दमय योगसूत्र स्थापित करना । यह मंगल-मूर्ति सकल विश्व की जननीरूपा और स्वर्ग की अधिश्वरी है । इन्हीं के कल्याणमय प्रभाव से जीव जीवन-मरण के अति पवित्र संगमस्थल में अनन्त के पूजा मन्दिर में स्थान प्राप्त करता है—

आर जन फिराइया आने
अश्रुर शिशिर स्नाने
स्निग्ध वासनाय;
हेमन्तेर हेमकान्त सकल शान्तिर पूर्णतायः
फिराइया आने ।
निखिल आशीर्वाद पाने ।
अंचल लावण्येर स्मित हास्य सुधाय मधुर ।

सौन्दर्य चंचल शोभामय, कल्याण स्थिर लावण्यमय, सौन्दर्य उग्र, कल्याण स्निग्ध, सौन्दर्य में वासना और कामना का उद्दीपन होता है, कल्याण में उसका उपशम होता है—एक का प्रवाह अन्तर से बाहर की ओर, अभेद से भेद की ओर, अपर का प्रभाव बाहर से भीतर की ओर, भेद से अभेद की ओर । बहिर्मुखी शक्ति के खिंचाव से जीव क्रमशः निष्फलता की ओर दौड़ता है, अन्तर्मुखी शक्ति की गोद में बैठकर प्रशान्ति और सिद्धि देती हैं । दोनों ही अनन्त की शक्ति हैं, अव्यक्त रूप योग-निद्रा भंग होने पर जब स्पन्दमयी विराट् महाशक्ति का विक्षोभ भी चलता है तब 'मैं-तुम' का रूप स्वप्रकाशमय, लीलामय, भेदाभेद भाव के प्रकट होने के साथ ही साथ महाशक्ति की भी अन्तर्गति और बहिर्गति अभिव्यक्ति प्राप्त करती है । मगर पहले स्वभाव के नियम से बहिर्गति जागती है, इसके बाद अन्तर्गति विकास प्राप्त करती है ।

अतएव जीव जब जीव रूप में जाग उठता है तब उसी समय से उसका भगवान् से विच्छेद प्रारंभ हो जाता है । यह विच्छेद ही सृष्टि का आदिम रूप है । प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि अनन्त विच्छेद शक्ति से ही 'मैं' भाव का प्रादुर्भाव होता है। इसीलिए जब काल स्रोत में सर्वप्रथम 'मैं' को अस्पष्ट प्रकाश में तैरते देखता हूँ तब इसे असहाय और विरही देखता हूँ । गोकि उस वक्त वह अपनी असहायता और विच्छेद के सम्बन्ध में सजग नहीं रहता । जीव का यह विच्छेद भी एक विचित्र घटना है । यह ऐकान्तिक नहीं है । कारण भगवान् आत्मगोपन करके सदा जीव के साथ वर्तमान हैं । सुतरां यह भी कहा जा सकता है कि अनन्त की मिलन से 'मैं' या जीव भाव का उदय होता है । वास्तविकता यह है कि विरह-शक्ति और मिलन-शक्ति कोई पृथक नहीं है । अव्यक्त्यावस्था में अहन्त्व का कोई चिह्न नहीं था, इसीलिए उस वक्त मिलन या विरह कुछ भी नहीं था । जब वहाँ 'मैं' का उदय हुआ तब एक ऐसी

अवस्था का आविर्भाव हुआ जिसे विरह भी कहा जा सकता है और मिलन भी कहा जा सकता है । वस्तुतः वह दोनों का बीज भाव मात्र है । जीव के साथ प्रच्छन्न रूप में भगवान् हैं, किन्तु उसका बोध जीव में नहीं है ।

इस बोध का आविर्भाव ही जीव का क्रम-विकास है । जीवभाव समग्र विश्व में फैल जाता है । रूप में-रूपान्तर में, जन्म में-जन्मान्तर में, सभी वैचित्र्य को भेद करके उसे मनुष्य तक चढ़ना पड़ता है । समग्र विश्व ही जीव के लिए उत्थान का सोपान है । पर मनुष्य भाव में न आने तक 'अहन्त्व' परिस्फुट होकर व्यक्तित्वरूप में वह परिणाम प्राप्त नहीं करता । व्यक्तित्व जगने के साथ-साथ अव्यक्त, अज्ञातरूप भगवान् की स्मृतियाँ जाग उठती हैं । तब याद आता है कि न जाने क्या उसका था, न जाने क्या खो गया है, मानो उसी की तलाश में वह अनादिकाल से निरुद्देश्य यात्रा कर रहा है ।

इसीलिए मनुष्य भाव में जीव का प्रथम विरह जगता है । यद्यपि पहले ही जगता है, ऐसी बात नहीं है । न जाने कितने जन्म बीत जाते हैं, कितनी अवस्थाएँ गुजर जाती हैं—एक दिन अचानक विलास मण्डप में, आराम शय्या पर वैराग्य की रागिणी बज उठती है, चिर परिचितों में भी अपरिचित का आकर्षण प्रबल हो उठता है, संपूर्ण अपरिचितों में चिरकाल का परिचय आत्मप्रकाश करता है । अतुल ऐश्वर्य के उपकरण उस वक्त बुभुक्षित मानव-हृदय की क्षुधा निवृत्त करने में समर्थ नहीं होता। इस अनन्त सुषुमापूर्ण धरणी की श्यामल शोभा, आकाश की कमनीय नील कान्ति, ग्रह-नक्षत्रों की उज्ज्वलता, शरद् का सूर्योदय, बसन्त की पूर्णिमा-निशीथ—सभी उसके हृदय में अभाव जगाते हैं, सभी उसे स्मरण कराते हैं कि वह प्रिय विरहित है । प्रकृति का विचित्र संगीत सुनते-सुनते उसका चित्त उदास हो जाता है । इस प्रकार विच्छेद-बोध पहले पहल आविर्भूत होता है । पर यह उसका विच्छेद है इसे वह समझ नहीं पाता । क्रमशः यह विच्छेद-वेदना गहरे से गहरा आकार धारण करता है, किन्तु तबतक विच्छेद का विषय पकड़ में नहीं आता । 'अचिन्हार पक्षी' अचिन्हार रह जाता है—सहस्र परिचय के भीतर भी अपरिचय का अवगुंठन एक दम उठता नहीं । न जाने कितनी बार, कितनी तरह, कितने रूपों के मध्य बिजली की चमक की तरह जीव क्षण भर के लिए अरूप का दर्शन जरूर करता है और कहता है—

ज्योत्स्ना निशीते, पूर्ण शशीते,
देखेछि तोमार घोमटा खसिते,
आँखिर पलके पेयेछि तोमाय लखिते ।

किन्तु क्षण भर बाद वह समझ जाता है कि अपकड़ को पकड़ा नहीं जा सकता । बेकार की कोशिश है—

तबु संशय जागे, धरा तुमि दिले की ?

वह अच्छी तरह देख नहीं पाता । यह सत्य है । वह शत शृंखला में शतधा विजड़ित है, इसे भी अस्वीकार करने का उपाय नहीं है । फिर भी इस जीव को देखने, पाने और गले से लगाने के लिए व्याकुलता दिखाता है—

आमार चोखे लज्जा आछे, आमार बुके भय ।
आमार मुखे घोमटा पड़े रय ।
देखते तोमाय बाधे बले, पड़े चोखेर जल,
ओगो आमार प्रभु
जानि आमि तबु
आमाय देखबे बले तोमार असीम कौतूहल,
नइले तो एइ सूर्य तारा सकलि निष्फल ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जिस दिन अव्यक्त गर्भ से इस अहन्त्व रूप ने जीवभाव में जन्म ग्रहण किया है, उसी दिन से निस्पन्द पक्ष में कम्पन पैदा हुआ, द्वन्द्वातीत महाशान्ति के ऊपर आनन्द और वेदना की लहर चल रही है, बसन्त के संचार से प्राण की उत्कण्ठा सजीव हो उठी है, संक्षेप में अनन्त अरूप 'मैं' के रूप में सुख-दुःख के बीच अपना परिचय प्राप्त कर चुका है ।

आमि एलेम, कांपल तोमार बुक,
आमि एलेम, एल तोमार दुख,
आमि एलेम, एल तोमार आगुन भरा आनन्द,
जीवन मरण तूफान तोला व्याकुल बसन्त ।
आमि एलेम, ताइत तुमि एले,
आमार मुखे चेये
आमार परश पेये
आपन परश पेले ।

मनुष्य में ऐसा कौन-सा वैशिष्ट्य है जिसके लिए अनन्त ऐश्वर्य के अधीश्वर को भी उसके निकट भिखारी बनकर हाथ पसारना पड़ता है ? मनुष्य का वास्तविक गौरव कहाँ है ? दीन-हीन अकिंचन के पास ऐसा कौन-सा 'गुप्त धन' है जिसका पता पाकर सम्राट् उसे प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठे हैं ? क्या अन्य जीवों में वह नहीं है? इसका उत्तर यों है—जगत् के सभी जीवों में यद्यपि अहन्त्व न्यूनाधिक परिमाण में है, तथापि वह विश्व प्रवाह के वेग को अतिक्रम कर परिस्फुटता अवलम्बन पूर्वक व्यक्तित्व रूप में परिणाम प्राप्त नहीं कर सका है । एक मात्र मनुष्य में वह व्यक्तित्व के रूप में विकसित होने की योग्यता प्राप्त कर सका है । जिस दिन मनुष्य में उक्त स्वरूप योग्यता वास्तव में विकसित होता है, वह दिन मनुष्य के लिए शुभ दिन है । उसी दिन से उसके नव-जीवन का सूत्रपात होता है ।

यह जो व्यक्तित्व है, यह भी भगवान् की देन है । अन्य जीवों को उन्होंने यह नहीं दिया है । गोकि उन लोगों को कुछ न कुछ उन्होंने दान दिया है । एक को जो दिया है, वह दूसरे को नहीं दिया । जिसे जो दिया गया, वह वही लेकर उनकी सेवा करता है । अन्यथा नहीं करता, कर भी नहीं सकता, किन्तु इस सेवा से भगवान् तृप्त नहीं होते । कारण इसमें स्वातंत्र्य नहीं है, केवल अंध नियमों की अनुवर्तिता मात्र है । एक मात्र मनुष्य ही भगवद्दत्त व्यक्तित्व की महिमा से इस नियम की

शृंखला को दूर कर सकता है । उसके लिए यह गौरव की बात है कि सचमुच वह भगवान् को ऐसा कुछ दान कर सकता है जो उसका अपना है, जो उसके लिए प्राप्त धन से अधिक महत्व का है । जिसे पाया जाता है, उसे अपना बनाकर पुनः उसे समर्पण करना—इसमें पाने की सार्थकता है । अन्य किसी जीव में इस तरह 'ममत्व' के द्वारा अपनाने की क्षमता नहीं है, इसीलिए अन्य जीव में निजत्व नहीं है । उन्हें जो कुछ मिलता है, ठीक-ठीक वही वापस कर देते हैं—उसे बढ़ाना या रूपान्तर कर देना उनके लिए संभव नहीं है ।

चिड़िया गा रही है, वह वही स्वभावतः दान कर रही है । मनुष्य चिड़ियों की तरह गा नहीं सकता, उसे स्वर मिला है, वह उस स्वर को तोड़कर गीत की रचना करने के बाद उन्हें समर्पित करता है । हवा को स्वाधीनता मिली है, वह स्वभावतः उनका नौकर है । मनुष्य को यह आजादी हासिल करनी पड़ती है । उसे उन्होंने शतबंधन में बाँध रखा है, किन्तु मौत के भीतर से उस बंधन-भार को एक-एक कर वह त्याग देता है और आगे बढ़ जाता है । धीरे-धीरे एक दिन ऐसा आता है जब वह बंधनहीन होने के कारण खाली हो जाता है—मुक्त हो जाता है । उस वक्त आजादी के साथ सेवा करने को अधिकार प्राप्त होता है । यही स्वाधीन-सेवा ही प्रेम की सेवा है । इससे मनुष्य को गौरव और भगवान् को तृप्ति मिलती है । पूर्णिमा हास्यमय है, सुख स्वप्नमय है—यही उसका स्वभाव है, इसीलिए वह आनन्द रस स्वभावतः वितरण करता है । किन्तु मनुष्य को उन्होंने दुःख दिया है—रोते-रोते मनुष्य उसी दुःख को आनन्द में परिणत करता है और मिलन के समय उसी आनन्द को भगवान् को निवेदन कर अपने जीवन को सार्थक करता है । यह संसार स्वभावतः सुख-दुःखमय है—मनुष्य का कर्त्तव्य है कि इस संसार को वह भगवान् के लिए स्वर्ग के रूप में निर्मित कर दे । उसका हाथ जरूर खाली है, पर इस खालीपन के अन्तराल में प्रच्छन्न रूप से भगवान् हँस रहे हैं । मनुष्य खाली हाथों से ही स्वर्ग का निर्माण करने में समर्थ होता है ।

दुःख की दुनिया से गुजरने के बाद मनुष्य का व्यक्तित्व बनता है । जो जैसा मूलधन पाता है, उसकी नींव पर अपने को विशिष्ट रूप से गठन करता है । उस वक्त वह स्वतंत्र हो जाता है और स्वतंत्र रूप से भगवान् को प्रेम दान करता है । यह प्रेम अमूल्य है—यह उपहार वे एक मात्र मनुष्य से ही प्राप्त कर सकते हैं । इसी के वे भिखारी हैं । यही है मनुष्य का 'गुप्तधन' । जो अतुल सम्पद के अधिकारी हैं, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड में जिनका अक्षुण्ण प्रताप अलंध्य प्राकृतिक विधान रूप में विराजमान है, जिनके मणिमय मुकुट के एक-एक छटा से संख्यातीत चन्द्र-सूर्य का उद्‌भव होता रहता है, जिनके कटाक्षपात से न जाने कितने जगतों का सृष्टि-संहार, काल-समुद्र के बुदबुद में उत्थान-पतन धारावाहिक रूप से हो रहे हैं, वे भी अपना रत्नमण्डित राजसिंहासन परिहार कर उस मधुर रस के लोभ में मधुलुब्ध भृंग की भाँति मनुष्य के पर्ण कुटीर में अतिथि भिखारी के भेष में आते हैं—

असीम धन त आछे तोमार
ताहे साध ना मेटे ।

निते चाओ ता आमार हाते
कणाय कणाय बेटे । (गीतमाला)

आर सकलेरे तुमि दाओ
शुधु मोर काछे तुमि चाओ ।
आमि जाहा दिते पारि आपनार प्रेमे,
सिंहासन ह ते नेमे
हासि मुखे वक्षे तुले नाओ
मोर हाते जाहा दाओ
तोमार आपन हाते ता र बेशि फिरे तुमि पाओ । (वलाका)

जिस दिन मनुष्य के हृदय में भगवत्-प्रेम जन्म लेता है, उसी दिन से भगवान् के साथ प्रेम होता है, मिलन होता है । इस मिलन का घटक प्रेम है—प्रेम ने ही जीव और भगवान् के हृदय को अच्छेद्य योग-सूत्र में बाँध रखा है ।

जो अपरिचित हैं, उसे क्या मनुष्य प्यार कर सकता है ? जरूर कर सकता है। अपरिचित से प्यार किया जा सकता है—कारण उसकी सीमा दिखाई नहीं देती । इसीलिए उसमें प्रेमिक हृदय में स्वतंत्र रूप से संचरण करने का अवकाश पाता है । जहाँ सीमा दिखाई देती है, वहाँ प्रेम नहीं रहता—जो रहता है वह माया की शृंखला, इन्द्रियों की पिपासा है । मगर जब सीमा के भीतर असीम प्रकट होता है तब सीमाबद्ध वस्तु भी सीमा खो देती है और प्राण को आकर्षित करती है । असीम अपरिचित—जीवन के प्रत्येक क्षण में वह जरूर परिचित हो रहा है, पर उस परिचय का अन्त नहीं है। यह जगत् शत-परिचय के बाद भी अपरिचित रह जाता है, इसकी चिर नवीनता कभी म्लान नहीं होती । फिर भी यह प्राण को मोहित करता है ।

असीम की सीमा नहीं है—सीमा के भीतर उसकी सीमा खोजने पर नहीं मिलती, इसीलिए उन्हें कभी पहचान लेना संभव नहीं होता । हो भी नहीं सकता । जीव नित्य नया परिचय प्राप्त करता है । अनन्त काल ऐसा ही चलता रहता है ।

पहचानने का अन्त जरूर नहीं है, फिर भी पहचान लिया जाता है । मनुष्य जो चाहता है, मनुष्य के मन का मनुष्य, उसकी साधना का धन, जीवन का आदर्श, आकांक्षित प्रेम और सौन्दर्य की छवि, अव्यक्त रूप में वह अनन्त के हृदय में छिपा रहता है । युग के बाद युग बीत जाते हैं, कितने जन्म गुजर जाते हैं, कितनी कठोर तपस्या करनी पड़ती है, कितनी परेशानी उठानी पड़ती है, काफी खोज करने पर भी वह उसे नहीं प्राप्त कर पाता । किन्तु अचानक एक दिन आकस्मिक रूप से वह उसके हृदय के आकाश में प्रकट हो जाता है । उस वक्त उसकी युगव्यापी साधना और परिश्रम निमिष मात्र में दर्शन से सार्थक हो जाता है । वही एक निमिष की मुस्कान उसकी चिर आशा की सफलता है ।

अनजाने को पहचानने के लिए जीवन की साधना है । अनजाना भी परिचय के लिए व्याकुल है । दुःख के रूप में, मृत्यु के रूप में वही तो आता है । कठोरता की मूर्ति धारण कर वही प्रकट होता है । हृदय का द्वार बन्द करके अहमिका के

घने अंधकार में मनुष्य निद्रामग्न रहता है । उस द्वार को तोड़ने के पश्चात् निर्मम रूप में अहंकार को चूर्ण कर भगवान् की कृपा हृदय में उज्ज्वल रूप में आविर्भूत होती है। उस समय हृदय आलोकित हो उठता है, बंधन खुल जाते हैं, मलिनता और भय दूर हो जाते हैं, नवीन-जीवन संचारित होता है, प्राचीन संस्कार नष्ट हो जाते हैं ।

दुःख ही भगवान् के आत्मप्रकाश का वास्तविक निर्देशन है । **'तुमि जे आछ वक्षे धरे, वेदना ताहा जानाक् मोरे'**—दुःख जता देता है कि भगवान् नित्य जीव के साथ हैं, उसका आलिंगन कर पकड़े हुए हैं । दुःख की मात्रा उनके आत्मप्रकाश की निविड़ता है । जब जीव सुख में रहता है तब उसे बड़ी सावधानी से रहना पड़ता है, कारण स्वेच्छाचार का वशवर्ती होकर चलने से उसमें विराग उत्पन्न होने की संभावना है । परन्तु जब वे जीव को दुःख में ढकेल देते हैं, चोट पहुँचाते हैं तब फिर सावधानी की आवश्यकता नहीं होती । उस वक्त बंधन कट जाते हैं—स्वाधीनता का उदय होता है जो प्रबल आत्माभिमान जीव को शत शृंखला में आबद्ध रखता है, उसके विलुप्त होने के साथ-साथ वह मुक्त हो जाता है । तब—

"देबार नेबार पथ खोलसा डाइने बांये ।"

उस वक्त समग्र जगत् जीव को पुकारता है—सभी उसे घर से अलग कर देते हैं । जीव तब फिर अपनी कल्पित सीमा रेखा में आबद्ध नहीं रह पाता, दुःख-दैन्यमय घोर अंधकार में, असीम-अनन्त मृत्यु-सागर में कूद पड़ता है । साधारण प्रेम ही माया है—उसमें जीव बद्ध होकर खोया-खोया रहता है । किन्तु जब वह उस मायाजाल से बाहर निकलता है तब वह लांछित, अपमानित, निःसंग होता हैं, उस वक्त फिर बंधन कहाँ है ? उस समय वह तूफानी हवा की तरह दौड़ने लगता है । अपने जोर से, अकेला चलता है, अनादर के खुले मैदान से गुजरता है । किन्तु यह अनादर ही वास्तव में भगवान् के 'चरण धुलाय रंगीन चरम समादर' है ।

जीव जीवभाव में जन्म ग्रहण कर केवल अपनी गर्भधारिणी को देख पाता है—बाहर के विश्व की ओर दृष्टि नहीं जाती, भगवान् के विराट् रूप को वह देख नहीं पाता । भगवान् का आदर आवरण विशेष है, इसका संभोग करने में प्रवृत्त होने पर ही जीव भगवान् को भूल जाता है, उन्हें जान नहीं पाता । दुःख, कष्ट, आघात—इस आवरण को तोड़कर चैतन्य का संचार करता है । विच्छेद बोध प्राण को सजग करता है, धक्का खाकर दूर आ जाने पर असाड़ता और मोहनिद्रा स्वभाव के नियम से दूर हो जाते हैं तब भगवान् की कृपा दिखाई देती है ।

इसलिए दुःख जो है, उनके अनुग्रह का निदर्शन है, इसे स्वीकार करना चाहिए । यह ठीक ज्वार के जल की तरह उनके निकट से स्वतः उच्छ्वसित होकर आता है । आकर सौन्दर्य मंडित इस जगत् में सर्वत्र उनका आभास दिखा देता है । उस वक्त जल, थल, नभ स्थल में, सर्वत्र उनकी पुकार सुनाई देती है । दक्षिण पवन, नव वसंत की वन श्री, मेघमुक्त नीलाकाश—उन्हीं की पुकार है । इस पुकार से जीव आकृष्ट होकर घर से विलग हो बाहर आ जाता है—मरणपथ पर, मुक्तिपथ पर, अपने को मिटा देने के पथ पर दौड़ जाता है । बाद में उनका साक्षात् दर्शन प्राप्त कर लेने पर बंधन का मूल कारण निवृत्त हो जाता है ।

जीव वधू है—प्राणप्रिय भगवान् मृत्यु रूप में, सर्वनाशी रूप में, उसके निकट वर बनकर आते हैं । घोर विपदा, आशा भंग, निष्फलता आदि उनके रुद्रभाव का आविर्भाव के चिह्न हैं । जीव का कर्त्तव्य है कि वह उन्हें पहचानकर, उन्हें सर्वस्व समर्पण कर उनका वरण करे । कुछ छिपाने से काम नहीं चलेगा । तब अहंकार चूर्ण होगा, उन्नत मस्तक उन चरणों पर नत होगा, घर में फिर सुख निद्रा के लायक स्तिमित प्रदीप नहीं जलेगा । किन्तु इसमें भय का कारण नहीं है । उस समय घर प्रबल अंधड़ की ताड़ना से रह-रहकर कम्पायमान होगा, इसमें चिन्ता कहाँ है ? निर्भीक हृदय से, अटल विश्वास से, अदम्य धैर्य के साथ बाहर निकलना होगा—मुक्तिपथ पर चलना होगा । गन्तव्य स्थान का निर्देश नहीं रहेगा, फिर भी चलना पड़ेगा । अपना आरामकुंज टूट गया, सोचने से काम नहीं चलेगा । यह सोचना पड़ेगा कि यह टूट कारा-भंजन है—फल है मुक्ति । जंजीर के टूटने से दुःख कैसा ?

बाहिर पाने छोटे ना, सकल दुःख-सुखेर शेष गो ।

सचमुच देह त्याग होने पर देहात्म बोध या अहंकार निवृत्त होने पर सुख-दुःख नहीं रहता । देह ही घर है, कारा-घर, उसके साथ जो कुछ संसृष्ट है, वह भी वही है । इसके चले जाने पर सुख भी जाता है, दुःख भी चला जाता है— "अशरीरं बाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" । यही मुक्ति है—बाहर दौड़ना ।

सुतरां जीवन का आदर्श आराम या शान्ति नहीं है, स्थितिशीलता नहीं है । भगवान् के निकट आराम की कामना करने से बढ़कर लज्जा का और कौन-सा विषय हो सकता है ? जिस दुःख के कारण उनका जय-जयकार होता है, गौरव घोषित होता है, अपनी पराजय होती है, अहंकार चूर्ण होता है, वहीं दुःख प्रार्थनीय है । जीव अपने मिथ्या कर्तृत्वाभिमान में अंधा होकर वास्तविक मालिक या प्रभु को भुला बैठा है, घर में आराम शय्या पर गर्व-सुख अनुभव कर रहा है । जो उसका चिर दिन का साथी है, जीव उसकी ओर दृष्टि नहीं डालेगा । इसीलिए भगवान् दया करके उसे चोट पहुँचाते हैं—उसी घर, अहंकार को नष्ट करने के लिए, उसे रुलाकर 'पथ का पथिक' बनाते हैं । दुःख की पीड़ा से वह जितना रोता है, उतना ही गौरव और महत्व उनके निकट प्रकट होता है । जीव का यह क्रन्दन-ध्वनि ही उनकी शंख-ध्वनि है—जय निर्घोष । जब यह शंख घर के फर्श पर उपेक्षित पड़ा रहता है तब घर में मुक्त वायु का संचार नहीं होता, विमल प्रकाश के उच्छ्वास नृत्य नहीं कर पाते—यही अवसाद की अवस्था है । इसका त्याग करके मंगल पथ की ओर अग्रसर होना चाहिए। पूजा की आकांक्षा, शान्ति की तृष्णा, हृदय के क्षत-निवृत्त की आशा, इष्ट वस्तु की अंकलिप्सा—इन सबका त्याग निर्मम भाव से करते हुए अग्रसर होना पड़ता है, फिर नव यौवन, नये उत्साह के साथ काम में जुट जाना चाहिए । प्रकृति के नियम से गहरी रात को यह उद्‌बोधन कार्य सम्पन्न करना चाहिए । उस समय फर्श पर पड़ा धूल धूसरित शंख उठकर बार-बार ध्वनित होता है । आँखों से निद्रा का आवेश कट जाता है । वक्षस्थल बार-बार आहत होता है, लम्बी सांसें निकलती हैं—यह सब शंखध्वनि के बाह्य प्रकाश हैं । इस अवस्था में जीव को सदा रणवीर वेश धारण करके रहना पड़ता है । तीव्र आघात के कारण चांचल्य या शैथिल्य न

हो, इस ओर ध्यान रखना चाहिए । सकल शक्ति, सकल ऐश्वर्य उन्हें समर्पित कर उनकी जय और अपनी पराजय स्वीकार करना पड़ता है, यही है शंख की ध्वनि । जबतक अहंकार पूर्ण रूप से निरुद्ध नहीं होगा तबतक यह संग्राम निवृत्त होने को नहीं है । अहंकार के अवसान से संग्राम समाप्त होता है । उस वक्त जीव दीन, सर्वस्व हीन, अकिंचन, राह का भिखारी बनकर पदार्पण करता है । भगवान् के अभय शंख को ग्रहण करना जीवन का आदर्श है । (वलाका, ४)

इसलिए दुःख का प्रत्याखान नहीं करना चाहिए । करने पर उसका महान् उद्देश्य निष्फल हो जाता है । इस दुःख के कारण जीव के निकट भगवान् अनेक बार प्रकट होते हैं । किन्तु जीव उनका स्वागत करने के बदले बार-बार वापस कर देता है । जीवन के प्रथम उषा में उनका आविर्भाव होता है, उनके संगीत में जीव का सुख-स्वप्न टूट जाता है । सुखमुग्ध जीव इसे पसन्द नहीं करता । यौवन के संचार से प्राण में जब प्रेम जगता है तब वे प्रेम का भिखारी बनकर आते हैं । किन्तु जीव सोचता है कि यह कार्य व्याघात कारक है । वह उन्हें प्रत्याख्यान कर देता है, फिर भी वे आते हैं । मृत्युदूत के रूप में, अस्पष्ट दुःस्वप्न की भाँति मशाल जलाकर वे पुनः आते हैं। जीव सोचता है—डाकू आया, दुश्मन आया । और वह अपने हृदय का द्वार बन्द कर देता है ।

इस प्रकार वे अनेक बार आते हैं । मगर हृदय का द्वार खुला न पाकर वापस चले जाते हैं । हृदय का द्वार बन्द करके जीव अंधेरे में बैठा रहता है, धीरे-धीरे समय गुजरता जाता है,. सभी दीप बुझ जाते हैं, आशा भंग हो जाती है, चारों ओर अंधेरा छा जाता है, उस समय बड़ा अकेलापन महसूस होता है । हृदय में अभाव बोध होता है, केवल उनके लिए, जिन्हें वह वापस कर चुका है । जो एक मोहनिद्रा भंग करने आये थे, एक दिन प्रेम का प्रत्याशी बनकर हृदय मांग रहे थे, दुःख रूप में हृदय को आलोकित कर दर्प चूर्ण करने आये थे—उस वक्त उनके लिए हृदय रोता है । उन्हें वापस बुलाने की इच्छा होती है । (वलाका, ४२)

सनातन-साधना की गुप्तधारा

(१)

जहाँ से जीव आया है, फिर वहीं उसे वापस जाना पड़ेगा । कुछ आस्वादन के लिए वह अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से आ गया है । किसने उसे भेजा है, यह कहा नहीं जा सकता । वह स्वयं अपने आप आया है, यह भी नहीं कहा जा सकता । किस उद्देश्य से आया है, यह भी वह नहीं जानता । जो कुछ जानता है, अस्पष्ट रूप से जानता है—हृदय के भीतर-भीतर जानता है ।

विरुद्ध शक्ति के क्षेत्र में आया है । पहले वह था स्व-स्वरूप में—किन्तु स्वरूप का बोध उसे नहीं था । बोध रहता तो आनन्द रहता । तब फिर वह नहीं आता, अर्थात् स्वरूप का बोध, सुतरां आनन्द-बोध था, किन्तु अस्पष्ट था । विरुद्ध-शक्ति की

धारा में वह स्पष्ट होता है । स्वरूप में दुःख भी है, आनन्द भी है । किन्तु दोनों के रहने पर आनन्द ही स्वरूप का आत्मभूत होता है, अनुकूल—दुःख उसके विपरीत और प्रतिकूल हैं । विरुद्ध-शक्ति इसीलिए दुःख प्रधान है । इसमें जीव जब आ गया तब आनन्द के लोभ से ही आया । मगर पाया उसने दुःख ही । आनन्द भी दुःखयुक्त, दुःखजनक, दुःखफलक है । भीतर अस्पष्ट रूप से आनन्द का आस्वादन था, इसीलिए वही स्मृति हुई उसका चालक ।

यह यात्रा जब समाप्त होगी तब पुनः स्वरूप की प्राप्ति होगी, वही आनन्द मिलेगा। उस वक्त क्या दुःख नहीं रहेगा ? रहेगा । न रहने पर आनन्द का आस्वाद कैसे पायेगा ? पर उस दुःख के मूल में भी आनन्द है, उसका फल भी आनन्द है—उसके भीतर भी आनन्द है ।

दुःख का भोग ज्योंही समाप्त होगा, त्योंही वह आनन्द भोग भी समाप्त होगा । दुःख बाह्य, आनन्द आन्तर—अब भीतर-बाहर के ऊर्ध्व में जाना पड़ेगा—ऐसे स्थान पर, जहाँ दोनों समान हैं । उसी का नाम रस है ।

पहले छोटा या अणु बनना पड़ता है । जब उसकी सीमा का लंघन होता है तब वह बड़ा हो जाता है, महान् हो जाता है । फिर महान् की सीमा का लंघन होता है । उस समय का जो भाव है, वही स्वरूप है, रस है । वहाँ छोटा भी दिखाई देता है, बड़ा भी दिखाई देता है—किन्तु वह अखण्ड रस की प्रकाश रूपी लीला है साथ-साथ द्रष्टा भी अभेद में है ।

(२)

अभाव के जगत् में आगमन होता है बाह्य भोग के लिए । यही संसार है । भोग है सुख या दुःख । मूल में किन्तु अभाव है । प्यास लगी है, पानी पी रहा हूँ—प्यास मिट गयी, किन्तु फिर लग गयी । भूख लगी है, अन्न ले रहा हूँ—भूख की निवृत्ति हो रही है, किन्तु फिर भूख लगी है । मानो अभाव समाप्त होना नहीं चाहता—लगा ही है ।

किन्तु यह दशा हमेशा नहीं रहती । क्रमशः अतृप्ति के प्रभाव से वैराग्य आने लगता है । जो अच्छा लगता रहा—लगता रहा—अब वह भी अच्छा नहीं लगता । कुछ भी अच्छा नहीं लगता । ऐसा लगता है जैसे सब अन्तवान हैं—सभी दुःख गर्भ में हैं । चारों ओर अरण्य लगता है, श्मशान मालूम पड़ता है, रेगिस्तान-सा लगता है। हृदय श्मशान जैसा हो जाता है । भीतर जो आर्द्रता (Moisture) थी, वह भी क्रमशः शुष्क हो जाता है । यही तीव्र वैराग्य है । यही वैराग्य ही ज्ञान की पूर्वसूचना है । जब जगत् के किसी भी चीज में आकर्षण नहीं रहता तब इस जगत् से विदा लेते समय आगत को लगभग समझ लेना पड़ेगा । प्रवृत्ति के अन्त में, संधि क्षण में, निवृत्ति का द्वार खुल जाता है, घर में वापस लौटने का समय आता है । घर की पुकार प्रबल हो जाती है । तब मार्ग प्राप्त होता है, किस पथ पर चलना है, उसका पता मिलता है । यही ध्रुव सत्य है ।

(३)

यह जो पथ है यही ज्ञान है, यही मंत्र है, यही शब्दब्रह्म है । इसका स्फुरण उस समय अवश्यम्भावी है । यही गुरुतत्त्व है । गुरु मानव नहीं, देवता नहीं, सिद्ध भी नहीं—जबकि सभी के भीतर से इसका प्रकाश हो सकता है । दूसरी ओर किसी के भीतर से न होकर स्वतः हो सकता है । चाहे जिस रूप में स्फुरण चाहिए ही । संसारावस्था में मनुष्य देहादि को 'मैं' कहकर समझता था । यह व्यक्त अज्ञान है । मनुष्य का शरीर इसके मूल अज्ञान से प्रसूत है । कारण स्थूल, सूक्ष्म—अज्ञान से ही होता है । जब ज्ञान का उदय होता है तब यह अज्ञान दूर होता जाता है । आगे संपूर्ण रूप से दूर हो जाता है । अज्ञान दूर होने का अर्थ है—देहादि-व्यतिरिक्त पृथक 'मैं' है, यह बोध । यह युक्ति विचारमूलक नहीं, अनुभव रूप है । अज्ञान दूर होने पर यह अपने आप प्रकट हो जाता है । अथवा यह प्रकाश पाते ही अज्ञान दूर हो जाता है । रात बीत जाने पर सूर्य उदय होता है या सूर्य के उदय होने पर रात्रि दूर हो जाती है ।

काया को आश्रय न बनाकर काया का आश्रय न लेने पर, अहंत्व-बोध नहीं रह सकता । संसार में प्राकृत काया को लेकर यह बोध रहता है—कारण को पकड़कर, सूक्ष्म को पकड़कर, स्थूल को पकड़कर । बाद में उसे स्थायी रूप से रखने के लिए एक स्थायी काया चाहिए । यह काया भौतिक काया नहीं, यहाँ तक कि वह प्राकृत या गुणमय काया भी नहीं—कारण ज्ञान का सम्यक उदय होने पर वह नहीं रह सकती । वह विशुद्ध काया है । 'मैं' जिस प्रकार चित् है, उसी प्रकार यह काया भी चिन्मय है । मैं स्वरूपतः चित्, साक्षी मात्र—यह काया ऐसे उपादानों से रचित है जो अत्यन्त निर्मल चिदालोक से सर्वदा आलोकित है । यह वस्तुतः चतुर्विंशति तत्त्व रूप प्रकृति का सार है । यही विशुद्ध-सत्त्व—विन्दु— महाकारण सत्ता है । यह कभी चित् से वियुक्त नहीं है । सत् चित् आनन्द का यही सत् या सत्त्व है । प्रकृति में भी सत्त्व है, किन्तु वह मलिन है । किन्तु यह अत्यन्त निर्मल है, इसीलिए यह रजोहीन और तमोहीन है । यह गुणहीन गुण है ।

जब शब्दब्रह्म आत्मप्रकाश करते हैं, जब मंत्रबीज या ज्ञानबीज वपन होता है तब वह कारण देह में होता है । जिस प्राकृत बीज से नरदेह का निर्माण हुआ है, वह मलिन है—उसमें अविद्या है । Original Sin (मौलिक दोष) है । किन्तु इस बीज में मलिनता नहीं है—यह शुद्ध बीज, अप्राकृत बीज, महाकारण बीज है । इस बीज के जो दाता हैं, उन्हें पिता कहा जाता है— "अहं बीज प्रदः पिता ।" यही गुरुत्व का रहस्य है । इस बीज वपन की प्रक्रिया ही दीक्षा का पदवाच्य है । इसका फल है द्वितीय जन्म, Regeneration, द्विजत्व की प्राप्ति । बाइबिल में है— Unless a Man is Born Again इत्यादि । उपनयन इसी का नाम है । यह केवल सामाजिक व्यापार नहीं है ।

जब महाकारण का बीज या ज्ञानबीज मनुष्य के कारण देह में पतित होता है तभी से मनुष्य का रूपान्तर कार्य आरब्ध होता है । जिस प्रकार अग्नि स्पर्श मात्र से

दहन आरंभ करती है, यह भी वही रूप है । मायिक देह नाना स्तरों में विभक्त है। इस प्रसंग की चर्चा नहीं करना चाहता ।

फुटकर

आपके द्वारा पूछे गये वर्णद्वय जिस स्वरूप के प्रतीक हैं, उसका उल्लेख तंत्रशास्त्र में है । अ = अनुत्तर । इसी का नामान्तर है अकूल । आ = आनन्द । इ = इच्छा। इत्यादि । परमपुरुष और परमाप्रकृति सर्वतोभाव से अभिन्न होकर अद्वैत तत्त्व रूप में जब स्थितिशील होते हैं तभी अनुत्तर दशा और जब परमपुरुष तथा पराप्रकृति परस्पर आलिंगित रूप में रसास्वादन करते हैं, वही आनन्द दशा है । इसे शास्त्रों में युगल भाव, मिथुन भाव, युगनद्धभाव, कमल भाव आदि नामों से निर्देश किया है । यह अनुत्तर या निर्विशेष अद्वय अवस्था न होने पर भी द्वैत अवस्था भी नहीं है । यही नित्य मिलन की स्थिति भाव है । शृंगाररस का यही केन्द्रभूत है ।

+ + + +

देहजय और चित्तजय के बारे में प्रशन किया गया है । इस प्रसंग में निर्माणचित्त और निर्माणकाय का स्वरूप और सम्बन्ध में आलोचना होनी चाहिए । सिद्धावस्था में चित्त और देह की पृथक सत्ता रहती है क्या ? रहने पर वह किस प्रकार से रहती है ? साधारणतः स्थूल और लिंगदेह में जो प्रार्थक्य है, वह प्रसिद्ध है । यद्यपि अभी दोनों देह जुड़े हुए हैं, तथापि वह एकीकृत नहीं है । इसीलिए मृत्यु होती है । अर्थात् स्थूलदेह से लिंगदेह अलग होते ही स्थूलदेह प्राणहीन—चेतनाहीन शवाकार में परिणत हो जाती है । उसी प्रकार लिंगशक्ति स्थूल में अनुप्रविष्ट होने पर जन्म होता है । किन्तु यदि किसी कौशल से दोनों की सत्ता को गलाकर मिलाया जा सके तो फिर पृथक-पृथक देह नहीं रहेगी । उस समय स्थूल और लिंग तीव्र संघर्ष से एकाकार हो जाते हैं । मृत्युंजय इसी का आनुषंगिक फल मात्र है ।

सुतरां चरम अवस्था में चित्तजय और देहजय अभिन्न हो जाते हैं । गोकि यह प्रथम अवस्था की बातें नहीं हैं । इसके लिए तांत्रिक-उपासना में भी भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि की अलग-अलग आवश्यकता है, देखा जाता है । पतंजलि और व्यासदेव ने निर्माणचित्त का जो मतलब बताया है, उदयनाचार्य ने न्याय कुसुमांजलि में निर्माणकाय शब्द में उसी वस्तु पर गौर किया है । बौद्धों का निर्माणकाय प्रसिद्ध है । त्रिकाय के बारे में अनेक ग्रंथों में चर्चा है ।

+ + + +

..........साधना के लिए परेशान न होकर स्वास्थ्य के प्रति यत्नशील रहो । यही मेरी प्रार्थना है । कारण शरीर स्वस्थ रहने पर साधना ज्ञानतः न करने पर भी गुरु-शक्ति के प्रभाव से साधना का फल संचय किया जा सकता है । जिस महाशक्ति की लीला स्वयं अपने को प्रकट करने के लिए उद्यत हुई है, वह किसी की बाधा या प्रतिबन्ध

स्वीकार नहीं करेगी । अनुरूप काल को प्राप्त कर लेने पर वह स्वतः सिद्ध रूप में प्रकट हो जायगी । उस समय देह-सम्बन्ध और उन्मुखता न रहने पर उसे धारण नहीं किया जा सकेगा । अतएव शरीर को स्वस्थ रखते हुए यथाशक्ति लक्ष्य की ओर मनोनिवेश करना अच्छा है । लक्ष्य ही उस समय क्रिया बन जायगा । अभिमान मूलक कर्म के द्वारा उस फल की आशा नहीं की जा सकती । वह निरभिमान दृकशक्ति के प्रभाव से क्षुब्ध प्रकृति की क्रियाशक्ति के द्वारा सम्भव होता है ।

+ \+ \+ \+

जगत् भेद करना या जगत् का अतिक्रमण करना, यही है शुद्ध चैतन्यावस्था की स्थिति । वर्तमान समय में चैतन्य-जड़ के साथ मिश्रित अवस्था में है । जड़-जगत् से चैतन्य को निष्कर्ष कर जगत् के ऊर्ध्व में ले जाने पर उक्त चैतन्य जड़-सम्बन्ध रहित शुद्ध चैतन्य आख्या प्राप्त करता है । वही ब्रह्म या शुद्ध प्रकाश या शिव है । वह विश्वातीत है । किन्तु यह चैतन्य समग्र का द्रष्टा के रूप में असंग भाव से सर्वातीत होकर विद्यमान है । इसमें जगत् के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा । इस चैतन्य में क्रियाशक्ति का उन्मेष होने पर एक ही क्षण में विश्वातीत होकर भी विश्वात्मक हो जाता है । क्रियाशक्ति के द्वारा ही सर्वाकार योगित्व सिद्ध होता है । यहाँ तक सिद्ध हो जाने पर विश्वातीत चैतन्य विश्वात्मक होकर प्रतिष्ठित होता है । यही है परमशिव की स्थिति ।

⁂

devaluation of the finite in the name of the Infinite. recipe for disaster Ego

3

म. म. पं. गोपीनाथ कविराज की अध्यात्मपरक कृतियाँ

भारतीय धर्म साधना * क्रम-साधना * अखण्ड महायोग * श्री साधना
श्री कृष्ण प्रसंग * शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी * दीक्षा
सनातन-साधना की गुप्तधारा * साधु दर्शन एवं सत्प्रसंग (भाग 1-2 व 3)
ज्ञानगंज * प्रज्ञान तथा क्रमपथ * परातंत्र साधना पथ
तन्त्राचार्य गोपीनाथ कविराज और योग-तन्त्र साधना
योगिराज विशुद्धानन्द प्रसंग तथा तत्त्व कथा
भारतीय संस्कृति और साधना (दो खण्ड)
अखण्ड महायोग का पथ और मृत्यु विज्ञान * स्वसंवेदन
भारतीय साधना की धारा * कविराज प्रतिभा * प्रभुदेव वचनामृत
तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि * तांत्रिक साधना और सिद्धान्त
तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन * काशी की सारस्वत साधना

मनीषी की लोकयात्रा : डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह
(महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज का जीवन दर्शन)

कविराजजी के गुरु तथा अन्य योगी-संत

योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव : जीवन और दर्शन
पुराण पुरुष योगिराज श्री श्यामाचरण लाहिड़ी * योगिराज तैलंग स्वामी
भारत के महान योगी (14 भाग : 7 जिल्द) * महाराष्ट्र के संत-महात्मा
बाबा नीब करौरी के अलौकिक प्रसंग * शिवस्वरूप बाबा हैड़ाखान
अघोरपंथ और संत कीनाराम * श्री श्री सिद्धिमाता * समर्थ रामदास
प्रकाश-पथ का यात्री * ब्रह्मर्षि देवराहा-दर्शन * सन्त रैदास
काशी के अध्यात्मवेत्ता विद्वान संन्यासी

विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो०बॉ० 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082
e-mail : sales@vvpbooks.com

Rs. 120.00
ISBN : 978-81-7124-610-6
9 788171 246106
www.vvpbooks.com

SVB Li
S.No.-
Subjec
Liter
Sub. C